# मंगल-वाणी

परमपूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
वीडियो प्रवचन पर अक्षरश शास्त्र

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

# मंगल वाणी

**पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के
नाईरोबी, दादर तथा परमागम मन्दिर में हुये शब्दशः वीडियो प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
**पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन**
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा ( राज. )

: प्रकाशक :
**श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले ( वेस्ट ), मुम्बई-400 056
फोन : ( 022 ) 26130820

: सह-प्रकाशक :
**श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट**
सोनगढ़ ( सौराष्ट्र ) - 364250
फोन : 02846-244334

**प्रथम संस्करण :** 1000 प्रतियाँ

वीर निर्वाण 2539 विक्रम संवत् 2070 ईस्वी सन् 2013

(प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन की जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर)

**ISBN No. :**

**न्यौछावर राशि :** 20 रुपये मात्र

**प्राप्ति स्थान :**

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट ( मंगलायतन )**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

## प्रकाशकीय

अनादि काल से जीव, अज्ञानभाव से जन्म-मरण करते हुये अनेक प्रकार के दुःखों को भोग रहा है। जीव ने उससे मुक्त होने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न भी किये हैं, तथापि वर्तमान में दुःख भोगता है, यह भी एक वास्तविकता है। सच्चा सुख क्या और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या—वह इस जीव को आज तक ज्ञात नहीं है। जन्म-मरण करने और उसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दुःख भोगना, क्षणिक सुख में रंजित होना और अन्ततः देह से देहान्तर करके भव भ्रमण चालू रहना, यह इसकी परम्परा रही है। ऐसी परिस्थिति में जीव को सच्ची दिशा बतलानेवाले सद्गुरु का अपूर्व योग ही बचा सकता है और दुःख से मुक्त कर सकता है, यह भी समझा जा सकता है।

वर्तमान विषमकाल में किसी महान उत्कृष्ट पुण्ययोग से ऐसे महान अजोड़ और दिव्य कृपामूर्ति, करुणासागर **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** का अपूर्व योग हम सभी को प्राप्त हुआ है। पूज्य गुरुदेवश्री ने ऐसे निकृष्ट काल में सत्य की खोज शुरु करके सत्य को शोधा और हम सबको निष्कारण करुणा से सत्य परोसा, सत्य का स्वरूप समझाया। दुःख का मूलभूत कारण और उससे छूटने का उपाय, सच्चा सुख और उसका स्वरूप समझाकर अत्यन्त—अत्यन्त कृपा बरसायी है। उनके कृपामृत का क्या कहना! उनकी निष्कारण करुणा को शब्दों में सीमित करने से उनकी कृपा का माप नहीं निकलता, तथापि उपकारबुद्धिवशात् आपश्री की अनन्त करुणा को शब्दों में गाने का मन ही निश्चित ही हो जाता है।

आपश्री के उपकार का बदला चुकाना असम्भव तथा अशक्य है, तथापि जिन्होंने मूलस्वरूप समझाया, दर्शाया और निष्कारण करुणा से भीगे हुए हृदय से गाँव-गाँव में दिव्यध्वनि के मेघ बरसाये—ऐसे पूज्य गुरुदेवश्री के गुणगान करने के लिये हृदय पुलकित हो ही जाता है। जहाँ आत्मा शब्द का कोई नाम भी नहीं लेता था, वहाँ आज आपश्री की कृपादृष्टि से गाँव-गाँव में आत्मा शब्द गुंजायमान हो गया है, इतना ही नहीं; अनेकानेक सत्य के पिपासुजीव उस आत्मा शब्द के वाच्य तक पहुँचने हेतु प्रयत्नवन्त हुए हैं।

समयसार आपश्री के जीवन का अनिवार्य अंग है, क्योंकि समयसार हाथ में आने के पश्चात् ही आपश्री ने अशरीरी निजात्मा का स्वरूप दर्शन किया और उसके एक-एक पद में समाहित अमृत को घोल-घोलकर पान किया और लोगों को भी उसका पान कराया। समयसार अशरीरी होने का शास्त्र है। यह बात उन्होंने अनुभवसिद्ध करके, उस अनुभव की जो धारा बही, उसे भव्य जीवों पर्यन्त निष्कारण करुणा से प्रवाहित की। उस अनुभव सरिता का रसपान करके इस मंगल वाणी को सार्थक करनेवाले एक बेजोड़ आत्मा का जन्म हुआ और वह है, **प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन**। इस पवित्र आत्मा ने गुरुदेवश्री की अनुभववाणी के वाच्य तक पहुँचकर अनन्त भव छेद डालनेवाले सम्यक्त्व को प्राप्त किया। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावना उदय के सुमधुर क्षणों में से यह एक मंगल क्षण है कि जिसमें यह अपूर्व आत्मा, भव का अन्त लाया और पूज्य गुरुदेवश्री की अनुभववाणी को सार्थक किया।

पूज्य गुरुदेवश्री ने समयसार का व्यक्तिगत स्वाध्याय तो अनेकानेक बार किया ही है परन्तु प्रसिद्धरूप में भी उन्नीस बार पढ़कर उसके अपूर्व न्याय को खोल-खोलकर अमृत की वर्षा की है। हिन्दुस्तान में तथा विदेश में भी इस समयसार के सन्देश पहुँचाये हैं। उसके फलस्वरूप नाईरोबी में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर हुए समयसार के प्रवचन तथा बहिनश्री के वचनामृत के प्रवचनों को **मंगल वाणी** पुस्तक में प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नाईरोबी में हुए अठारह प्रवचनों के उपरान्त पूज्य गुरुदेवश्री के परमागम मन्दिर सोनगढ़ में श्री समयसार की 320 गाथा तथा दादर में रिकार्ड किये गये वीडियों प्रवचनों को भी अवतरित किया गया है। नाईरोबी में हुए प्रवचनों को सर्व प्रथम बार श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर द्वारा प्रकाशित किया गया है, उसमें से भी इन प्रवचनों को तथा दादर में हुए प्रवचनों को अवतरित किया गया है।

मंगल वाणी ग्रन्थ का प्रकाशन श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा संयुक्त रूप से किया जा रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री का हृदय, उनके वचनों में रहा हुआ है। आपश्री के प्रवचन शब्दशः प्रकाशित करके वर्तमान में समाज तक पहुँचाने का सद्भाग्य हमें प्राप्त हुआ, वह पूज्य गुरुदेवश्री की ही कृपा दृष्टि का फल है....

मंगल वाणी के प्रकाशन प्रसंग पर समयसार के जन्मदाता श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव के चरणों में वन्दन करते हैं तथा कुन्दकुन्दामृत का रसपान करानेवाले कृपामूर्ति अनुभव चिन्तामणि पूज्य गुरुदेवश्री के सातिशय उपकार को हृदयगत करके उनके चरणों में वन्दन करते हैं। प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन की उपकार स्मृति हृदयपट में अंकित करके उनके चरणों में वन्दन करते हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन में जो प्रवचन प्रकाशित किये गये हैं, उनमें जहाँ वाक्य अधूरा रहा हो, वहाँ वाक्य रचना पूर्ण करने के लिये कोष्ठक भरा गया है। इसका पाठकवर्ग ध्यान दें तथा कहीं भी किसी भी प्रकार की क्षति रह गयी हो तो जिनवाणी माता, तथा देव-शास्त्र-गुरु से क्षमा चाहते हैं।

इन प्रवचनों का हिन्दी में प्रस्तुतिकरण पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए ..... के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। इसके अलावा सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करते हैं।

सभी साधर्मी मुमुक्षु समाज, **'मंगल वाणी'** का पूरा-पूरा लाभ ले और जन्म-मरण से मुक्त हो – ऐसी पवित्र भावना के साथ विराम लेते हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन www.vitragvani.com पर भी उपलब्ध है।

ट्रस्टीगण, **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई**
एवं
**श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़**

# अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

## ( संक्षिप्त जीवनवृत्त )

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

**शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।**

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

**का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य

विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी

सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त,

निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

# प्रवचन अनुक्रमणिका


| प्रवचन क्रमांक | समयसार गाथा | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| 01 | गाथा-6 | 004 |
| 02 | गाथा-11 | 024 |
| 03 | गाथा-14 | 045 |
| 04 | गाथा-15 | 065 |
| 05 | गाथा-15 | 082 |
| 06 | गाथा-17-18 | 102 |
| 07 | गाथा-17-18 | 121 |
| 08 | गाथा-17-18, 31 | 137 |
| 09 | गाथा-38 | 158 |
| 10 | गाथा-38 | 174 |
| 11 | गाथा-14, दादर मंदिर | 190 |
| 12 | गाथा-320, दादर मंदिर | 200 |
| 13 | गाथा-320, परमागम मंदिर | 209 |
| **मंगल वाणी** | | |
| **प्रवचन क्रमांक** | **वचनामृत** | **पृष्ठ संख्या** |
| 01 | 13 से 20 | 223 |
| 02 | 21 से 25 | 242 |
| 03 | 26 से 30 | 261 |
| 04 | 31 से 33 | 279 |
| 05 | 36 से 39 | 299 |
| 06 | 47 से 50 | 318 |
| 07 | 51 से 56 | 337 |
| 08 | 412 एवं 413 | 355 |

ॐ

श्री परमात्मने नमः

# मंगल वाणी

**अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के नाईरोबी में हुए श्री समयसारपरमागम की विभिन्न गाथाओं पर प्रवचन**

## गाथा–6

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत् ह्न

**ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।**
**एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।।6।।**

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः।
एवं भणन्ति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव।।6।।

यो हि नाम स्वतः सिद्धत्वेनानादिरनन्तो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स सन्सारावस्थायामनादिबन्धपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभाव–निरूपणया दुरन्तकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्तमा–नानां पुण्यपापनिर्वर्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणम–नात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवति।

एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते।

न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वं, यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव।।6।।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है जिसका स्वरूप जानना चाहिए? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं–

नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायक भाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है॥6॥

गाथार्थ : [यः तु] जो [ज्ञायकः भावः] ज्ञायक भाव है वह [अप्रमत्तः अपि] अप्रमत्त भी [न भवति] नहीं और [न प्रमत्तः] प्रमत्त भी नहीं है; [एवं] इसे शुद्ध [भणंति] कहते हैं; [च यः] और जो [ज्ञातः] ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ [सः तु] वह तो [स एव] वही है, अन्य कोई नहीं।

टीका : जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (किसी से उत्पन्न हुआ न होने से), अनादि सत्तारूप है, कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनन्त है, नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसार की अवस्था में अनादि बन्धपर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीरनीर की भाँति कर्मपुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो दुरन्त कषायचक्र के उदय की (–कषायसमूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश से प्रवर्तमान पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभभाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता) इसलिए वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।

और जैसे दाह्य (–जलनेयोग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ वह स्वरूपप्रकाशन की (स्वरूप को जानने की) अवस्था में भी, दीपक की भाँति, कर्ताकर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है–स्वयं जाननेवाला है इसलिए स्वयं कर्ता और अपने को जाना इसलिए स्वयं ही कर्म है। (जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है, और अपने को-अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसी प्रकार ज्ञायक का समझना चाहिये।)

भावार्थ : अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। उसमें मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है, वही है और पर्याय (अवस्था)–दृष्टि से देखा जाए तो मलिन ही दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्वमात्र है और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायदृष्टि से देखा जाए तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाए तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है; वह कहीं जड़त्व नहीं हुआ। यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है। जो प्रमत्त–अप्रमत्त के भेद हैं, वे परद्रव्य की संयोगजनित पर्याय है। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है; द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है। इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं है, इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है, क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है, तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ, वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है। 'यह जो मैं जाननेवाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं' – ऐसा अपने को अभेदरूप अनुभव हुआ, तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसे जाना, वह कर्म भी स्वयं ही है। ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र शुद्ध है। – यह शुद्धनय का विषय है। अन्य जो परसंयोग जनित भेद है, वे सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धनय की दृष्टि में पर्यायार्थिक ही है, इसलिए व्यवहारनय ही है – ऐसा आशय समझना चाहिए।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जाए, क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता – दोनों वस्तु के धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तु का सत्व है; अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है। अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है; जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न होता है, तब संसार छूटता है और क्लेश दूर होता है। इस प्रकार दुःख मिटाने के लिए शुद्धनय का उपदेश प्रधान है। अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से

**यह न समझना चाहिए कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है, ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है; इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का आलम्बन लेना चाहिए। वस्तुस्वरूप की प्राप्ति होने के बाद शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है वह है – यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है। इस प्रकार निश्चय करना योग्य है।**

**यहाँ, (ज्ञायकभाव) प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है ऐसा कहा है। वहाँ प्रमत्त-अप्रमत्त अर्थात् क्या? गुणस्थानों की परिपाटी में छठे गुणस्थान तक तो प्रमत्त और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहलाता है, किन्तु यह सब गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी में हैं; शुद्धनय से तो आत्मा ज्ञायक ही है।**

## प्रवचन–1, गाथा–6

यह 'समयसार' एक सिद्धान्त है। इसकी रचना दो हजार वर्ष पहले 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने की है। ये कुन्दकुन्दाचार्य, महाविदेह में गये थे, वहाँ आठ दिन रहे थे, वहाँ साक्षात् भगवान विराजते हैं, 'सीमन्धर भगवान'! उनको सुनकर और (वहाँ से) आकर यह शास्त्र रचा है; इसलिए यह वीतराग की ही वाणी है। आहा...! सूक्ष्म पड़ती है (परन्तु) अपूर्व बात है! अनन्त काल में आत्मा शुद्ध चैतन्य क्या है? उसकी इसे खबर नहीं है।

अपने यहाँ (छठी गाथा का) भावार्थ (लेते हैं)। यह आत्मा वस्तु है, यह तो निर्मल (है)। जिस प्रकार पानी शीतल है अथवा जिस प्रकार स्फटिकमणि! स्फटिकमणि स्वच्छ है। हमने तो स्फटिकमणि देखा है। इतना स्फटिकमणि देखा है, 'जामनगर' में! इतना बड़ा स्फटिकमणि! सफेद महाकीमती! 06 लाख रुपये में। वहाँ एक सोलेरियम है; उसमें इतना (स्फटिक देखा है)। वह सफेद स्फटिक होता है। इसी प्रकार आत्मा सफेद अर्थात् शुद्ध निर्मल आनन्दकन्द है। परन्तु जिस प्रकार उस स्फटिक के लाल, पीला, और काले फूल का संयोग होने पर अन्दर लाल, पीली, काली, झांई दिखती है, वह स्फटिक की उपाधि है; वह स्फटिक का स्वरूप नहीं है। न्याय समझ में आता है? हमने तो सब देखा है। इतना बड़ा स्फटिक! छह लाख का एक। 'जामनगर' में सोलेरियम है। बड़ा डाक्टर (था)। यहाँ तो

यह सब डाक्टर और राजा और सब (हमें तो) सुनने आते हैं। रंक और राजा – सभी सुनने आते हैं। बड़ा डाक्टर! उसका उस समय ढाई हजार का मासिक वेतन था। वह कितने वर्ष पहले की बात..... वहाँ पहले स्फटिक देखा था, सफेद! सफेद!

**'जैसे निर्मलता है स्फटिक की,**
**जैसे निर्मलता है स्फटिक की,**
**वैसे ही जीव स्वभाव रे,**
**श्री जिन वीर ने धर्म प्रकाशा,**
**श्री जिन वीर ने धर्म प्रकाशा,**
**प्रबल कषाय का अभाव रे।'**

जैसे, स्फटिकमणि में जो लाल और पीली झांई दिखायी देती है, वह स्फटिकमणि में उपाधि है, वह स्फटिकमणि का स्वरूप नहीं है; इसी प्रकार भगवान आत्मा, देह में भिन्न चैतन्यमूर्ति विराजमान है। वह स्वयं शुद्ध और पवित्र है परन्तु जैसे स्फटिक को लाल, पीला (फूल के) संयोग से लाल, पीला झांई दिखायी देती है; इसी प्रकार **'अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है।'** भावार्थ! पहली पंक्ति का अर्थ! आहा...हा...! भगवान तो स्फटिकमणि जैसा शुद्ध चैतन्यघन है। इसने कभी सुना नहीं। यह अन्दर चैतन्य प्रभु क्या है? जैसे स्फटिकमणि है, वैसे ही स्फटिकमणि जैसा चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु है, परन्तु उसे जैसे लाल, पीले फूल के संयोग से झांई दिखायी देती है, ऐसे यह भगवान आत्मा शुद्ध, निर्मल, आनन्दकन्द हैं।

**अशुद्धता, परद्रव्य के संयोग में आती है।** जिस प्रकार फूल के संयोग के कारण स्फटिक में लाल, पीला दिखायी देता है; इसी प्रकार कर्म के निमित्त से आत्मा में पुण्य और पाप के, दया और दान के, व्रत और भक्ति के, काम और क्रोध के विकारीभाव (होते हैं)। यह अशुद्धता, परद्रव्य के संयोग से-सम्बन्ध से आती है। सूक्ष्म बात है, भगवान!

है पहला शब्द? **अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है।** जिस प्रकार स्फटिक में परद्रव्य के संयोग से लाल, पीली झांई दिखायी देती है; इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य प्रकाश के नूर का पूर – तेज का पूर अन्दर है! अरे...! कैसे बैठे? अन्दर में भगवान आत्मा

चैतन्य के नूर का-तेज का पूर है परन्तु उसकी पवित्रता भूलकर, अनादि से पर्याय में अशुद्धता, परद्रव्य के संयोग से आती है। समझ में आता है इसमें? उसका यह स्वभाव नहीं! परन्तु परद्रव्य के संयोग से अनादि से इसमें मलिनता (अर्थात्) पुण्य और पाप (के भाव) और मिथ्या भ्रान्ति (अर्थात्) पर में सुख है, पर के कारण मुझे मजा आता है – ऐसी यह मूढ़ता, मूर्खता, यह अशुद्धता, परद्रव्य के संयोग के सम्बन्ध से जानने में आती है।

**...मूल द्रव्य तो...** है? जो मूल वस्तु है, वह तो स्फटिकमणि जैसी (शुद्ध है)। **'...(मूल) द्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप होता ही नहीं...'** यह वस्तु स्वयं है, वह किसी अन्यरूप होती नहीं। इसकी पर्याय में-अवस्था में विकारपना जानने में आता है, वह कर्म के निमित्त की उपाधि है, उसका स्वभाव नहीं। आहा...हा...! यह (मूल द्रव्य) अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। स्वद्रव्य चेतन, स्फटिकमणि जैसा आत्मा-भगवान, वह अन्य द्रव्यरूप या रागरूप यह आत्मा स्वयं नहीं होता – द्रव्य नहीं होता। **....मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था...** सूक्ष्म बात है, भगवान! परद्रव्य के निमित्त से, हों! परद्रव्य के कारण नहीं। परद्रव्य के कारण आत्मा में विकार नहीं; विकार तो जीव स्वयं को भूलकर... 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया!' स्वयं स्वयं को भूलकर, सच्चिदानन्द प्रभु! को भूलकर पर्याय में पर के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है।

**द्रव्यदृष्टि से तो...** परन्तु यदि वस्तुदृष्टि से देखें तो **...द्रव्य जो है, वह ही है...** स्फटिकमणि की तरह यह चैतन्यमूर्ति का रत्न आनन्दकन्द ही है। यह तो पर्याय में पर के निमित्त से उपाधि दिखायी देती है। समझ में आता है... भाई? सूक्ष्म बात है, प्रभु! तेरी बात ही बड़ी है, प्रभु! अन्दर बड़ा भगवान है, परमात्मा है! अरे...! आ...हा... हा...! यह 38 गाथा में आता है, नहीं? 38 गाथा में! अपने परमेश्वर को भूल गया है। 38 गाथा है, इसकी (समयसार की) 38 (गाथा)। पीछे आता है न। है इसमें? 38 में है। देखो! **...अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्य के धारक) आत्मा को भूल गया था...** है इसमें? पाँचवीं-छठी लाईन। है इसमें? पाँचवीं-छठी लाईन! अपने परमेश्वर को भूल गया था। आहा...हा...हा...! स्वयं परमेश्वर है, प्रभु! परन्तु तुझे नहीं बैठता (क्योंकि) अनादि काल से रंकपना भासित है न! अपने परमेश्वर को भूल गया! अपने परमेश्वर को भूल गया!! है न इसमें?

परमेश्वर स्वयं (अर्थात्) परम-ईश्वर! अनन्त-अनन्त गुण (हैं), इसमें एक 'प्रभुता' नाम का गुण है। थोड़ी बात होती है, भाई! थोड़ी-थोड़ी... बहुत सूक्ष्म बात यहाँ पकड़ में नहीं आती। यह प्रभुता नाम का एक गुण है, यह ईश्वर है। ऐसा प्रभुत्व गुण जो है, ऐसे आत्मा में अनन्त गुण हैं। उसमें एक 'प्रभुत्व' नाम का गुण है कि जिस गुण के कारण अनन्त गुणों में ईश्वरता और प्रभुता आयी है।

यह क्या कहा? आत्मा में संख्या से अनन्त-अनन्त गुण हैं, उसमें एक प्रभुत्व नाम का गुण है। जैसे, ज्ञानगुण है-जानना, देखना, आनन्द (है), ऐसे ही प्रभुता नाम का – ईश्वर नाम का एक गुण-शक्ति है। आत्मा में ईश्वर नाम की एक शक्ति है – स्वभाव है – सामर्थ्य है। वह ईश्वर नाम की शक्ति से अनन्त गुण को प्रभुतारूप से देखती है। अनन्त गुणों में प्रभुता भरी है। आ...हा...हा...! अरे...! ऐसा आत्मा! यह परमेश्वर, अपना परमेश्वर (है), इसको भूल गया है।

यहाँ यह कहते हैं। **द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है, वह ही है...** यदि वस्तु से देखो तो जो है, वही है। उसकी पर्याय में परद्रव्य के संयोग से मलिनता दिखायी देती है, वह उपाधि है। वह वस्तु की (वास्तविक) स्थिति नहीं है। **...और पर्याय (अवस्था) दृष्टि से देखा जाए तो...** (अर्थात्) वर्तमान दशा-अवस्था से उसको देखें तो.... है? **(देखा) जाए तो,** है न? **मलिन ही दिखायी देता है।** वस्तु से देखो तो वह निर्मलानन्द है। पर्याय-अवस्था से देखो तो वह मलिन दिखता है। आ...हा...! यह दो इसके रूप हैं! सूक्ष्म बात है, भाई!

**इस प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्व मात्र है...** आत्मा का स्वभाव तो जानना (है)। चैतन्यमूर्ति! चैतन्य का प्रकाश! स्पष्ट चैतन्य ज्योति, प्रत्यक्ष स्वरूप अनुभव में आये ऐसा जो स्वभाव है। द्रव्यदृष्टि से देखो तो ऐसा है। **...ज्ञायकत्व (मात्र) ही है और उसकी अवस्था पुद्गल कर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है।** जैसे इस स्फटिक में फूल के निमित्त से लाल, पीली, झांई दिखायी देती है, इसी प्रकार इस भगवान आत्मा में कर्म के निमित्त से, अनादि से पर की ओर के लक्ष्य से, राग और द्वेष, विकार और पुण्य और पाप की वासना दिखती है। (परन्तु) यह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। पर्याय – अवस्था से देखें तो मलिन है। वस्तु से देखें तो प्रभु, परमेश्वर है। आ...हा...हा...! भगवानजीभाई! ऐसी बातें अब! इसको किस गज से माप करना? **...वह पर्याय है।**

**पर्यायदृष्टि से देखा जाए तो मलिन ही दिखायी देता है, और द्रव्यदृष्टि से देखने पर...** वस्तु (दृष्टि से) देखा जाए **...तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है...** ज्ञायक, आनन्द, वह आनन्द ही है, जाननेवाला, वह जाननेवाला ही है। जाननेवाले में कमी, विपरीतता, न्यूनता हुई नहीं। वह तो अन्दर परिपूर्ण भगवान चैतन्य विराजमान है। आ...हा...हा...!

प्रभु! तुझे 'प्रभु' कहकर तो बुलाते हैं। तेरी प्रभुता प्रगट कराने के लिए (तुझे प्रभु कहकर बुलाते हैं)। तेरे में प्रभुता भरी है, अनन्त प्रभुता है। आ...हा...हा..! उस वस्तु से देखो तो अनन्त प्रभुता (है), वह तेरी है। **ज्ञायकत्व...** कोई जड़रूप हुआ नहीं, जो ज्ञायक है... जाननेवाला है, वह अजाननेवाला अर्थात् पुण्य और पाप जो अजान है, उस रूप-जड़रूप ज्ञायकत्व हुआ नहीं। जाननेवाला, वह अजानरूप हुआ नहीं। अर्थात् क्या? जाननेवाला आत्मा अन्दर चैतन्यसत्ता प्रकाश की मूर्ति प्रभु (है)। इन पुण्य और पाप में चैतन्यता नहीं। चैतन्य का उनमें अभाव है, वे अचेतन है। इसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं परन्तु हैं अचेतन। ज्ञायकपना, उस अचेतनरूप कभी हुआ नहीं। पर्याय में अचेतनपना दिखता है, उसकी हालत में दिखता है। वस्तु में वह है नहीं। आ...हा...हा...!

**यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है।** यहाँ वस्तु की मुख्यता बताने के लिए... मुख्यता बताने के लिए, प्रभु को ज्ञायकपना है – ऐसा बताया है। पर्याय में मलिनता है, उसको नहीं बताकर, उसको गौण करके, उसको गर्भित रखकर, वस्तु क्या है – वह बताया है। यह भाषा तो भाई, सादी में सादी, सादा में सादी है परन्तु भाव तो जो है, वह ऊँचा है वह है।

**...कुछ जड़पना हुआ नहीं।** यह क्या कहा है? **यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है। जो प्रमत्त-अप्रमत्त का भेद है, वह तो परद्रव्य की संयोगजनित पर्याय है।** आत्मा में चौदह गुणस्थान हैं। जिस प्रकार मंजिल चढ़ने के लिए नसैनी में चौदह सीढ़ियाँ होती हैं, उसी प्रकार आत्मा को पूर्ण पर्याय प्राप्त (करने के लिए) पूर्ण आनन्द की पर्याय-मोक्षपर्याय प्राप्त (करने के लिए) चौदह सीढ़ियाँ हैं। इस चौदह सीढ़ियों में छठवीं सीढ़ी तक को 'प्रमाद' कहते हैं और सातवीं सीढ़ी से चौदहवीं (सीढ़ी) तक 'अप्रमाद' कहते हैं।

यह प्रमाद और अप्रमाद, दो भाग शुभ और अशुभ के कारण दिखते हैं। वस्तु प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। अरे...! ऐसी बात है! जगत कहाँ पड़ा है और वस्तु कहाँ रह गई! आहा...हा...! **...वह तो परद्रव्य की संयोगजनित पर्याय है।** शुभ-अशुभभाव से प्रमत्त-अप्रमत्त दिखायी देता है। प्रमत्त, वह छठा गुणस्थान तक – छह सीढ़ियों तक और अप्रमत्त सातवें से चौदहवें तक, ये सभी भूमिकायें शुभ और अशुभभाव के (निमित्त से दिखायी देती है)। ज्ञायकपने की पर्याय में आने पर, उसे भेद दिखायी देते हैं; बाकी ज्ञायकपना है, वह शुभ-अशुभभावरूप हुआ नहीं; इसलिए उसको प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्था भी हुई नहीं। कुछ समझ में आया? अरे...! ऐसी सूक्ष्म बातें! बापू! मार्ग अलग है, आहा...!

**परद्रव्य के संयोगजनित पर्याय है; वह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है...** पर्याय में मलिनता है, परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखने पर उसे गौण करके, उसे गर्भित रखकर इसकी वस्तु में यह नहीं – ऐसा कहने में आया है। **...गौण है, व्यवहार है...** आत्मा में पुण्य और पाप के परिणाम, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, ये सब व्यवहार है; आत्मा का स्वभाव नहीं। आत्मा का स्वरूप यह नहीं। आ... हा...हा...! है? **...अभूतार्थ है...** झूठा है। वस्तु का स्वभाव चैतन्य प्रकाश की मूर्ति प्रभु! इसमें पुण्य-पाप के भाव के भेद हैं, वह झूठे हैं। अन्दर सत्यस्वरूप में वे है नहीं। पर्याय में दिखायी देते हैं, वे झूठे-भ्रम हैं। आ...हा...हा...! **असत्यार्थ है...** है? त्रिकाल की अपेक्षा से, हों! पर्याय में है अवश्य। पर्याय / अवस्था में, पुण्य-पाप हैं, इसलिए तो इनको अपना मानकर यह भटकता है। पुण्य और पाप के भाव को अपना मानकर अनादि से भटक रहा है। यह पर्याय में है परन्तु वस्तु से देखने पर, इसमें नहीं और वस्तु को देखने की नजर इसने अनादि से सेकेण्डमात्र भी नहीं की। यह क्या चीज है अन्दर? सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर, सर्वज्ञदेव, त्रिलोक प्रभु ने आत्मा को कैसा और कितना और किस प्रकार कहा है? उसकी इसे खबर नहीं। इसलिए यहाँ यह कहते हैं कि यह असत्यार्थ है। वस्तु में जो पुण्य-पाप दिखायी देते हैं, वह द्रव्य की अपेक्षा से – त्रिकाली की अपेक्षा से झूठा है। इसमें अवस्था की अपेक्षा से है, पर्याय की अपेक्षा से है। वस्तु की अपेक्षा से वह झूठा है। है? **...उपचार है।** (अर्थात्) आरोप है।

**द्रव्यदृष्टि शुद्ध है...** परन्तु वस्तु की दृष्टि करने पर वह शुद्ध चीज आत्मा आनन्दकन्द

है। जैसे, यह स्फटिक का पत्थर है, वैसे यह चैतन्य का, आनन्द का कन्द प्रभु है। आ...हा...हा...! परमेश्वर! जाति से परमेश्वरस्वरूप है परन्तु उस स्वरूप की पर्याय को भूलकर, पर्याय में राग-द्वेष करता है। यह द्रव्यदृष्टि से देखें तो **अभेद है...** आत्मा शुद्ध है। पुण्य और पाप के भेद में आया नहीं। अन्दर अभेद अर्थात् एकरूप है। **...निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है...** त्रिकाली चीज सत्य (है), वह सत्य है। पर्याय (को) त्रिकाल की अपेक्षा से असत्य कहा जाता है, परन्तु पर्यायदृष्टि से पर्याय सत् है। पर्यायदृष्टि से पर्याय है। वस्तुदृष्टि से पर्याय असत्यार्थ है। आया? आहा...! निश्चय है, भूतार्थ (है) और सत्यार्थ है। सत्य वस्तु, द्रव्य **...परमार्थ है, इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है...** आ...हा...हा...!

भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप – चैतन्यचन्द्र है। जिनचन्द्र! जिसे जिनचन्द्र कहते हैं। जिन अर्थात् वीतरागी चन्द्र। यह आत्मा जिनचन्द्र-वीतरागी चन्द्र की मूर्ति अन्दर है। आ...हा...हा...! कभी भी सुना नहीं। इसकी तरफ गया नहीं। विचार में लिया नहीं और बाहर की धमाधम में मरकर उलझन में अनादि काल (से) चौरासी के अवतार करता है।

यहाँ यह कहते हैं, आहा...! **इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है, उसमें भेद नहीं...** वस्तु में भेद नहीं। पर्याय में राग-द्वेष के भेद हैं... **...इससे वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं।**

**'ज्ञायक' ऐसा नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है...** इसे जाननेवाला – ऐसा कहा जाता है तो जानने योग्य चीज को देखकर ऐसा कहा जाता है कि जाननेयोग्य है। फिर भी यह जाननेवाला, स्वयं पर को नहीं जानता। पर को जानने के काल में अपनी ज्ञान की दशारूप होकर इसको जानता है, पर को नहीं जानता; स्वयं को जानता है। आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म बाते हैं, प्रभु! ज्ञायकपना जानने में आता है।

**...कारण कि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलके...** दर्पण में सामने चीज-बिम्ब हो, उसका प्रतिबिम्ब दिखता है। दर्पण में सामने चीज-बिम्ब हो, (उसका) प्रतिबिम्ब (पड़ता है), बिम्ब का प्रतिबिम्ब (पड़ता है)। ऐसे ही भगवान चैतन्य दर्पण, इसमें राग-द्वेष (रूप) का बिम्ब, उसका प्रतिबिम्ब अन्दर झलकता है अर्थात् जानने में आता है... जानने में आता है। यह जाननेवाला है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म है, भाई इसमें! यहाँ तक पहुँचना इसको! आ...हा...हा...! वह जानने में आता है।

**...कारण कि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है।** ज्ञान, पर को जानने के समय स्वयं अपनेरूप परिणमता है। पर को जानने के काल में पररूप नहीं होता। आ...हा...हा...! जैसे, यह अग्नि है तो अग्नि को जानते समय ज्ञान, अग्निरूप नहीं होता परन्तु अग्नि का जैसा स्वरूप है, वैसा यहाँ स्वयं को स्वयं से ज्ञान होता है। वह ज्ञान, अग्निरूप नहीं होता, और अग्नि के कारण उसका ज्ञान (हुआ नहीं) अग्नि का ज्ञान, अग्नि के कारण नहीं हुआ। अग्नि का ज्ञान अपने ज्ञान के स्वभाव के कारण हुआ है। आ...हा...हा...! इतना सारा अन्तर! निवृत्ति लेकर यह चीज कौन है और कैसी है? (यह जानने को) निवृत्ति कहाँ! फुरसत कहाँ!

**तथापि ज्ञेयकृत अशुद्धता उसमें नहीं...** भले पर को जाने। परन्तु पर को जानने के काल में स्वयं को ही जानता है। पर के कारण अशुद्धता इसमें नहीं। **...कारण कि जैसा ज्ञेय, ज्ञान में प्रतिभासित हुआ...** जानने योग्य पदार्थ को ज्ञान जाने, तब इस ज्ञान को ज्ञान जानता है। पर को जानता है, यह कहना तो व्यवहार है। आ...हा...हा...! बहुत सूक्ष्म प्रभु! दाह्यकृत और ज्ञेयकृत – ऐसी बात आयी थी न? यह वस्तु-शरीर है, वाणी है, मन है, इसको जानने के समय ज्ञान उसरूप नहीं होता परन्तु जैसा पर का स्वरूप है, उसके ज्ञानरूप ज्ञान परिणमता है, वह पर के कारण नहीं। यह अपनी शक्ति से, उस ज्ञेय को जानने की शक्ति से जानता है। इसलिए उसकी वह जानने की शक्ति, जानने योग्य ज्ञेय है, उसकी की हुई नहीं है। समझ में आया कुछ? आ...हा...हा...!

**वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है, यह जो मैं जाननेवाला हूँ, सो मैं ही हूँ...** पर को जाननेवाला, वह मैं हूँ – ऐसा नहीं। अरे...रे...! कहाँ ले जाना है इसको...! पर का कर्ता तो नहीं परन्तु पर का जाननेवाला भी नहीं है। है? **यह जो मैं जाननेवाला हूँ सो मैं ही हूँ।...** मैं पर को जानता हूँ, इसलिए पररूप जानता हूँ, ऐसा नहीं। मेरे ज्ञान में ही मेरा प्रकाश (है)। 'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, ताते वचन भेद भ्रम भारी।' स्व-पर प्रकाशक मेरी ही पर्याय में, मैं स्व और पर को मेरे कारण मेरे में जानता हूँ। पर के कारण नहीं। आहा...हा...! पर का ज्ञान नहीं, यह स्व का ज्ञान है। यह जो दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखता है (तो) यह परवस्तु वहाँ नहीं आयी। पर (वस्तु) आयी है वहाँ? यह

तो दर्पण की अवस्था है। जो प्रतिबिम्ब दिखता है – सामने अग्नि हो और वहाँ दिखे (तो) वहाँ अन्दर में अग्नि है? यह दर्पण की ही अवस्था है। यह झलक दर्पण की अवस्था है, यह अग्नि की नहीं। इसी प्रकार ज्ञान में जो ज्ञेय जानने में आते हैं, वह ज्ञान की अवस्था है। जानने में आनेवाली वस्तु की यह अवस्था नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! तभी यहाँ तो थोड़ी-थोड़ी बात की है। हों! बहुत सूक्ष्म! बहुत आगे नहीं ले जाते! पहला-पहला है... आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** यह छोटी बात नहीं, सूक्ष्म बात नहीं। बहुत बड़ी बात है?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बात तो ऐसी है, बापू! परन्तु अन्दर पकड़ने में आयी नहीं है, इसलिए बाहर से अपनी मान रहा है, अन्दर जाता नहीं परन्तु अन्दर जाने की कला की भी इसको खबर नहीं। आ...हा... हा...हा...!

**यह जो मैं जाननेवाला हूँ सो मैं ही हूँ अन्य कोई नहीं –ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ...** आ...हा...हा...! जानने की चीज को जानने के काल में जानने की चीजरूप अनुभवता नहीं परन्तु जानने की चीज को जानने के काल में जाननेवाले को अनुभवता है; पर को अनुभवता नहीं। आ...हा...हा...! इस ज्ञान की झलक में प्रतिबिम्ब दिखता है, वह उस चीज का नहीं; यहाँ ज्ञान की दशा ऐसी है। उस ज्ञान की दशा को अनुभवता है। आ...हा...हा...! ऐसा जब तक अन्दर में अनुभव न हो, तब तक इसको सम्यग्दर्शन और धर्म की शुरुआत नहीं होती और धर्म की शुरुआत न हो तो फिर चारित्र या व्रत (कुछ) इसको नहीं हो सकते। जहाँ एक नहीं, वहाँ बिन्दी की गिनती में क्या गिनती गिनना? आ...हा...हा...!

**(ऐसा स्वयं को स्वयं का) अनुभव हुआ तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं...** क्या कहते हैं? जाननेवाले (को) पर को जानने के काल में पर तरफ का ज्ञान (हुआ उस समय) स्वयं अपनेरूप हुआ। वह जानने का कार्य हुआ, वह स्वयं का कार्य है और जाननेवाला स्वयं कर्ता है। पर को जानना, वह स्वयं का जानना हुआ है। वह स्वयं का जानना, वह स्वयं का कार्य है और उसका कर्ता आत्मा है। पर को जानने का कार्य (हुआ), इसका कर्ता पर है, और यह जानने में आता है – ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! सूक्ष्म तो है, भाई! किन्तु अब थोड़ा-थोड़ा (लोग पकड़ते हैं)।

**मुमुक्षु :** एक के बिना की बिन्दी किस काम की?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बिन्दी काम की (किन्तु) बिन्दी शून्य की, शोर मचाने की है।

आ...हा...हा..! भगवान आत्मा! पर को जानता है – ऐसा कहना भी व्यवहार है। स्वयं की पर्याय को जानता है, इसमें वह जानने में आ जाता है। वह जाननेवाला ही जानने में आता है। जानने में आई चीज, वह जानने में नहीं आती। चीज जानने में आई, वह जाननेवाला ही जानने में आया है। सूक्ष्म बात है न, भाई! वह स्वयं से जानता है, वह मैं हूँ, अन्य कोई नहीं। **ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ, तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसे जाना वह कर्म भी स्वयं ही है।** कर्म अर्थात् कार्य। पर को जानने के काल में जो ज्ञान अपना अपने से हुआ, वह ज्ञान स्वयं का कर्ता है और उस ज्ञान का कर्ता वह आत्मा है। वह तो द्रव्य अपेक्षा कहा है। बाकी तो पर्याय कर्ता है, और पर्याय कार्य, दोनों साथ हैं। पण्डितजी! यहाँ तो वहाँ तक लिया है कि पर को जानने के काल में जानने की दशा तो आत्मा की है, इसके (पर के) कारण नहीं। यह जानने की दशा है, वह आत्मा का कार्य है और आत्मा इसका कर्ता है। ज्ञात होने योग्य वस्तु, वह उसका कार्य नहीं और उसके कारण यहाँ ज्ञात नहीं होता। जाननेवाला भगवान चैतन्य स्व-परप्रकाशक होने से, अपनी सत्ता में, पर की अपेक्षा बिना पर के जाननेरूप परिणमता है, यह आत्मा है, वह मैं हूँ। पर को जानता हूँ, वह मैं हूँ – (ऐसा नहीं)। यह मैं नहीं। आ...हा...हा...! ऐसा है। यह गाथा ही जरा ऐसी है।

**ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र स्वयं शुद्ध है।** है न? – **यह शुद्धनय का विषय है।** शुद्धनय अर्थात् सम्यग्ज्ञान जो शुद्ध है, उसका यह त्रिकाली द्रव्य वह विषय-ध्येय है। वर्तमान में मलिनता है, वह कोई शुद्धनय का-शुद्धज्ञान का विषय-ध्येय नहीं, वह तो पर्यायनय का विषय है। वर्तमान अवस्था को देखनेवाले नय का विषय है। त्रिकाल को देखनेवाले नय का विषय नहीं। त्रिकाली (को) देखनेवाले (नय को) विषय से यह शुद्ध आत्मा कहने में आता है, इसमें अशुद्धता नहीं है। आहा...हा...हा...! है? **...ज्ञायकत्वमात्र स्वयं शुद्ध है। यह शुद्धनय का विषय है।**

**अन्य जो परसंयोगजनित भेद है...** (अर्थात्) जितना राग और द्वेष और पुण्य

और पाप के भेद दिखते (हैं)। **...वे सब भेदरूप अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं।** अशुद्ध द्रव्यार्थिक अर्थात् पर्याय। पर्याय (का) विषय अर्थात् व्यवहार। (यह सब) व्यवहारनय का विषय है; परमार्थ का नहीं। आ...हा...हा...!

स्वयं का जो त्रिकाली स्वरूप है, उसको देखने-जानने पर, पर का जानना होता है, वह भी अपना ही स्वरूप है। पर के कारण यह जानता है और पर में जानने में आता है और पर है, इसलिए वह जानता है – ऐसा भी नहीं है। वह स्वयं ही पर को और स्व को जानने के स्वभाववाला अपना भाव, वही अपना शुद्धत्व (है) और वही अपना स्वरूप है। वह शुद्धनय का विषय है। शुद्धनय अर्थात् द्रव्यदृष्टि। त्रिकाली द्रव्य को जाननेवाला ज्ञान, उस ज्ञान को शुद्धनय कहा जाता है। त्रिकाली द्रव्य को जाननेवाला ज्ञान, उस ज्ञान को शुद्धनय कहा जाता है। उस शुद्धनय का विषय त्रिकाली भगवान आत्मा है। आहा...! यह जब जानने में आये, तब उसको सम्यग्दर्शन होता है, तब उसको धर्म की पहली सीढ़ी होती है, तब उसे धर्म की पहली सीढ़ी हाथ आती है। आ...हा...हा...! जेठालालभाई! ऐसी बातें हैं! **अन्य पर संयोगजनित भेद हैं, वे सब भेदरूप अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का विषय है। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्यायार्थिक ही है, इसलिए व्यवहारनय ही है – ऐसा आशय समझना चाहिए।**

**यहाँ यह भी जानना चाहिए कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जाए...** आत्मा में-पर्याय में विकार होता ही नहीं... पर्याय में, हों! द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध है, किन्तु उसकी अवस्था में विकार है ही नहीं – ऐसा मानना, वह एकान्त है, वह यथार्थ नहीं। इसकी अवस्था में मलिनता है और मलिनता का, दुःख का वेदन है और दुःख के वेदन से चार गति में भ्रमण करता है, ये सब है। व्यवहारनय का विषय है, (परन्तु) वस्तु में वह नहीं, किन्तु वस्तु भी है और व्यवहारनय (का विषय) यह मलिनता का भाव, यह भी दशा में है। आहा...हा...! है? इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा झूठ नहीं मानना।

**...क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता – दोनों वस्तु के धर्म हैं...** यह क्या कहा? त्रिकाली वस्तु है – चैतन्य त्रिकाली वस्तु, वह शुद्ध है और वर्तमान

पर्याय में मलिनता का दुःख है – दोनों हैं। दोनों में दुःख नहीं तो आनन्द होना चाहिए। आनन्द नहीं – ऐसा मानना झूठ है और दुःख नहीं – ऐसा मानना भी झूठा (है) अन्दर (स्वभाव में) आनन्द है; पर्याय में दुःख है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** द्रव्य से पर्याय भिन्न है?

**समाधान :** भिन्न है! द्रव्य से पर्याय भिन्न है; एक हुई नहीं। एक हो जाए तो पूरा द्रव्य मलिन हो जाए। मलिन हो जाए तो द्रव्य ही नहीं रहे। द्रव्य यदि विकाररूप हो जाए तो द्रव्य / वस्तु ही नहीं रहे, आत्मा ही नहीं रहे। आहा...हा..! ऐसा समझने के लिए समय कितना निकालना? मार्ग तो ऐसा है, प्रभु! आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** सोनगढ़ कितने महीने रुकना पड़े, गुरुदेव?

**समाधान :** वहाँ महीने की बात नहीं। देश छोड़कर परदेश में कितने महीना-वर्ष तक रहना – ऐसा निश्चित किया है कभी? जेठालालभाई! देश छोड़कर परदेश में कितने काल रहना, यह निश्चित किया है? चाहे जितने काल रहना पड़े। वैसे आत्मा समझने के लिए चाहे जितने काल रहना पड़े। इसकी अवधि हो सकती नहीं। आ...हा...हा...!

त्रिकाली वस्तु है, वह शुद्ध है और वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था, वह अशुद्ध है; दोनों उसके धर्म हैं। उसमें दोनों हैं। पर के कारण है नहीं, पर तो निमित्तमात्र है। मलिन होने की भी पर्याय में योग्यता है और निर्मलता तो त्रिकाल शुद्ध है, दोनों वस्तु है। दोनों वस्तु को ज्ञानरूप से (ज्ञान में) जानकर और पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-धर्म का पहला चरण है। आहा...हा...! है? **...शुद्धता और अशुद्धता – दोनों वस्तु के धर्म हैं...** पर्याय, वस्तु का धर्म! राग-द्वेष पर्याय में है न? यह इसका – पर्याय का धर्म है न? धर्म अर्थात् धारण करना। पर्याय में धारण कर रखा है न? वह मलिनता यह कोई कर्म ने धारण नहीं की। राग-द्वेष की मलिनता स्वयं ने धारण कर रखी है; इसलिए यह अशुद्धता इसका स्वयं का धर्म (है)। धर्म अर्थात् धारण किया हुआ भाव और शुद्धता तो इसका त्रिकाली स्वरूप है। आहा...हा...!

**अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है...** अशुद्धता वस्तुधर्म है, वह तो सत्व, सत्य है। क्या कहते हैं? त्रिकाली चीज शुद्ध है, वह भी सत्य है और पर्याय में विकार है, वह भी वस्तु

का सत्व है। वह वस्तु की ही पर्याय का सत्व है। त्रिकाली नहीं, परन्तु पर्याय का सत्व है। वह पर्याय का सत्व न माने और वस्तु का सत्व (ही माने तो एकान्त है) दोनों हैं – शुद्धता और अशुद्धता दोनों इसके धर्म हैं–ऐसा कहते हैं देखो। है? **...दोनों वस्तु के धर्म है। और वस्तु का धर्म वह वस्तु का सत्व है।...** क्या कहा? त्रिकाली शुद्ध चैतन्य है, उसको भी जानना और वह जानकर, अशुद्धता है, वह भी ख्याल में रखना कि पर्याय में अशुद्धता है, मलिनता है; अतः मैं दुःखी हूँ। मेरी दृष्टि उसके ऊपर हो तो संसार है, किन्तु वह संसार है, भ्रम नहीं। 'ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या' – ऐसा नहीं। वह अशुद्धता भी पर्याय में स्वयं का धर्म है। धर्म अर्थात् धारण की गई वस्तु। धर्म वह (सम्यग्दर्शनरूप) धर्म नहीं। वस्तु का सत्व है। क्या कहते हैं? त्रिकाली शुद्ध वस्तु, वह भी वस्तु का सत्व है और पर्याय में मलिनता होती (है), वह भी वस्तु की पर्याय का धर्म अर्थात् सत्व है। वह वस्तु का सत्व है। यह पर के कारण नहीं। समझ में आया? आहा...हा...!

**अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है, वह ही अन्तर है।** मलिनता जो आती है – पुण्य और पाप की, दया और दान की, व्रत और भक्ति, काम-क्रोध की, कमाना, भोग और विषय (वह सभी) मलिनता है तो वस्तु का पर्यायधर्म। धर्म अर्थात् वह पर्याय, आत्मा ने धारण की है; पर के कारण नहीं हुई। आहा...हा...! है? एक अन्तर कितना? कि अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती (है) – इतना अन्तर है। शुद्ध है, वह तो स्वतः स्वभाव है और अशुद्धता, वह परद्रव्य के संयोग से होती है, इतना अन्तर है। बाकी है तो दोनों वस्तु के सत्व! दोनों वस्तु में रहते हैं – शुद्धता भी रही है और पर्याय में अशुद्धता भी रही है।

आ...हा...! पर्याय क्या? और द्रव्य क्या? पहले उनका थोड़ा तो ज्ञान होना चाहिए न! द्रव्य किसे कहते हैं? गुण किसे कहते हैं? पर्याय किसे कहते हैं? तब यह वस्तु समझ में आए। यहाँ तो विकार को भी वस्तु का सत्व कहा। सत् का सत्व, पर्याय का सत्व। पर्याय में है न? वस्तु में नहीं, वस्तु-वस्तुरूप से सत् है। पर्याय में मलिनता है तो मलिनतारूप से पर्यायदृष्टि से सत् है। दोनों वस्तु का सत्व है। आहा...हा..! मात्र पर के कारण-निमित्त से होती है, इतना अन्तर। निमित्त के कारण नहीं, परन्तु निमित्त (के) ऊपर लक्ष्य है और विकार होता है, इतना अन्तर। परन्तु विकार है आत्मा का सत्व। उसके सत्व में, उसकी

पर्याय में, उसके पुरुषार्थ की विपरीतता से उसमें होता है। वह पर के कारण होता है, ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

'समयसार' तो ऐसी चीज है...। आ...हा...हा...! थोड़ा परिचय चाहिए भाई! भगवान! यह तो अनन्त काल से भूला हुआ (है)। वह वस्तु क्या है? पर्याय क्या है? और पर्याय की अशुद्धता को निकालकर अकेली शुद्धता को सत् कहा (तो) ऐसा करके अशुद्धता नहीं – ऐसा मानना वह भी भूल है। वस्तु को सत्य कहने पर – त्रिकाली द्रव्य को सत्य कहने पर, पर्याय को असत्य कहा, वह तो त्रिकाली की अपेक्षा से कहा; बाकी पर्यायरूप से पर्याय में मलिनता-संसार-विकार-दुःख है, वह भी जीव का सत् अर्थात् जीव की पर्याय का सत्व है। आ...हा...हा...!

कहिए भाई! अन्दर में भी लक्ष्मी है और विकार जितना दुःख भी है, दोनों है, ऐसा कहते हैं। यह दुनिया वहाँ दुःख (का) वेदन (करती) है। आत्मा का अन्तर अनुभव बिना आनन्द की इसको गन्ध नहीं। पूरी दुनिया – सब पैसावाले, अरबपति, करोड़पति, राजा, पचास-पचास हजार की महीने (के) वेतनवाले सभी दुःखी प्राणी हैं, बेचारे! क्योंकि सुख जो आत्मा में है, इसकी तो इसे खबर नहीं। ऐसे आत्मा को अन्दर पर्याय में दुःख है – ऐसा न माने (तो वह मिथ्या है) क्योंकि दुःख तो है। दुःख है, राग है, विकार है – यह भी जीव की पर्याय में सत्व अर्थात् पर्याय में होता है। वह कोई पर में नहीं होता। आहा...हा...! ऐसा है।

**अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है...** है? **...अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है, यह ही अन्तर है। अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है...** लो! यह क्या कहा? कि इसकी पर्याय में जो मलिनता दिखती है, वह संसार है। वह अशुद्धनय है, वह व्यवहार है और वह संसार है; इसलिए त्रिकाली को सत्य कहकर, उसको असत्य कहा है। परन्तु असत्य कहकर, जैसे खरगोश का सींग नहीं; उसी प्रकार मलिनता पर्याय में नहीं – ऐसा नहीं। आहा...हा...! ऐसा है। कभी त्रिकाली को सत्य कहते हैं, फिर पर्याय को भी यहाँ सत्य कहा (है)। वस्तु का सत्व कहा ...सत्व! मलिनता भी पर्याय का सत्व (है)। पर्याय इसकी है न? इससे वस्तु का यह सत्व है। अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है, इतना अन्तर है। बाकी है तो विकार इसकी पर्याय में।

**अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है। जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न होता है, तब संसार छूटता है...** आ...हा... हा...! वह पुण्य-पाप के भाव की मलिनता मिटाये, तब संसार छूटता है और शुद्धता होती है। परन्तु इसकी पर्याय में (मलिनता) नहीं है – ऐसा माने तो मिटाना रहता नहीं और उसे स्वयं का त्रिकाल स्वभाव माने तो भी मिटाना रहता नहीं। दो न्याय! पर्याय में नहीं, ऐसा माने तो मिटाना रहता नहीं और पर्याय (की) वह अशुद्धता द्रव्य में है – ऐसा माने तो (भी) मिटाना रहता नहीं। आ...हा...हा...! यह तो न्याय का विषय है भाई! वीतराग का मार्ग तो न्यायाधीश है। न्याय से है। इसको ऐसा का ऐसा मान लेना (ऐसी) बात नहीं।

**मुमुक्षु :** अज्ञानी जीव यह निश्चित कर सकता है?

**समाधान :** अज्ञानी निश्चित कर सकता (है)। बराबर मान सकता (है)। देख सकता है। जाने, जाने तो न! आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** इस पाप में पड़े हुए हैं....?

**समाधान :** इसलिए कहते हैं पाप में पड़े और पुण्य में पड़े, दोनों समान हैं। यहाँ यह कहना है भाई! पाप में पड़ा है – पूरे समय ही कमाना और पत्नी और लड़का और धूल और धमाल! दो-पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये हो जाए तो ऐसा हो जाता है मानों स्वयं बड़ा बादशाह हो गया। आहा...हा...! बापू! बादशाह तो वह अन्दर में विराजता है। चैतन्य परमेश्वर बादशाह है। 'बादशाह' इसमें से विकार को बाद करे तो 'शाह' अकेला रह जाता है। सूक्ष्म बात है भाई!

विकार इसमें है। विकार नहीं – ऐसा माने तो भी झूठ और विकार, त्रिकाल द्रव्य में माने तो भी झूठ है। त्रिकाल द्रव्य है – (वह) शुद्ध है (और) वर्तमान पर्याय, वह मलिन और अशुद्ध है; दोनों जीव का सत्व (है), जीव के सत्व में, जीव की सत्ता में होते हैं; यह पर की सत्ता में मलिनता है – ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। कर्म के कारण मलिनता है – ऐसा नहीं। आ...हा...हा...!

**...क्लेश भोगता है;...** है न? **अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है क्योंकि अशुद्धनय**

**का विषय संसार है....** क्या कहते हैं? कि वस्तु जो त्रिकाल चैतन्यस्वरूप है, इसकी दृष्टि-अनुभव करने के लिए, पुण्य-पाप के भाव उसकी पर्याय में है, फिर भी उसको गौण करके, उसको लक्ष्य में नहीं लेने के लिए 'वह नहीं' – ऐसा कहा और शुद्धनय का विषय सत्य है – ऐसा कहने में आया है। आ...हा...हा...! एक शब्द के अन्तर से (बड़ा) अन्तर पड़ता है – ऐसा है, बापू! यह तो न्याय का विषय है। यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। यह तो भागवत् कथा है, भागवत्... भगवत्! भगवन, भगवान आत्मा की कथा (है) प्रभु! आहा...हा...! नियमसार में कहा है कि यह भागवत कथा है। भगवान आत्मा की कथा (है) यह!! आहा...! परन्तु वह भगवान आत्मा होने पर भी, अनादि से उसकी पर्याय में यह मलिनता कर रहा है। पाप पूरे दिन! और पाप छोड़कर कदाचित् पुण्य में आये, तो भी ये दोनों विकार हैं, दोनों संसार है। आ...हा...हा...! है? कहा न! **....अशुद्धनय का विषय संसार है। और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है;...** आहा...हा...! चाहे शुभभाव हो या अशुभभाव हो, (दोनों) अशुद्ध हैं और उससे वह दुःखी है। इस कारण उस दुःख के अभावरूप, आनन्दस्वरूप है, उसकी इसको खबर नहीं।

आनन्द का नाथ प्रभु है! सच्चिदानन्द प्रभु! परमेश्वर की जाति का ही स्वयं (है), उनकी जाति का है। यह परमेश्वर की जाति का स्वयं है। इसकी जाति का है परन्तु इसको पहचाने बिना-अनुभव बिना इसको अकेला दुःख ही हो रहा है। पुण्य और पाप के परिणाम दोनों दुःखरूप हैं। पूरे दिन पाप करता है और कमाना, भोग और विषय भोगना... कमाना और इसे महीने में 5-25 लाख रुपये मिलते हो (तो इसी में) फँस जाए। घाणी में जैसे तिल पिलता है तिल! ऐसे ही यह पाप में पिलता है। और वह छोड़कर पुण्य में आये तो कहते हैं पुण्य अपना माने तो वहाँ पिलता है। है इसकी पर्याय में, फिर भी त्रिकाली में नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात है!

**मुमुक्षु :** वास्तविक रहस्य बताया है, प्रभु!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वस्तु तो ऐसी है, बापू! आहा...हा...! बहुत आगे नहीं ले जाकर, इसमें है इसका अर्थ करते हैं। बहुत सूक्ष्मता। हों! आगे नहीं ले जाते।

अब (कहते हैं) जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न हो... (अर्थात्) भगवान आत्मा

चैतन्यमूर्ति है, वह परद्रव्य से भिन्न हो अर्थात् मलिनता से भिन्न हो, तब संसार मिटे, तब क्लेश मिटे। **इस प्रकार दुःख मिटाने के लिए शुद्धनय का विषय प्रधान है।** (इसलिए उसे) मुख्य कहा। दुःख मिटाने (के लिए) आत्मा शुद्ध है, त्रिकाली है, उसमें विकार नहीं – ऐसा कहने में आया है। इस शुद्ध की दृष्टि और शुद्ध का अनुभव करने के लिए (ऐसा कहने में आया है)।

**अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से ऐसा नहीं समझना कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा है ही नहीं।** यह क्या कहते हैं? पर्याय में अशुद्धता नहीं, मलिनता नहीं – ऐसा मानने से तो आकाश के फूल की भाँति वस्तु हो जाए। (परन्तु) ऐसा है नहीं। पर्याय में अशुद्धता है, यह मलिनता भोगता है। आनन्द कहाँ है इसको? अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद कहाँ है? यह तो अकेला दुःख है! विषय का, भोग का, राग का, अरे! चाहे तो दया-दान-व्रत (का) परिणाम हो, वह भी राग है और राग है, वह दुःख है। परन्तु है दुःख! यह दुःखी है, दुःखी है, परन्तु यह दुःख इसकी दशा में है। इसके त्रिकाल स्वभाव में दुःख है नहीं; इसलिए दोनों बात है – ऐसा जानना चाहिए। आहा...हा...!

**इस प्रकार दुःख मिटाने के लिए.... है? ....शुद्धनय का उपदेश प्रधान है। अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से ऐसा नहीं समझना कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा है ही नहीं। ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है।** यह क्या कहा? वस्तु त्रिकाली है – सम्यग्दर्शन का विषय, धर्म की पहली सीढ़ी का विषय, वस्तुधर्म त्रिकाली शुद्ध, इसको यहाँ सत्य कहा है परन्तु इस एक को ही माने और पर्याय में मलिनता है, यह न माने तो मलिनता को छोड़कर निर्मलता (में) जाना, वह नहीं होता। वह मलिनता का नाश माने तो भी सर्वथा एकान्त है-मिथ्यात्व है। पर्याय में मलिनता है, यह नहीं माने तो भी मिथ्यात्व है और मलिनता से आत्मा में धर्म होता है – ऐसा माने तो भी मिथ्यात्व है। आहा...हा...!

ऐसा कठिन काम है। यह बात घर में चलती नहीं, दुकान में चलती नहीं। सुनने जाए वहाँ भी बाहर की बातें मिलती हैं। ...व्रत करो, और उपवास करो, और पूजा करो, मन्दिर बनाओ और भक्ति करो। यह चीज कहीं सुनने को मिलती नहीं तो करे कब बेचारा?

आहा...! अनन्त काल से भटका प्रभु! एक सेकेण्ड भी इसे आत्मा के आनन्द के स्वाद की खबर नहीं।

**इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का अवलम्बन करना चाहिए।** अशुद्धता है, इसकी दशा में मलिनता है, इसका लक्ष्य रखकर; और इसको छोड़कर शुद्ध त्रिकाल का विषय लेना (ग्रहण) करना। आत्मा की त्रिकाली पवित्रता को प्रगटाना। अशुद्धता है, इसका (ज्ञान) करके, इसका लक्ष्य छोड़कर शुद्धता को पकड़ना। अशुद्धता ही नहीं तो उसको छोड़ना रहता नहीं। है? **ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है;...** आहा...! **...इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का आलम्बन लेना चाहिए।** अशुद्धता है, मलिनता है, यह लक्ष्य में रखकर और उसको छोड़कर स्वरूप में जाना – ऐसे शरण लेना। अशुद्धता ही नहीं है – ऐसा माने तो यह अशुद्धता छूटे नहीं। वह अशुद्धता स्वरूप में है – ऐसा माने तो भी अशुद्धता छूटती नहीं; इसलिए स्वरूप में अशुद्धता नहीं, पर्याय में है, इसका लक्ष्य रखकर और शुद्ध की शरण लेना। समझ में आया। भाषा तो सादी है प्रभु! परन्तु भाव तो जो हो, वही होता है। क्या हो? चाहे जैसे भाव को हल्का कर दे (तो भी) हल्का किस प्रकार हो? इसकी स्थिति की मर्यादा हो, इस प्रमाण रहे न! आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** धर्म करने के लिए क्या करना चाहिए?

**समाधान :** यह धर्म करने (के लिए) आत्मा शुद्ध है, उसके ऊपर दृष्टि करनी चाहिए। परन्तु अशुद्धता है, वह लक्ष्य में रखना चाहिए। पर्याय में अशुद्धता है। समझ में आया। पर्याय में अशुद्धता न हो तो अशुद्धता को छोड़कर, शुद्धता को प्रगट करना रहता नहीं। अतः पर्याय में / अवस्था में / हालत में; जैसे स्फटिक में लाल-पीले फूल के कारण लाल-पीली झांई दिखती है। (वह) इसकी योग्यता से दिखती है। इसमें है, स्फटिक में है ये। ऐसे ही प्रभु चैतन्य स्फटिक की तरह शुद्ध होने पर भी, कर्म के निमित्त के संग में जुड़ने से पुण्य और पाप के मलिनभाव उसमें दिखायी देते हैं। यह अशुद्धता है।

(इसका विशेष कहेंगे)।

## गाथा–11

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्तव्य इति चेत् ह्न

**ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।**
**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ।।11।।**

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ।।11।।

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति, शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति।

तथा हि – यथा प्रबलपंकसम्वलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोऽनुभ–वितारः पुरुषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वन्तो बहवोऽनच्छमेव तदनुभवन्ति। केचित्तु स्वकरविकीर्ण–कतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवन्ति।

तथा प्रबलकर्मसम्वलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवन्ति।

भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुष–काराविर्भावितसहजैकज्ञायकभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवन्ति।

तदत्र ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यन्तः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य। अतः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानु–सर्तव्यः ।।11।।

---

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले यह कहा था कि व्यवहार को अङ्गीकार नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि वह परमार्थ को कहनेवाला है तो ऐसे व्यवहार को क्यों न अङ्गीकार किया जाए? इसके उत्तररूप में गाथा सूत्र कहते हैं।

**व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।**
**भूतार्थ आश्रित आत्मा, सद्दृष्टि निश्चय होय है॥11॥**

गाथार्थ -[व्यवहारः] व्यवहारनय [अभूतार्थः] अभूतार्थ है [तु] और [शुद्धनयः] शुद्धनय [भूतार्थः] भूतार्थ है, ऐसा [दर्शितः] ऋषीश्वरों ने बताया है; [जीवः] जो जीव [भूतार्थ] भूतार्थ का [आश्रितः] आश्रय लेता है वह जीव [खलु] निश्चय से (वास्तव में) [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [भवति] है।

टीका – व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिए वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से विद्यमान, सत्य, भूत अर्थ को प्रगट करता है। यह बात दृष्टान्त से बताते हैं – जैसे, प्रबल कीचड़ के मिलने से जिसका सहज एक निर्मलभाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है, ऐसे जल का अनुभव करनेवाले पुरुष, जल और कीचड़ का विवेक न करनेवाले (दोनों के भेद को न समझनेवाले–) बहुत से तो उस जल को मलिन ही अनुभवते हैं, किन्तु कितने ही अपने हाथ से डाले हुए कतक फल (निर्मली औषधि) के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल–कादव के विवेकता से, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मलभावपने से उस जल को निर्मल ही अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रबल कर्मों के मिलने से जिसका एक सहज ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले पुरुष–आत्मा और कर्म का विवेक (भेद) न करनेवाले, व्यवहार से विमोहित हृदयवाले तो उसे (आत्मा को) जिसमें भावों की विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं, किन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनय को देखनेवाले) अपनी बुद्धि से डाले हुए शुद्धनय के अनुसार बोध होनेमात्र से उत्पन्न आत्म–कर्म के विवेकता से, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज और एक ज्ञायकभावत्व के कारण उसे (आत्मा को) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है, ऐसा अनुभव करते हैं। यहाँ, शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है, इसलिए जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि है; दूसरे (जो अशुद्धनय का सर्वथा आश्रय लेते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं है। इसलिए कर्मों से भिन्न आत्मा के देखनेवालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

भावार्थ – यहाँ व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो, उसे अभूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनय को असत्यार्थ कहने का आशय यह है कि शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य

**द्रव्य है, उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए उसकी दृष्टि में भेद, अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहना चाहिए। ऐसा न समझना कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है। यदि ऐसा माना जाए तो जैसे वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्म को वस्तु कहते हैं, वैसा सिद्ध हो और उससे सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसंग आये, इसलिए यहाँ ऐसा समझना कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, वह प्रयोजनवश नय को मुख्य–गौण करके कहती है। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है और इसका उपदेश देश भी बहुधा सर्वप्राणी परस्पर करते हैं और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्ब (सहायक) जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और इसका उपदेश भी विरल है – वह कहीं–कहीं पाया जाता है। इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि 'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा का ज्ञान–श्रद्धानरूप निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।' ऐसा आशय समझना चाहिए।**

## प्रवचन–2, गाथा–11

यह 'समयसार' एक सिद्धान्त है। ग्यारहवीं गाथा। छठवीं पूरी हो गई न? अब ग्यारहवीं। बात तो ऐसी है, प्रभु! यहाँ तो धर्म की बात है। जिससे जन्म-मरण रहित हुआ जाए, यह क्या चीज है? जन्म-मरण तो अनन्त बार किए, पुण्य भी अनन्त बार किया और पाप भी अनन्त बार किया। यह कोई नई चीज नहीं। इसी प्रकार अरबपति अनन्त बार हुआ है और बड़ा नौवें ग्रैवेयक का इन्द्र, अहमिन्द्र भी अनन्त बार हुआ है, किन्तु सम्यग्दर्शन क्या चीज है? और उसका विषय आत्मा कैसा है? इस बात को इसने अनन्त काल में ख्याल में लिया ही नहीं। इस बात को ख्याल में लेने के लिए यह 'समयसार' है। जगत में दूसरी सब बातें बहुत होती हैं।

ग्यारहवीं गाथा। यहाँ प्रश्न है। **अब ऐसा प्रश्न उपस्थित होता....** ऐसा है मुख के सामने? **पहले ऐसा कहा था कि व्यवहारनय को अंगीकार नहीं करना चाहिए....** क्या कहा? कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है – ऐसा भेद डालकर कहना, वह व्यवहार है। वह व्यवहार अंगीकार नहीं करना चाहिए। व्यवहार से – भाषा-भेद से कथन होता है, तथापि उस भेद का आदर करने योग्य नहीं; आदरणीय तो अन्दर अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध चैतन्यघन है, उसका स्वीकार और सत्कार और आदर करना। इसलिए पहले ऐसा कहा कि व्यवहार का अङ्गीकार नहीं करना।

यहाँ यह प्रश्न है कि जब आचार्य महाराज ऐसा कहना चाहते हैं कि यह आत्मा जो सच्चिदानन्द प्रभु है, वह अभेद, एकरूप है, तथापि इसको दर्शन-ज्ञान-चारित्र से – भेद से उसको समझाना, वह व्यवहार है। वह व्यवहार है, वह आये बिना रहता नहीं। समझाने के लिए व्यवहार आता अवश्य है, परन्तु व्यवहार अंगीकार करने योग्य नहीं। आहा....हा...! सूक्ष्म बात है प्रभु!

यहाँ तो जन्म-मरणरहित (होने की) बातें हैं। जिससे जन्म-मरण हो, (वह) तो अनन्त काल से कर रहा है बापू! अनन्त बार पुण्य भी किया और अनन्त बार पाप भी किया। आहा...हा...! अनन्त... अनन्त.... अनन्त... इतने किये कि जिसकी संख्या का पार नहीं! तो भी भवभ्रमण का एक भी भव घटा नहीं और भव में भ्रमण करते-करते नरक के दुःख (जो भोगे, उसका) वर्णन परमात्मा वीतराग सर्वज्ञदेव करते हैं (कि) प्रभु! तू नरक में गया। सात नरक हैं। सभी (बात) तर्क से-युक्ति से सिद्ध होती है (परन्तु) अभी लम्बी बात नहीं होती। नीचे नरक है, उसमें गया। उसके एक क्षण के दुःख...। लाख भव हो और लाख वाणी (इकट्ठी) हो तो कह नहीं सकते, इतने तेरे दुःख थे। प्रभु! वह तुझे मालूम नहीं, तू भूल गया। भूल गया, इसलिए नहीं थे – ऐसा कैसे कहा जाए? प्रभु! जन्म के बाद के बारह महीने की बात की खबर है तुम्हें? माँ ने कैसे नहलाया, धुलाया, कैसे दिशा कराई बारह महीने में? जन्म से बारह महीने। (इसकी खबर है)? खबर नहीं, इसलिए नहीं थे – ऐसा कैसे कहा जा सकता है? ऐसे ही अनन्त काल के परिभ्रमण के दुःखों का स्मरण नहीं, इससे नहीं ऐसा कैसे कहा जा सकता है? प्रभु! अनन्त बार वहाँ गया है और परमात्मा

तो ऐसा कहते हैं कि प्रभु! क्या कहूँ तुझे? तेरे एक क्षण के दुःखों को करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से कहें तो एक क्षण के दुःख कहे नहीं जा सकते – ऐसे दुःख, प्रभु! तूने सहे हैं!! वह अज्ञान और मिथ्यात्व को कारण। बाकी तो सब अनन्त बार किया, परन्तु मिथ्यात्व दूर नहीं किया और सम्यग्दर्शन-आत्मज्ञान किया नहीं और आत्मज्ञान बिना जन्म-मरण का अन्त किसी भी प्रकार तीन काल में आये ऐसा नहीं।

दुनिया की ऋद्धि और सम्पदा देखकर लोगों को महिमा आ जाती है – बाहर की धूल देखकर! परन्तु आत्मा की सम्पदा क्या है? इसको सुनकर इसकी महिमा इसको आती नहीं! आत्मा अन्दर कौन है? इसमें इसकी सम्पदा-लक्ष्मी क्या है? बाहर की धूल सुने, इसके पास पाँच अरब है और दस अरब है और दस करोड़ है, सभी धूल है। ऐसा सुने वहाँ खुश-खुश हो जाता है। परन्तु इसमें अन्दर अनन्त अरबरूप अनन्त गुण तो आनन्द के पड़े हैं। आ...हा...हा...! इस बात की बात कहते हैं। वह अनन्त बार में अनन्त भव में कभी भी रुचिपूर्वक सुनी नहीं। सुनी है, क्योंकि अनन्त भव किये (हैं)। महाविदेहक्षेत्र में तीर्थंकर की उपस्थिति सदा ही होती है। महाविदेह में तीन काल में किसी भी तीर्थंकर का विरह नहीं होता। वहाँ अनन्त बार जन्मा है और उस कारण वह अनन्त बार उनके समवसरण में भी धर्म कथा सुनने गया है। इसने अनन्त बार धर्म कथा भी सुनी है परन्तु 'रुचिपूर्वक' सुनी नहीं। इसको अन्दर की बात रुची (नहीं); अन्दर में यह आत्मा भिन्न चीज है और राग, वह विकार है; इस प्रकार रुचिपूर्वक वह बात सुनी नहीं। सुनी है, परन्तु 'रुचिपूर्वक' सुनी नहीं। रुचिपूर्वक सुने तो अन्तर में मार्ग किये बिना रहता नहीं।

इसलिए यहाँ प्रश्न है। प्रभु! जब आत्मा को समझाने के लिए बहुत अत्यन्त संक्षिप्त व्यवहार कहें तो 'दर्शन-ज्ञान और चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा। (इतना भेद-व्यवहार तो आता ही है) प्रभु! यह तो व्यवहार आया! दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से आत्मा समझाने के लिए भेद आया तो व्यवहार आया। तो वह व्यवहार अंगीकार क्यों नहीं करना? उस व्यवहार के बिना तो समझाया जाता नहीं, तो बाद में वह व्यवहार क्यों नहीं अंगीकार करना? ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

11 वीं गाथा ऊँची है। जैन दर्शन का प्राण है!! 11 वीं गाथा। एक पण्डित है

कैलाशचन्दजी (वाराणसी) उन्होंने 'यह 11 वीं गाथा जैन दर्शन का प्राण है' – ऐसा एक बार लिखा था। वस्तुस्वरूप के रहस्य का प्राण है। वह यह गाथा है। समझने के लिए धीमे से, धीरे से सुनना। भाई ! आहा...! यहाँ तो भवरहित होने की बात है प्रभु ! बाकी पुण्य और पाप अनन्त बार किये और धूल भी मिली और मरकर नरक-निगोद में गया। वह कोई चीज नहीं।

यहाँ वह पूछा है, प्रभु ! व्यवहार को अंगीकार नहीं करना (ऐसा आपने पहले कहा) **...परन्तु वह यदि परमार्थ को कहनेवाला है–ऐसे व्यवहार को अंगीकार क्यों नहीं करना ?** क्या प्रश्न हुआ ? प्रश्नकार ने प्रश्न किया कि 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह आत्मा' – ऐसा भेद डालकर व्यवहार करके समझाया – तो फिर वह व्यवहार अंगीकार क्यों नहीं करना ? व्यवहार कहकर समझाया और व्यवहार तो समझाने में आया – तो वह व्यवहार क्यों नहीं अंगीकार करना ? – ऐसा शिष्य का प्रश्न है। पहले प्रश्न का रूप समझ में आता है ? राग करता है न ? यह प्रश्न यहाँ नहीं है। यह अन्दर भगवान आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और आनन्दस्वरूप है। ऐसा एक (रूप) स्वरूप में इतना भेद करके समझाना, यह व्यवहार हुआ। तो (शिष्य) कहता है कि व्यवहार आता तो है, तो यह व्यवहार अंगीकार क्यों नहीं करना ? व्यवहार के बिना समझाने में नहीं आता तो वह व्यवहार अंगीकार क्यों नहीं करना ? – ऐसा शिष्य का प्रश्न है। इसका यह उत्तर है।

जिसके हृदय में से यह भावना प्रगट हुई है कि प्रभु ! यह आत्मा अन्दर वस्तु है भगवान ! एकरूप है, इसे समझने के लिए तीन प्रकार तो समझाना पड़ता है कि जो श्रद्धा, वह आत्मा; ज्ञान वह, आत्मा; आनन्द, वह आत्मा – ऐसा भेद करके तो समझाना पड़ता है, तो वह भेद व्यवहार आता तो है, तो वह व्यवहार आता है, उसको अंगीकार क्यों नहीं करना ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! इसका उत्तर है। ऐसी जिसको अन्तर में जिज्ञासा हुई है, उसको यह उत्तर दिया है ! गाथा –

**ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।**
**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥11॥**

नीचे हरिगीत। मूल गाथा कुन्दकुन्दाचार्य की (है)। दो हजार वर्ष पहले (हुए) मुनि की गाथा है। (उसका) हरिगीत किया है।

**व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।**
**भूतार्थ आश्रित आत्मा, सद्दृष्टि निश्चय होय है॥11॥**

आहा...हा...! बात जरा अपूर्व तो है प्रभु! अनन्त काल में बाकी सब किया परन्तु भव-भ्रमण नहीं मिटा। नरक और निगोद में ऐसे भव किये हैं। प्याज और लहसुन में एक श्वांस में अठारह भव किये हैं। एक श्वांस ऐसा आये, उसमें अठारह भव किये हैं। ऐसे निगोद के भव अनन्त बार किये हैं, प्रभु! अनन्त काल से यह भटक रहा है। इसको अब व्यवहार से छुड़ाकर निश्चय को समझाना, यह किस प्रकार है? यह बात यहाँ कही जाती है।

**टीका : व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ होने से...** सूक्ष्म बात है। जरा शान्ति से सुनना, प्रभु! व्यवहारनय अर्थात् क्या? कि व्यवहार अर्थात् आत्मा अखण्डानन्द प्रभु अभेद है, उसको समझाने का प्रकार आवे, उसको व्यवहार कहते हैं। वह सारा ही व्यवहार अभूतार्थ है। (अर्थात्) सारा ही झूठा है। सारा अर्थात् क्या? थोड़ी सूक्ष्म बात पड़ेगी। यह तो एक-एक शब्द का महा अर्थ है! व्यवहारनय अर्थात् भेदवाली कथनशैली, वह व्यवहारनय। अब वह व्यवहारनय सारा ही झूठा है। इसके आश्रय से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। सारा अर्थात् चार प्रकार है। व्यवहार के चार प्रकार हैं। यह गाथा इतनी ऊँची है, बापू! तुमने लिखी है। 'झवेरचन्दभाई' ने इसमें लिखा है कि (कि) छट्ठी और ग्यारहवीं पढ़ना। आ....हा...हा...!

सारा अर्थात्? आत्मा में जो यह राग होता है, वह राग जो जानने में आता है उसको 'असद्भूत उपचार' कहते हैं। 'असद्भूत व्यवहार उपचार' कहते हैं। यह व्यवहार का एक भेद है। जो राग आता है, वह जानने में आता (है)। वह जानने में आता है, इसको असद्भूत व्यवहार 'उपचार' कहने में आता है।

दूसरी बात – जो जानने में उपयोग स्थूल है, सूक्ष्म नहीं; इसलिए जानने में आता है, उसकी अपेक्षा (दूसरा राग) अन्दर बाकी रह जाता है। जानने योग्य दूसरा राग रह जाता है। उस राग को जानना, (उसे) 'असद्भूत व्यवहार अनुपचार' कहते हैं। ऐसी बातें हैं। यह पूरी गाथा ऐसी है। बापू! आहा....! राग है, वह जानने में आये, इसको 'असद्भूत उपचार' आरोप (करके) कहने में (आता है) और उस ही समय (दूसरा) राग है; उपयोग बहुत

स्थूल है, इसलिए वह जानने में नहीं आता, उस राग को असद्भूत अनुपचार व्यवहार कहा जाता है तो ये दो व्यवहार – 'असद्भूत व्यवहार' के दो भेद हो गये।

अब, 'सद्भूत व्यवहार' – राग को आत्मा जानता है – ऐसा कहना सद्भूत उपचारनय है। यहाँ तो इन चारों ही नयों का निषेध करेंगे। पहले चार बतायेंगे और फिर निषेध करेंगे कि वह आदर करने योग्य नहीं। आ...हा...हा...! दो बात समझ में आयी? राग, जो राग होता है, इसमें जानना–नहीं जानना के दो प्रकार पड़ते हैं। क्योंकि उपयोग स्थूल है; इसलिए जाननेयोग्य राग जितना ख्याल में आये इसको 'असद्भूत व्यवहार उपचार' और उस समय जाननेयोग्य जो राग अन्दर बाकी रहता है, उसको असद्भूत अनुपचार व्यवहार कहते हैं। दो बात हुई, असद्भूत व्यवहार की दो बात हुई। बाद में दूसरी दो बात। सद्भूत व्यवहार के दो भाग। 'यह सब ही' (जो कहा उसमें) चार भाग आते हैं।

'आत्मा, राग को जानता है' वह आत्मा का जानना (होता) है, वह सद्भूत-अपनी पर्याय है और पर को जानता है, इसलिए 'सद्भूत उपचार' है। अर...र...! ऐसी बातें अब! राग (को) आत्मा जानता है, वह जानने की दशा, वह सद्भूत-अपनी है, परन्तु राग पर है, उसको जानता (है), इसलिए उसको 'सद्भूत उपचार व्यवहारनय' कहने में आता है। मार्ग तो जो होगा, वह आयेगा, बापू! दूसरा कहाँ से आवे? आहा...हा...!

अनन्त काल से बाहर की गूंथड़ी कर-करके मर गया है! बड़ा बादशाह अरबपति होकर मरा, नरक और निगोद में चला गया है। आहा...हा...! वहाँ किसी ने इसके दुःख के सामने देखा नहीं। भगवान तो ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू मनुष्य में भी युवा अवस्था में इतनी बार मरा कि तेरे मरण समय में तेरी माँ रोवे, इसके आँसू के समुद्र भर जाय। क्या कहा? मनुष्य में जवानी में तू मर गया, वहाँ तेरी माँ के आँसू आये, वह इतनी बार मर गया और इतनी बार आँसू आये कि इन आँसुओं के समुद्र भर जाये। इतनी बार तू मनुष्य में जवानी में मरकर तेरी माँ को तूने रुलाया है। आहा...हा...! परन्तु तूने भवरहित होने की बात अन्दर प्रेम से, रुचि से सुनी नहीं! आहा...हा...!

इसलिए यहाँ कहते हैं (कि) इस व्यवहार के चार भेद हैं, वह निषेध करने योग्य हैं। राग के दो भेद हुए, वह निषेध करने योग्य हैं। अब सद्भूत के दो भेद। ज्ञान स्वयं का

है और राग को जानता है – ऐसा कहना; (वह) अपना है, इसलिए सद्भूत इसे (राग को) जानता है – ऐसा कहना, उपचार-आरोप! वह 'सद्भूत व्यवहार उपचार' कहा जाता है।

चौथो बोल – यह 'ज्ञान, वह आत्मा', 'ज्ञान, वह आत्मा', इतना भेद पड़ा, इसलिए उसे 'सद्भूत व्यवहार अनुपचार' कहा जाता है – ऐसी बात है। इसकी चीज क्या? वह कभी भी सुना नहीं। आहा...हा...!

यहाँ तो, अभी व्यवहार ऐसा है, वह आदरणीय नहीं – ऐसा कहना है। वह चार प्रकार का जो व्यवहार है, वह आदरणीय नहीं। परन्तु अभी व्यवहार को समझता नहीं (कि) किसको व्यवहार कहना! लड़की–लड़के का व्यवहार, उस व्यवहार की यहाँ बात ही नहीं है। वह तो परवस्तु है, इसके साथ तेरा क्या सम्बन्ध है? इसका आत्मा भिन्न, इसका शरीर भिन्न, तेरा आत्मा भिन्न, तेरे शरीर के परमाणु भिन्न।

यहाँ तो तेरे में होनेवाली व्यवहार की दशा की पहले बात है। वह व्यवहार अंगीकार करनेयोग्य नहीं, वह इसे समझाते हैं। उस राग को (जानने के) दो प्रकार (है)। (स्थूल राग को) 'उपचार से जानना' और सूक्ष्म को जानना वह 'अनुपचार से', राग को जानना वह 'सद्भूत उपचार' और ज्ञान वह आत्मा, वह 'सद्भूत अनुपचार', उन सब ही में यह चार बोल आते हैं। आ...हा...हा...!

**व्यवहार नय सब ही...**'सब ही अर्थात् यह चार '**....अभूतार्थ होने से...**' वह व्यवहारनय झूठा है। वस्तु का स्वरूप, वह व्यवहारनय (का विषय) नहीं है। आ...हा...हा...हा...! (यह ग्यारहवीं गाथा) जैन दर्शन का प्राण है।

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की वाणी में मुख्य यह आया है। परमात्मा बिराजते हैं। महाविदेह में वर्तमान (में) साक्षात् समवसरण में बिराजते हैं। इन्द्र और गणधर जाते हैं। नाग, बाघ और सिंह भी जंगल में से समवसरण में सुनने जाते हैं। देव के इन्द्र भी अपना वैभव छोड़कर भगवान के पास सुनने जाते हैं। वह वाणी कैसी होगी, बापू! आ...हा...हा...! देवलोक के इन्द्र का वैभव 32 लाख विमान! एक विमान में असंख्य देव! और करोड़ों अप्सराएँ! इसका स्वामी!! वह समकिती ज्ञानी है, अभी आत्मज्ञानी है, वह भी परमात्मा के पास धर्म की-आत्मा की बात सुनने (जाता है) धर्म प्रगट हुआ है, फिर भी (उसको)

पूर्ण करने के लिए सुनने आता है। ऐसी धर्म की कथा महंगी है!! जो वैभव छोड़कर सुनने जाता है। यहाँ (तो) घर से (निकलता है तो पूछता है) 'साग आया? नहीं, तो मैं साग ले आऊँ बाद में चला जाऊँगा!!' ऐसी तो अभी इसको सुनने की कीमत है। साग ले आए या नहीं? कौन लाया? नहीं (लाये)? नहीं तो मैं ले आऊँ, बाद में (सुनने) जाऊँगा!! इतनी कीमत!! इसको सुनने की कीमत कितनी? आ...हा...हा...!

यहाँ कहते हैं, यह जो व्यवहार के चार भेद कहे, वह अभूतार्थ है। अभूतार्थ अर्थात् झूठा है। वह आत्मा को लाभदायक नहीं है। लक्ष्मीचन्दभाई! यह तुम्हारी लिखी हुई है कि छट्ठी गाथा और ग्यारहवीं गाथा वाँचना। आ...हा...हा... प्रभु! वह व्यवहार है, वह सब ही झूठा है। है अवश्य, परन्तु उसका आश्रय करने योग्य नहीं, वह आदर करने योग्य नहीं; जानने योग्य है। आहा...हा...! अब ऐसी बातें। बाहर के क्रियाकाण्ड की बात तो कहाँ रह गई? अन्तर में राग होता है, उसके दो प्रकार। राग को जानना और ज्ञान, वह आत्मा – ऐसे (चार) भेद हुए, वह भी यहाँ तो झूठे कहे हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

**व्यवहारनय सब ही.... सब ही** अर्थात (यह) चार। **अभूतार्थ होने से अविद्यमान...** (अर्थात्) वस्तु में–स्वरूप में नहीं, वैसी बात करनेवाला व्यवहारनय है; इसलिए वह व्यवहारनय आदरणीय है नहीं। आ...हा...हा...! ऐसी वार्ता, ऐसा उपदेश! **अविद्यमान, असत्य, अभूत...** (अर्थात्) नहीं, ऐसे **अर्थ को प्रगट करता है....** वास्तविक वस्तु–भगवान अभेद है, उसमें भेद नहीं, उसकी (अभेद वस्तु की) व्यवहारनय चार प्रकार से भेद की बात करता है; इसलिए उसे असत्य कहा जाता है। भाषा तो सादी है परन्तु अब पकड़ने, नहीं पकड़ने में तो जीव स्वतन्त्र है। अनन्त काल भटकते हो गया है। बापू! आहा...हा...!

असद्भूत होने से **शुद्धनय एक ही भूतार्थ...** है। वह चार प्रकार के जो नय कहे – ज्ञान के अंश। नय अर्थात् ज्ञान के अंश, वह चार प्रकार (के) कहे, वह सब असत्य है। वह आदरणीय नहीं, आश्रय करने योग्य नहीं, अंगीकार करने योग्य नहीं। आ...हा...हा...! तब (क्या आदरणीय है?) **शुद्धनय एक ही...** आहा...हा...! आत्मा अखण्डानन्द प्रभु अन्दर है, अमृत का सागर भरा है, वह एकरूप अभेद है। उस अभेद को बतानेवाला जो

ज्ञान है, उस ज्ञान को शुद्धनय कहा जाता है। आहा...हा...! व्यवहार जितना कहा, उतना सब आदरणीय नहीं – ऐसा कहा और जो यह निश्चय है... आ...हा...हा...! **एक ही भूतार्थ होने से...** त्रिकाली ज्ञायक चिदानन्द प्रभु! अनन्त गुण का पिण्ड! एकरूप वस्तु है, उसको एकरूप जानना, उसका नाम शुद्धनय कहा जाता है, इसको सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा...! शुद्धनय का विषय त्रिकाली अभेद आत्मा, इसका अनुभव करने से सच्चा समकित – सच्चा दर्शन होता है। तभी उसके भव के अन्त का किनारा आता है। आ...हा...हा...! नहीं तो भव भ्रमण कर–करके मर गया, अनन्त काल से। अनन्त अवतार किए बापा! आहा...हा...!

वह शुद्धनय... फिर वजन कहाँ है? **एक ही! एक ही!** दूसरा नय नहीं। **एक ही भूतार्थ होने से...** एक ही नय सच्चा है। जो त्रिकाली अखण्डानन्द प्रभु अनन्त गुण (स्वरूप एकरूप को विषय करता है)। जैसे शक्कर है, इसमें मिठास, सफेदी वह सब भेद करना, वह व्यवहार है। शक्कर-शक्कररूप है, इसको एकरूप जानना, वह अभेद है; इसी प्रकार भगवान आत्मा को यह ज्ञान के भेद से– इन चार प्रकार से जानना, वह व्यवहार है। वह असत्यार्थ वस्तु है। अन्दर एकरूप चैतन्य वस्तु है। त्रिकाली अभेद अखण्डानन्द प्रभु! इसको जाननेवाला शुद्धनय अर्थात् सम्यग्ज्ञान का अंश, वह एक ही सत्य होने से (आदर करने योग्य है)। भूतार्थ अर्थात् सत्य। आ...हा...हा...!

अन्तर वस्तु भगवान चैतन्य प्रभु अनन्त गुण सम्पन्न है, इतना भेद करना भी व्यवहार है। वह व्यवहार भी छोड़कर, अभेद अखण्डानन्द प्रभु के ऊपर दृष्टि देने से, शुद्धनय का विषय आत्मा, वह उसकी दृष्टि में आता है; इसलिए उस नय को सत्यार्थ कहा जाता है। सत्य वस्तु दृष्टि में आती है; इसलिए उस दृष्टि को सत्य कहा जाता है। जवेरचन्दभाई! आहा...हा...! ऐसा है। ग्यारहवीं गाथा मांगी है न! तुम्हीं ने माँगी है या नहीं?

आहा...हा...! भगवंत! तेरी महिमा का क्या पार कहें प्रभु! आ...हा...हा...! 'प्रभु' तो सब को 'प्रभु' तरीके ही बुलाते हैं। आचार्य ने भी 72 गाथा में ऐसा कहा है। इसमें 72 गाथा है न? भगवान आत्मा! आ...हा...हा...हा...! अनन्त गुणों का पिण्ड है –इतना भेद भी नहीं। भेद भी सद्भूत व्यवहारनय में जाता है। वह एकरूप चैतन्य है; अनन्त गुण का

पिण्ड है, एकरूप है – ऐसा जो शुद्धनय अर्थात् एकरूप को बतानेवाला जो ज्ञान, अभेद को बतानेवाला जो ज्ञान; उस ज्ञान को यहाँ शुद्धनय कहा गया है। वह एक ही भूतार्थ है, वह शुद्धनय एक ही सत्य है। आहा...हा...! है? अन्दर है या नहीं?

दो हजार वर्ष पहले की यह गाथा है। यह टीका है हजार वर्ष पहले की – अमृतचन्द्र आचार्य की। परन्तु दरकार कब की है। आहा...हा...! अरे! अनन्त काल हो गया... 'अनन्त काल से भटका *बिना भान भगवान, सेव्या नहिं गुरु संत को',* **सच्चे सन्त किसे कहना। समकित किसे कहना? सच्चे गुरु किसे कहना? उनकी पहचान बिना, जिस-तिस को सेव्या किन्तु आत्मा की, सत् का सेवन करनेवालों की पहचान इसने नहीं की, और इनकी पहचान नहीं की, इसलिए आत्मा की पहचान नहीं हुई।**

इसलिए कहते हैं कि शुद्धनय जो आत्मा को एकरूप बतानेवाला अन्तरज्ञान, वह एक ही सत्य है। है? शुद्धनय एक ही! एक भूतार्थ है – ऐसा भी नहीं कहा। 'एक ही भूतार्थ है', एकान्त किया है। 'भूतार्थ' अर्थात् सत्य होने से 'विद्यमान' (अर्थात्) जैसा आत्मा का स्वरूप है; अनन्त गुणों का पिण्ड एकरूप अभेद है; एकरूप वस्तु है, उस विद्यमान को बताता है, सत्य को बताता है, विद्यमान अर्थ को वह प्रगट करता है। वह शुद्धनय – जो ज्ञान का अंश त्रिकाल अभेद को देखता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, वह शुद्धनय आत्मा को प्रत्यक्ष प्रगट करके बताता है, अर्थात् अनुभवता है। आहा...हा...! अब ऐसी बातें। चमनभाई! सूक्ष्म बात है, बापा!

यह तो तुम्हारा आमन्त्रण था, इसलिए आना पड़ा, बाकी हमारी बात तो दूसरी है।

**मुमुक्षु –** आपने बहुत उपकार किया।

**पूज्य गुरुदेवश्री –** नहीं तो, हम तो काठियावाड़ में ही रहते हैं – सोनगढ़ में ही 45 वर्ष बिताये। 45 वर्ष में आये और 45 निकाले। वहीं और वहाँ 90 निकाले। वहाँ तो हजारों व्यक्ति आते हैं। जंगल में करोड़ों रुपये डल गये हैं। ***बड़ा तीर्थ हो गया है, वहाँ तो।***

**मुमुक्षु –** आप जहाँ होंगे, वहाँ तीर्थ नहीं होगा तो क्या होगा?

**पूज्य गुरुदेवश्री –** इसके कारण हुआ है। होने के काल हुआ है। छब्बीस लाख का तो एक मकान है – परमागम (मन्दिर) जिसमें पोने चार लाख अक्षर लिखे हैं। वह

छब्बीस लाख का एक मकान। वह (भी) 6 वर्ष पहले की बात है। अभी तो 50 लाख का हो। ऐसा एक परमागम मन्दिर है। **वहाँ तो जंगल में बड़ा मंगल हो गया है!!** परन्तु वहाँ (यह) सुननेवाले सदा होते हैं। सुबह, दोपहर, रात तीनों (समय)। इससे समझना थोड़ा सरल पड़ता है, परन्तु यह नहीं सुना तो उसको यह थोड़ा कठिन पड़ता है। कठिन पड़े, फिर भी इसे समझने जैसा है न प्रभु!

वह शुद्धनय एक ही सत्यार्थ होने से वह 'विद्यमान'—मौजूद पदार्थ आत्मा 'सत्य' वस्तु आत्मा, 'भूत' अर्थात् वास्तविक अर्थ आत्मा, उसे वह **प्रगट करता है।** ज्ञान का जो अंश अन्दर के स्वभाव में अभेद में जाता है, उसे अभेद आत्मा का अनुभव होता है। उसकी पर्याय में उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। वह शुद्धनय आत्मा को प्रगट करता है अर्थात् कि आत्मा में जो अतीन्द्रिय आनन्द है, उस पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करता है। आ...हा...हा...! लक्ष्मीचन्दभाई! जेठाभाई कहाँ गये?

**मुमुक्षु** — गुरुदेव! आपने तो सोनगढ़ में सबको निहाल कर दिया परन्तु अफ्रीका में भी निहाल कर दिया।

**पूज्य गुरुदेवश्री** — आ...हा...हा...! ऐसी बातें हैं, प्रभु क्या कहें!

**मुमुक्षु** — परम उपकार है आपश्री का। परदेश में आकर आपने हमको निहाल कर दिया।

**पूज्य गुरुदेवश्री** — प्रभु! धीरे—धीरे समझने जैसी बात है, भगवान! बाहर की लक्ष्मी, इज्जत सभी धूल धमाल है।

यहाँ तो व्यवहारनय (का) भी निषेध (करते) हैं! आहा...हा...! आत्मा में भेद करके समझाना (कि) 'ज्ञान, वह आत्मा' वह भी सद्भूत अनुपचरित व्यवहार है, वह भी निषेध (करने योग्य) है। आ...हा...हा...! वह (शुद्धनय) सत्य अर्थ को बताता है। **प्रगट करता है।** 'प्रगट करता है'। अर्थात् क्या? वस्तु तो वस्तु है परन्तु ज्ञान का जो अंश अभेद को अनुभवता है, उसको आत्मा के आनन्द का स्वाद आने पर 'यह आत्मा आनन्दमय है' — इस प्रकार आत्मा प्रगट होता है। आ...हा...हा...! ऐसी बात है। इन दो पंक्तियों में तो कितना भरा है। यह कोई कथा नहीं, यह वार्ता नहीं, यह तो अन्दर भगवत्स्वरूप की बात है, प्रभु! आहा...!

व्यवहारनय सब ही झूठा है, क्योंकि वह व्यवहार भेद को बताता है और निश्चयनय एक सत्य है, क्योंकि वह अभेद वस्तु अखण्डानन्द प्रभु! उसका अनुभव कराता है; इसलिए वह निश्चयनय एक ही आदरणीय है। झवेरचन्दभाई! आहा...हा...!

यह तो अब पूरे हिन्दुस्तान में प्रचार हुआ है।

**मुमुक्षु** – पूरी दुनिया में हो गया है।

**पूज्य गुरुदेवश्री** – सोनगढ़ से 22 लाख पुस्तकें छपी हैं। 22 लाख!! और 08 लाख इन पण्डितजी ने जयपुर में छापी हैं। 30 लाख (पुस्तकें) छप गयी हैं। चारों ओर बहुत प्रचार है – लन्दन, अमेरिका में... यह बात सब जगह गई है। थोड़ी... थोड़ी... गन्ध गयी है थोड़ी।

**मुमुक्षु** – पूरी दुनिया में फैल गई है।

**पूज्य गुरुदेवश्री** – परन्तु वस्तु ऐसी है, बापू! आहा...हा...!

**मुमुक्षु** – लन्दन में, अमेरिका में, अफ्रीका में सब जगह प्रचार हो गया है!

**पूज्य गुरुदेवश्री** – हाँ, प्रचार है न.... है न! परन्तु वस्तु समझे उसको यह लाभ हो ऐसा है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु** – विचार करते है तो अन्दर में कुछ होता है। पूरी जिन्दगी पाप में निकाली है।

**पूज्य गुरुदेवश्री** – बात सच है बापू! यह सब किया है, बहुत किया! आहा...हा...! परन्तु जो यह अन्दर में उतारने की चीज है, वह कभी भी सुनी नहीं। सुनी तो भी नकारता है कि यह सूक्ष्म पड़ती है। वह सूक्ष्म पड़ती है – ऐसा करके निकाल देता है। आहा...हा...!

दो न्याय दिये कि व्यवहारनय के जो चार प्रकार है, वह सत्य को प्रगट नहीं करते; मात्र भेद को प्रगट करते हैं; इसलिए वह वस्तुस्थिति नहीं और एक अर्थात् शुद्धनय– सम्यग्ज्ञान का अंश जो अन्तर में जाता है, वह एक ही नय सत्य है कि जो एक नय सत्य प्रगट करता है। जैसा परमात्मस्वभाव आत्मा का है, वैसा उसको प्रगट बताता है, और उसको आनन्द का प्रगट अनुभव होता है। शुद्धनय का विषय जानने पर अन्दर आनन्द का नाथ भगवान, अतीन्द्रिय आनन्द से भरा हुआ – छलाछल भरा है। इस संसार में जितना पैसा

और यह धूल और राजा और रंक ये सभी दुःखी प्राणी हैं। राग के दुःखी, राग की घाणी में पिल रहे हैं। यहाँ तो इनसे भिन्न चीज की बात है। क्या कहा?

**मुमुक्षु** – अज्ञानी को इसमें सुख लगता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री** – अज्ञान में तो चाहे जो माने। बालक होता है। देखा है? बारह महीने का बालक हो, उसे यदि अधिक दूध पिलाया हो तो पतली दस्त हो जाता है। देखा है? वह पतली दस्त हो जाये तो गर्मी में ऐसा ठण्डा लगता है। वह बालक पतली दस्त ऐसा चाटे! दूध अधिक दे दिया गया हो तो उस बालक को पतली दस्त हो जाती है, गर्मी के दिन हों, उसकी माँ उसके दो पैर ऐसे करके बैठाया हो, मल विसर्जित करने! पतली दस्त हो उसे वह चाटे! इसी प्रकार अनादि से अज्ञानी, बालक की तरह आत्मा के आनन्द को भूलकर राग और द्वेष की विष्टा को चाटता है! यहाँ किसी की शर्म नहीं, यहाँ किसी की लाज नहीं। यहाँ तो भगवान तीन लोक के नाथ! जो (बात) जगत में प्रगट करते हैं, वह यहाँ प्रगट होता है। आड़तिया की तरह यह बात आचार्य महाराज करते हैं। आ...हा...हा...हा...! 'कुन्दकुन्दाचार्य', जिस तरह आड़तिया होता है न.... ऐसे तीर्थंकर के आड़तिया हैं। वे आड़तिया की तरह बात करते हैं। समझ में आया?

**यह बात दृष्टान्त से बताते हैं...** कहते हैं कि इसको समझाने के लिए हम दृष्टान्त देते हैं। आहा...हा...! **जैसे, प्रबल कीचड़ के मिलने से...** पानी में कीचड़ मिलने से **जिसका सहज एक निर्मलभाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है...** पानी का निर्मल स्वभाव–निर्मलभाव, कीचड़ के कारण ढँक गया है। कीचड़ का भाव सामने आ गया है। कीचड़... **प्रबल कीचड़ के... प्रबल कीचड़ के** (लिखा है), अकेला कीचड़–ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! **प्रबल कीचड़ के मिलने से जिसका सहज एक निर्मल भाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है ऐसे जल का...** पानी में कीचड़ के मिलने से पानी मलिन दिखता है। वह मैल इसका स्वरूप नहीं; मैला तो कीचड़ के कारण दिखता है। इसका स्वभाव तो निर्मल और ठण्डा है। जल! उस **जल का अनुभव करनेवाले पुरुष....** आहा...हा...! **जल और कीचड़ का विवेक न करनेवाले...** वह पानी और कीचड़ दोनों साथ हैं – (ऐसा माननेवाले)। एक गाँव ऐसा था। एक गाँव 'मूली' के पास

में है। वहाँ एक तालाब है (उसमें) पानी मैला ही है। वहाँ कुआँ नहीं है। हम एक बार वहाँ गये थे तो हमको मैला पानी दिया (और कहा) 'महाराज! यहाँ तो मैला पानी (मिलता है)। पानी सब मैला होता है, कुआँ नहीं। मैलवाला पानी। बाद में घर जाकर–निथारे तो (स्वच्छ) हो जाए और इसको ऐसा जो पीवे.... अज्ञानी अनादि से इसको ऐसा ही पीता है। (ऐसा) कहते हैं। अन्दर भगवान निर्मलानन्द जल पड़ा है। यह जल निर्मल है, परन्तु कीचड़ के कारण मलिन दिखता है।'

**ऐसे जल का अनुभव करनेवाले पुरुष, जल और कादव का विवेक नहीं करनेवाले...** आ...हा...हा...! उस पानी और कीचड़ की भिन्नता को नहीं जाननेवाले **बहुत से तो –... बहुत से तो** ऐसा लिया है। सब तो नहीं। ज्ञानी तो अन्दर आत्मा का अनुभव करते हैं, इसलिए सब नहीं (परन्तु) बहुत से–अज्ञानी जीव आहा...हा...! लौकिक अज्ञानी, कीचड़सहित जल को पीते हैं – ऐसा कहते हैं। आहा... यह तो दृष्टान्त है हों! **...बहुत से तो उसको (जल को)मलिन ही अनुभवते हैं;....** पानी मैला है, यह पानी, पानी मैला है – ऐसा यह जानता है। पानी मैला नहीं, मैला तो कीचड़ के कारण दिखता है। आ...हा...हा...!

**किन्तु कितने ही अपने हाथ से डाले हुए कतकफल...** एक निर्मल औषधि होती है। पंसारी की दुकान पर एक निर्मल औषधि होती है। इसको (पानी में) डाले तो कीचड अलग हो जाता है, पानी अलग हो जाता है – ऐसा इसका स्वभाव है। इस प्रकार **(निर्मली औषधि)के पड़नेमात्र से उत्पन्न हुआ....**जब निर्मल औषधि डाले, तब पानी और कीचड़ दोनों भिन्न हो जाते हैं। **जल और कीचड़ के विवेकता से अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किए गये...** निर्मली औषधि स्वयं ने डाली है। नौकर से कहकर डाली नहीं है – ऐसा कहते हैं। नौकर से कहा नहीं (कि) तू इसमें निर्मल औषधि डाल। इसमें स्वयं ने डाली है। इसलिए कहते हैं आहा...! **अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किए गये...** अर्थात् स्वयं ने पानी में–कीचड़ में निर्मली औषधि डाली और देखा कि पानी तो बिलकुल निर्मल है, कीचड़ भिन्न है। आहा...हा...!

**सहज एक निर्मल भावपने से उस जल को निर्मल ही अनुभव करते हैं....** विवेकपना जिसको नहीं, वे कीचड़सहित अनुभव करते हैं। और **(निर्मल औषधि)के**

**पड़नेमात्र से उत्पन्न जल–कीचड़ के विवेकता से अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किए गय सहज एक निर्मलभावपने से उस (जल को) निर्मल ही अनुभव करते हैं।...** पानी को निर्मल अनुभवते हैं। स्वयं के पुरुषार्थ से निर्मली औषधि डालकर कीचड़ से भिन्न जल को अनुभवते हैं। वह दृष्टान्त (हुआ)।

इसी प्रकार....। उस दृष्टान्त की तरह... **प्रबल कर्म के मिलने से...** आहा...हा...! भगवान तो निर्मलानन्द है, किन्तु जड़ कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में आने से, निमित्त के सम्बन्ध में आने से; कर्म से नहीं, किन्तु उसके सम्बन्ध में आने से। '**कर्म के मिलने से**– ऐसा कहा है न?' कर्म का निमित्त हुआ। **जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है...** आहा...हा...! थोड़ी सूक्ष्म बात है। अनादि आत्मा सहज ज्ञायकभाव है, वह तो कभी भी तिरोभूत नहीं होता – ढँकता नहीं, फिर भी यहाँ तिरोभूत कहा। अर्थात् (क्या)? उस कर्म के मैल को अनुभव करनेवाला, साक्षात् चैतन्य है, उसको जानता नहीं, इसलिए उसको तिरोभूत है। मैलवाले आत्मा को अनुभव करनेवाले को वह ज्ञायकभाव ढँका हुआ – तिरोभूत है। ज्ञायकभाव तिरोभूत और आविर्भूत हो सकता नहीं। क्या कहते हैं? पण्डितजी! ज्ञायकभाव तो त्रिकाल निरावरण, निर्मल ही है, किन्तु मैल से अनुभव करनेवाले को चीज है, वह दिखती नहीं, मैल दिखता है; इसलिए उसको तिरोभूत कहने में आता है। वस्तु तिरोभूत नहीं हुई। थोड़ी सूक्ष्म बात है।

आत्मा तो निर्मलानन्द शुद्ध है, किन्तु कर्म के, राग के, द्वेष के, पुण्य-पाप के भाव से मलिन अनुभवता है; इसलिए उसे अन्दर ज्ञायकभाव विद्यमान है, वह ढँकता नहीं, परन्तु मल–मैल के अनुभव करनेवाले को अनुभव में नहीं आता, उसे ढँका हुआ दिखाई देता है। समझ में आया? जो ज्ञायकभाव है – चैतन्यप्रभु–द्रव्य, वह तो त्रिकाल निरावरण है। जो अन्दर चैतन्य–प्रकाश का पूर है। आ...हा...हा...हा...! सच्चिदानन्द प्रभु द्रव्य-वस्तु त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाल अखण्ड एक अविनाशी है! वह कोई तिरोभूत और आविर्भूत होता नहीं। 'तिरोभूत' अर्थात् ढँकना और 'आविर्भाव' अर्थात् प्रगट होना, वह ज्ञायकभाव में होता नहीं, परन्तु राग और द्वेष का अनुभव करनेवाले को, वह ज्ञायकभाव प्रगट होने पर भी, राग के अनुभव करनेवाले को वह ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, उसको ढँक गया है। आहा...हा...! समझ में आया उसमें?

ज्ञायकभाव तिरोभूत होता नहीं, परन्तु राग के अनुभव करनेवाले के तिरोभूत है। कारण कि इसकी दृष्टि वहाँ नहीं, (उसके) राग की दृष्टि है। पुण्य और पाप के विकल्प में पड़ा, वहाँ पड़ा, वहाँ फँस गया है। इसलिए ज्ञायकभाव प्रगट वस्तु होने पर भी, उसको तिरोभूत अर्थात् ढँक गई है। प्रगट है, वह अज्ञानी के ढँक गई है। वस्तु ढँकी नहीं। आहा...हा...! जरा अन्तर (लगता है किन्तु) थोड़े शब्द में भी अन्तर है।

ज्ञायकभाव त्रिकाली चैतन्यरसकन्द है, प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप है। प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और ब्रह्म अर्थात् आनन्द। वह ज्ञान और आनन्द स्वरूप है, वह तो त्रिकाल निरावरण है, उसको आवरण (नहीं) – वस्तु में आवरण नहीं होता। वस्तु में आवरण हो तो वस्तु अवस्तु हो जाए। समझ में आया? आ...हा...हा...! ऐसी बातें हैं। परन्तु वह प्रगट चीज अन्दर होने पर भी, उसके ऊपर नजर नहीं करके, अकेला पुण्य-पाप, राग-द्वेष में नजरवाले को वह प्रगट चीज है, वह अप्रगट अर्थात् तिरोभूत-ढँक गई है। मैल का-राग का अनुभव करनेवाले के चीज प्रगट होने पर भी, उसको ढँक गई है। आहा...हा...! भाषा पाठ ऐसा है। आहा...हा...!

(समयसार) 320 गाथा में तो कहा है कि जो चैतन्यरसकन्द वस्तु है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाल निरावरण है, अखण्ड है, एक है, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है, अविनश्वर है, शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मतत्त्व द्रव्य तो त्रिकाली शुद्ध ही है। इसमें कभी भी अशुद्ध और शुद्ध ऐसे भेद नहीं पड़ते। वस्तु तो ज्ञायक (है), वह त्रिकाल है, किन्तु अज्ञानी को राग के अनुभव के सामने ज्ञायकभाव अन्दर होने पर भी, उसकी तरफ दृष्टि नहीं; इसलिए उसको – राग के अनुभववाले को, ज्ञायकभाव प्रगट होने पर भी तिरोभूत हो गया है। आ...हा...हा...! यह तो सिद्धान्त है! आहा...हा...! पचाने के लिए समय चाहिए, बापू! आहा...हा...!

जैसे, पानी निर्मल होने पर भी, कीचड़वाला अनुभवते हैं – उसको पानी तिरोभूत हो गया है, ढँक गया है। पानी तो निर्मल है परन्तु कीचड़सहित पीनेवाले को पानी ढँक गया है। इस कारण (ढँक गया है बाकी) पानी तो पानी है। पानी में कुछ ढँका नहीं। ऐसे ही आत्मा ज्ञायकभाव है, चैतन्य आनन्दरस है, सच्चिदानन्द ध्रुव नित्यानन्द है, अविनाशी परमात्मस्वरूप है, वह तो त्रिकाल निरावरण है, किन्तु उसके ऊपर जिसकी दृष्टि नहीं और राग के, दया-दान के, काम-क्रोध के विकारी परिणाम (के) ऊपर नजर है, उसको

(वस्तु) प्रगट होने पर भी अप्रगट है, उसको तिरोभूत–ढँक गई – ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! इसमें कितना याद रखना! इस शब्द का अर्थ सूक्ष्म है। **प्रबल कर्म के उदय मिलने से जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है...** इस शब्द का यह अर्थ है। सहज ज्ञायकभाव कभी भी तिरोभूत नहीं होता। पण्डितजी! आहा...हा...! भगवान तो द्रव्यस्वरूप-वस्तुस्वरूप स्फटिकमणि की तरह निर्मलानन्द (स्वरूप है)। कल कहा था न।

**जैसे निर्मलता रे स्फटिक की, वैसे ही जीव स्वभाव रे**
**श्री जिन वीर रे धर्म प्रकाशिया, प्रबल कषाय अभाव रे॥**

भगवान ने पुण्य और पाप के कषाय से रहित धर्म बताया है, उसको वह देखता नहीं और राग को देखता (है) और पुण्य को देखता है कि मैंने पुण्य किया, और मैंने यह किया और मैंने यह किया...। पुण्य आदि को देखनेवाले को, ज्ञायकभाव त्रिकाल निरावरण होने पर भी उसको वह प्रगट नहीं होता। राग का अनुभव करनेवाले को नहीं दिखता, इसलिए उसको तिरोभूत हो गया है – ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! ऐसी बातें हैं! ऐसा धर्म किस प्रकार का! बापू! धर्म का स्वरूप ऐसा है, भाई! भगवन्त! तेरी चीज कोई अन्दर भिन्न है, अलौकिक है, तूने उसे सुना नहीं। भाई! आहा...हा...!

यह क्या कहा? कि जो आत्मा है, वह तो ज्ञायकस्वरूप सच्चिदानन्द, सत्-चिदानन्द, ज्ञानानन्द, त्रिकाल चिदानन्दस्वरूप है। इसको तो कोई आवरण या मलिनता है नहीं – ऐसी चीज वह अन्दर है, किन्तु ऐसी चीज होने पर भी, जिसको राग, पुण्य और पाप के भाव ऊपर लक्ष्य है, उसको वह लक्ष्य में आता नहीं, इसलिए प्रगट चीज होने पर भी, उसको तिरोभूत–ढँक गया – ऐसा कहने में आता है। आ...हा...हा...! ऐसी बात है प्रभु!

आ...हा...! प्रगट चीज है, त्रिकाल निरावरण है। अन्दर त्रिकाल अखण्ड एकरूप है, परमात्मस्वरूप अखण्डानन्द एकरूप है। वह कभी भी – ढँकना (या) आविर्भाव / प्रगट होना – ऐसे दो बोल उसको लागू नहीं होते। समझ में आया? परन्तु जिसकी दृष्टि अनादि से ज्ञायकभाव सच्चिदानन्द प्रभु के ऊपर नहीं होने से और पुण्य और पाप, और दया और दान, ऐसे राग के ऊपर लक्ष्य होने से, 'उसको' ढँक गया है – ऐसा कहने में आता है। आ...हा...हा...!

ऐसी बात है प्रभु! ऐसा उपदेश है। हमारे वहाँ तो पैंतालीस वर्ष से चलता है। 'सोनगढ़' में तो यह पैंतालीस वर्ष से चलता है। वहाँ उन्नीसवीं बार 'समयसार' चलता है। अठारह बार तो बँच गया। अक्षर-अक्षर, अर्थ, हों! अक्षर-अक्षर का अर्थ करके अठारह बार बँच गया। उन्नीसवीं बार चलता है, वहाँ सुननेवाले रामजीभाई जैसे वकील, 97 वर्ष की उम्र, 97 वर्ष की उम्र तीस वर्ष पहले 200 रुपये लेते, पाँच घण्टे कोर्ट में जाए, 200 (रुपये) लेते। 35 वर्ष पहले, हों! अभी की कीमत, पहले के एक लाख और अभी के 25 लाख दोनों समान, क्योंकि भाव, सबके बढ़ गये न भाव? पैसे की कीमत घट गयी। आहा...हा...! वे रामजीभाई जैसे समझनेवाले सामने बैठे होते हैं, बड़े, 97 वर्ष की उम्र के। वहाँ बँचता रहता है, इसलिए बहुत सूक्ष्मता होती है! भाई! यहाँ तो अन्दर पद्धतिसर बात चलती है।

(यहाँ कहते हैं) जल मैला है – ऐसा नहीं। वैसे आत्मा मैला है – ऐसा नहीं परन्तु जल को कीचड़ से अनुभवनेवाले को जल ढँक गया है। जल तो जल ही है परन्तु कीचड़सहित का अनुभव करनेवाले को जल ढँक गया है। उसी प्रकार भगवान चिदानन्द प्रभु, ज्ञायकभाव सत्.... सत्.... है, वह कभी भी न हो, ऐसा नहीं। सत् है, उसका कभी भी नाश हो, ऐसा नहीं। सत् है, उसको कभी कोई आवरण नहीं होता। सत् है, उसको कमी होती नहीं! सत् है, उसमें विकार होता नहीं। आ...हा...हा...हा...! ऐसी वह चीज अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है, किन्तु राग के अनुभवनेवाले को... आहा...हा..! ऐसी चीज पड़ी है, फिर भी पर्याय ऊपर दृष्टि है (उस कारण तिरोभूत हो गई है)। पर्याय अर्थात्; अवस्था, राग ऊपर दृष्टि है। इसलिए वह विद्यमान चीज है। वह ढँक (गई है) आँखें बन्द तो और वस्तु सामने हो किन्तु आँखें बन्द हैं तो वस्तु नहीं ऐसा (हुआ), उसके लिए तो नहीं ऐसी हो गई न? आँख बन्द हो गई है (और) सामने चीज आई सोना या चाँदी (किन्तु उसको वह दिखती नहीं) ऐसे (ही) यह चीज तो अन्दर है! आ...हा...हा...हा...! परन्तु पुण्य और पाप की विकल्प के–राग के प्रेमियों को आत्मा ढँक गया दिखता है। इसका आत्मा तिरोभूत हो गया दिखता है। है? **प्रबल कर्म के मिलने से जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है – ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले...** वह कैसे होते हैं?

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## गाथा–14

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेस–मसंजुत्तं तं सुद्ध–णयं वियाणीहि ।।14।।

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेष–मसंयुक्तं तं शुद्ध–नयं विजानीहि ।।14।।

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव। इत्यात्मैक एव प्रद्योतते।

कथं यथोदितस्यात्मनोऽनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्।

तथा हि – यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

तथात्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलन्तमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलन्तमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

यथा च काञ्चनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं काञ्चनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम–भूतार्थम्। तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूययौष्ण्यमानतायामभूतार्थम्।

यथा चापां सप्तार्चि:प्रत्ययोष्णसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थ–मप्येकान्तत: शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मन: कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्व–पर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकान्तत: स्वयं बोधं जीवस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम–भूतार्थम्।।१४।।

उस शुद्धनय को गाथासूत्र से कहते हैं —

**अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्म को।**
**अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जान जो॥14॥**

**गाथार्थ :** [ यः ] जो नय [ आत्मानं ] आत्मा को [ अबद्धस्पृष्टम् ] बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित, [ अनन्यकं] अन्यत्व रहित, [ नियतम् ] चलाचलता रहित, [ अविशेषम् ] विशेष रहित, [ असंयुक्तं ] अन्य के संयोग से रहित — ऐसे पाँच भावरूप से [ पश्यति ] देखता है [ तं ] उसे, हे शिष्य! तू [ शुद्धनयं ] शुद्धनय [ विजनीहि ] जान।

**टीका :** निश्चय से अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त — ऐसे आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है; इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है। ( शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा सब एक ही हैं, अलग नहीं )। यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है, वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ? उसका समाधान यह है — बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ हैं इसलिए यह अनुभूति हो सकती है। इस बात को दृष्टान्त से प्रगट करते हैं — जैसे कमलिनी-पत्र जल में डूबा हुआ हो तो उसका जल से स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर जल स्पर्शित होना भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जल से किंचित् मात्र भी न स्पर्शित होने योग्य कमलिनी-पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसी प्रकार अनादि काल से बँधे हुए आत्मा का, पुद्गलकर्मों से बँधने-स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। तथा जैसे मिट्टी का, ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि पर्यायों से अनुभव

करने पर अन्यत्व भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित ( — सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे ) एक एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है-असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर ( पर्यायों के अन्य-अन्यरूप ) अन्यत्व भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित ( सर्व पर्यायभेदों से किंचित् मात्र भेदरूप न होनेवाले ) एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। जैसे समुद्र का, वृद्धिहानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता ( अनिश्चितता ) भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, वृद्धिहानिरूप पर्यायभेदों से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर ( निश्चल ) आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। जैसे सोने का, चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं - ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। जेसे जल का, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णता के साथ संयुक्ततारूप-तप्ततारूप-अवस्था से अनुभव करने पर ( जल का ) उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि एकान्त शीतलतारूप जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर ( उष्णता के साथ ) संयुक्तता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोह के साथ संयुक्ततारूप अवस्था से अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकान्त बोधरूप ( ज्ञानरूप ) है ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।

भावार्थ : आत्मा पाँच प्रकार से अनेकरूप दिखाई देता है — ( 1 ) अनादि काल से कर्म पुद्गल के सम्बन्ध से बँधा हुआ कर्मपुद्गल के स्पर्शवाला दिखाई देता

**है, ( 2 ) कर्म के निमित्त से होनेवाली नर, नारक आदि पर्यायों में भिन्न-भिन्न स्वरूप से दिखायी देता है — ( 3 ) शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद ( अंश ) घटते भी हैं, और बढ़ते भी हैं-यह वस्तु स्वभाव है इसलिए वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता, ( 4 ) वह दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेषरूप दिखायी देता है और ( 5 ) कर्म के निमित्त से होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामों कर सहित वह सुखदुःखरूप दिखाई देता है। यह सब अशुद्ध-द्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय का विषय है। इस दृष्टि ( अपेक्षा ) से देखा जाये तो यह सब सत्यार्थ है। परन्तु आत्मा का एक स्वभाव इस नय से ग्रहण नहीं होता, और एक स्वभाव को जाने बिना यथार्थ आत्मा को कैसे जाना जा सकता है? इसलिए दूसरे नय को — उसके प्रतिपक्षी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय को ग्रहण करके, एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर, उसे शुद्धनय की दृष्टि से सर्व परद्रव्यों से भिन्न, सर्व पर्यायों में एकाकार, हानिवृद्धि से रहित, विशेषों से रहित और नैमित्तिक भावों से रहित देखा जाये तो सर्व ( पाँच ) भावों से जो अनेक प्रकारता है, वह अभूतार्थ है — असत्यार्थ है।**

## प्रवचन–3, गाथा–14

यह 'समयसार' ! गाथा चौदह ! शिष्य का प्रश्न था कि तुम शुद्ध आत्मा जो कहते हो, वह क्या है? जिसका सम्यग्दर्शन हो–जिसका सच्चा दर्शन हो, जिसका अनुभव हो, वह चीज है क्या? शिष्य का ऐसा शुद्धता का प्रश्न था। अशुद्धता का प्रश्न उसका नहीं था। पुण्य और पाप कैसे हो? ऐसा उसका प्रश्न नहीं था। इसका उत्तर देते हैं। अपने तो यहाँ तक आया है।

निश्चय से आत्मा मुक्तस्वरूप है। द्रव्य जो है; द्रव्य अर्थात् वस्तु, वह अबद्ध है ( अर्थात् ) बँधी हुई नहीं है। उसको राग और कर्म के सम्बन्ध का बन्ध नहीं। त्रिकाली चीज है, वह निरावरण है। सूक्ष्म बात है प्रभु ! अन्दर त्रिकाली चीज है, वह निरावरण अबद्ध है। पहला शब्द है न अबद्ध? उसको बन्ध–सम्बन्ध नहीं। अन्दर ऐसी एक चीज है।

अनन्य है अर्थात् कि अन्य-अन्य भावरूप नहीं। उसका अनन्य भावस्वभाव

चैतन्यरूप है और नियत (अर्थात्) निश्चय है। उसकी पर्याय में अनेकपना दिखायी देता है, वह वास्तविक तत्त्व नहीं। नियत अर्थात् निश्चय त्रिकाली चीज है, उसे यहाँ नियत कहा गया है। 'निश्चय' कहा गया है। अविशेष (अर्थात्) उसमें विशेषपना भी नहीं, अर्थात् आत्मा वस्तु है और उसके ज्ञान, दर्शन और आनन्द – ऐसे गुण (हैं) – ऐसा भेदरूप विशेष नहीं; वह अविशेष है (अर्थात्) सामान्य है। सूक्ष्म बात है, भाई!

सम्यग्दर्शन – धर्म की पहली शुरुआत कोई अलौकिक है! अनन्त काल में इसमें पुण्य–पाप अनन्त बार किये और यह तो चार गति में भटककर मर रहा है। वर्तमान (में) कुछ भी अनुकूलता देखता है, वहाँ आसक्त हो जाता है किन्तु बाहर की ऐसी अनुकूलता तो अनन्त बार मिली है। अन्तर की अनुकूलता इसने कभी भी देखी नहीं और देखने का इसने प्रयत्न भी नहीं किया।

(यहाँ) यह कहते हैं – वह तो अविशेष है। क्या कहते हैं? वस्तु है, वह विशेष नहीं अर्थात् कि सामान्य है अर्थात् कि गुण-गुणी का भेद भी जिसमें नहीं। आहा...हा...! ऐसी वस्तु! और 'असंयुक्त' है। उसको दुःख का सम्बन्ध है ही नहीं। आकुलता उसके स्वभाव में है ही नहीं; वह तो निराकुल आनन्दकन्द प्रभु है। ऐसे आत्मा की जो अनुभूति... आहा...हा...! ऐसे आत्मा का जो अनुभव.... वस्तु त्रिकाली सामान्य है परन्तु उस ध्रुव का अनुभव पर्याय में (होता है)। वह पर्याय में (जो) अनुभव (होता) है, उसको यहाँ 'अनुभूति' कहते हैं। द्रव्य में अनुभूति नहीं होती (कारण कि) द्रव्य ध्रुव है, वह एकरूप त्रिकाल है। उसके सन्मुख होने पर, राग और पर्याय और विकार से विमुख होने पर और स्वभावसन्मुख होने पर उसका जो अनुभव होता है, वह 'शुद्धनय' है। शुद्धनय अर्थात् वास्तविक नय वह है, यथार्थ दृष्टि वह है। आ...हा...हा...! **और वह अनुभूति आत्मा ही है;...** आ...हा... हा...! राग और पुण्य–पाप का अनुभव, वह तो अनात्मा है; वह आत्मा का अनुभव नहीं। आहा...हा...!

यह अनन्त काल में स्वर्ग में अनन्त बार गया। नौवें ग्रैवेयक... ग्रीवा अर्थात् ग्रैवेयक, यह चौदह ब्रह्माण्ड है, वह पुरुष के आकार है। बाद में खाली हिस्सा आकाश (है) परन्तु जीव–जड़ से भरा हुआ (यह) चौदह राजू लोक असंख्य योजन में है, वह पुरुष के आकार

है – यह चौदह ब्रह्माण्ड। उसकी ग्रीवा अर्थात् यह 'डोक' ! ग्रीवा के स्थान पर देव के विमान हैं, जिसे ग्रैवेयक कहते हैं। वह ग्रैवेयक में भी क्रियाकाण्ड करके, महाव्रत आदि पालकर, अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में अनन्त–अनन्त पुद्गलपरावर्तन किये हैं। नौवें ग्रैवेयक में अनन्त भव किये हैं। आहा...हा... ! किन्तु आत्मज्ञान क्या चीज है ? उस तरफ इसने ध्यान नहीं दिया। उसकी गरज नहीं की। बात आये तब 'वह सूक्ष्म... यह सूक्ष्म है... वह अपने लिए नहीं' – ऐसा करके बात निकाल दी हैं !

प्रभु ! यहाँ कहते हैं कि **वह अनुभूति आत्मा ही है;...** आत्मा 'ही' है – ऐसा लिया। चन्दुभाई ! आत्मा (है, ऐसा) नहीं; आत्मा 'ही' है। अर्थात् ? भगवान आत्मा जो अतीन्द्रिय आनन्द और निश्चय शुद्ध स्वभाव है, उसका अनुभव होना, उसके सन्मुख होकर अनुभव होना, वह राग और विकार नहीं; वह निर्विकारीदशा है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, अनुभव है, वह आत्मा की पर्याय है, उसे यहाँ 'आत्मा' कहा गया है। आहा...हा...हा... ! है ? अन्दर पृष्ठ में तो है, पृष्ठ में तो है (परन्तु) आत्मा में नहीं। आहा...हा... !

वह अनुभूति आत्मा ही है। **इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है।** अन्तर सम्यक् श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को देखने पर, परतरफ का झुकाव छोड़कर, अन्तर्मुख देखने पर आत्मा एकरूप ही प्रकाशमान है। उसमें भेद नहीं, विकार नहीं, पर्याय का भेद भी उसमें नहीं। सूक्ष्म बात है भाई ! आ...हा...हा... ! ऐसा जो आत्मा, (वह) एक ही प्रकाशमान है। **एक ही** प्रकाशमान है – ऐसा कहा है। पर्याय का भेद भी वहाँ प्रकाशमान नहीं है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई ! सूक्ष्म बात है। अनन्त काल से इसको पकड़ने की दरकार की (नहीं)। भाषा कैसी है ? **आत्मा एक ही प्रकाशमान है।** गुण–गुणी का भेद (भी) नहीं, राग नहीं, विकल्प नहीं; एकरूप चैतन्यस्वरूप (पर) अन्तरदृष्टि डालने पर अकेला आत्मा ही लक्ष्य में – अनुभव में आता है, उसे शुद्धनय कहो, ....है तो अनुभूति, अर्थात् कि त्रिकाली चीज का अनुभव, अर्थात् कि अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव। वह अनुभव है, वह पर्याय है। पर्याय अर्थात् कि द्रव्य की वर्तमान दशा है। त्रिकाली (द्रव्य) वह नहीं। वह वर्तमान दशा होने पर भी, त्रिकाल के अवलम्बन से जो निर्मल अनुभूति हुई, उस

पर्याय को आत्मा भी कहा है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। एक ही प्रकाशमान है। शुद्धनय कहो, सम्यग्ज्ञान का शुद्धनय कहो, अनुभूति कहो, आत्मा की अनुभूति कहो या आत्मा कहो, एक ही है। तीनों बातें एक ही हैं; अलग नहीं। आहा...हा...हा...!

राग से भिन्न पड़ने पर, प्रभु! अनन्त (आत्मा) मुक्ति में गये हैं। अनन्त आत्माएँ मुक्तदशा में पधारे हैं। परमात्मा की वाणी में सिद्धान्त में एक लेख है कि 6 माह और 8 समय में 608 (जीव) मुक्ति प्राप्त करते हैं। छह महीने और आठ समय में! इस अढ़ाई द्वीप के अन्दर मनुष्य हैं। बाकी (अढ़ाई द्वीप के बाहर) असंख्य द्वीप, समुद्र तो पशुओं से भरा है, तिर्यंच! अढ़ाई द्वीप है, उसमें ही मनुष्य है। उसके सिवाय जो असंख्य द्वीप–समुद्र है, उसमें अकेले तिर्यंच – पशु, सिंह, बाघ, समुद्र में मछली और मगरमच्छ भरे हुए हैं। मनुष्य तो केवल इस अढ़ाईद्वीप के अन्दर है – 45 लाख योजन के अन्दर! उसमें से भी 6 महीने और 8 समय में 608 (जीव) मुक्ति प्राप्त करते हैं। आ...हा...हा...हा...! अभी यहाँ से भले मुक्ति नहीं, भरत-ऐरावत (में से) (परन्तु) महाविदेह में भगवान विराजमान हैं, वहाँ से भी 6 महीना और 8 समय में 608 (जीव) मुक्ति प्राप्त करते हैं। अभी भी प्राप्त करते हैं। आ...हा...हा...!

वह यहाँ कहते हैं, **वह अनुभूति आत्मा ही है। इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है।** उसको **(शुद्धनय कहो या आत्मा की अनुभूति कहो या आत्मा कहो – एक ही है, अलग नहीं) यहाँ शिष्य पूछता है...** अब शिष्य का प्रश्न है कि **जैसा ऊपर कहा है, वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?** प्रभु! तुम यह बात करते हो परन्तु यह सब दिखायी देता है – राग, द्वेष, शरीर, कर्म सभी का सम्बन्ध दिखायी देता है। वह (सब) है और तुम यह बात ऐसी करते हो? तो उसका अनुभव किस प्रकार हो (सकता है)? इसमें बाहर की चीज नहीं? राग, द्वेष, पुण्य, पाप सब भरे हैं, कर्म का सम्बन्ध है। (उस कारण ऐसा पूछता है कि) **जैसा ऊपर कहा वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?** यह सब पड़ा है न? आहा...हा...! यह अन्दर पुण्य–पाप की सब होली जल रही है न? वह विद्यमान वस्तु तुम कहते हो कि उसका अनुभव कर... अनुभव कर... अनुभव कर! आ...हा...हा...! ...लालजी! बात ऐसी है, भगवान! यहाँ तो ऐसी बात है!

आहा...हा...! यह दिखायी देता (है) सब–राग दिखे, पुण्य दिखे, पाप दिखे और तुम कहते हो कि ऊपर (कहा) ऐसा आत्मा का अनुभव करना, तो यह किस प्रकार है? उसका होना कैसे बनता है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। समझ में आया?

उसका समाधान सन्तों–वीतरागी मुनि, परमात्मा कर रहे हैं। तीन लोक के नाथ के मुख में से निकली हुई वाणी, 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे।' तीन लोक के नाथ परमात्मा! उनकी ॐ ध्वनि होती है। ऐसी भाषा नहीं होती, उनके होठ हिलते नहीं, कण्ठ कम्पित नहीं होता, जीभ हिलती नहीं और पूरे शरीर में से ॐ ध्वनि उठती है। 'ॐ' ऐसी आवाज उठती है। वह 'ॐ' कार धुनी सुनी अर्थ गणधर विचारे।' सन्तों के टोलों के गणधर (अर्थात्) गण के धारक – मुखिया उसका विचार करते हैं और उसमें से आगम रचे। 'ॐकार धुनी सुनी अर्थ गणधर विचारे, वे आगम रचि भविक जीव संशय निवारे।' उन्होंने आगम की रचना की और भव्य प्राणी – जो योग्य प्राणी हैं, वे सुनकर अपना संशय निवारकर – मिथ्यात्व निवारकर अनुभव करते हैं, ऐसी (यह) बात है, कहते हैं। यह 'बनारसी विलास में है, यह शब्द कहे वह। बनारसीविलास पुस्तक है न? (यहाँ तो) बहुत लाखों पुस्तकें देखी हैं। यह एक एक! धन्धा ही पूरी जिन्दगी यह किया है। (मात्र) पाँच वर्ष दुकान चलाई थी। उस दुकान पर भी वाँचता था मैं यह–शास्त्र! आहा...हा...! **यह वस्तु तो अन्दर से आई है**!! आहा...हा...!

(यहाँ) कहते हैं कि एक बार सुन तो सही, प्रभु! यह बन्ध और राग दिखायी देता है, प्रभु! और तुम कहते हो कि इसका (स्वभाव का) अनुभव होता है; और राग आदि का अनुभव नहीं होता, तुम यह क्या कहते हो? शिष्य का यह प्रश्न है। है? **जैसा ऊपर कहा...** (अर्थात्) अभेद और निश्चय (स्वरूप); **वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?** ऐसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती? क्योंकि यह सब पड़ा है न? बात समझ में आयी? आहा...हा...! असंख्य प्रकार के पुण्यपरिणाम, पापपरिणाम, असंख्य प्रकार के पुण्यभाव हैं, पाप भी असंख्य प्रकार का है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के असंख्य प्रकार हैं; पाप परिणाम में हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, वह भी असंख्य प्रकार के हैं। अतः ऐसे असंख्य प्रकार के पुण्य और पाप (के परिणाम की) मौजूदगी दिखायी देती है,

उसमें तुम कहते हो कि इनसे रहित अनुभव करना! यह विद्यमान चीज है, इससे रहित मुझे अनुभव करना, ये क्या कहते हो आप? झवेरचन्दभाई! आ...हा...हा...!

**उसका समाधान यह है – बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ है...** आ...हा...हा...! क्या कहा? भगवन्त! यह राग और पुण्य–पाप का सम्बन्ध जो दिखायी देता है, वह असत्य है – झूठा है; आत्मा में वह नहीं। आहा...हा...! कहा? क्या कहा? **बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव झूठे है...** राग आदि है, तथापि वे कोई स्वरूप में नहीं, वह तो कल्पना का झूठा भाव पर्याय में खड़ा किया है। आहा...हा...! तुम कहते हो कि अनुभूति आत्मा की करना, परन्तु यह सब दिखायी देता है, इसका क्या करना? (तो कहते हैं कि) ये दिखता है, वह सब झूठा है और अन्दर त्रिकाली ज्ञायकभाव भगवान विराजता है, वह इनसे भिन्न है।

पहले से कहा कि बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव (अर्थात्) पाँच कहे न ऊपर (पहले)? अबद्ध के सामने बद्ध, अस्पृष्ट के सामने स्पृष्ट, अनन्य के सामने अन्य-अन्य, नियत के सामने व्यवहार, अविशेष के सामने विशेष, असंयुक्त के सामने संयुक्त, ये पाँच भाव कहे। आहा...हा...! उसमें आत्मा की अनुभूति कैसे हो? प्रभु! बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव झूठे हैं। आ...हा...हा...! त्रिकाली चीज में वे नहीं हैं। एक समय की पर्याय में वे दिखते हैं, वे झूठे हैं। 'झूठ' शब्द से (आशय)? है तो सही, किन्तु वस्तु में नहीं; इसलिए वह झूठा है। आहा...हा...हा...! ऐसी बात है।

पर्याय में है, पर्याय में नहीं – ऐसा नहीं। नहीं हो तब... तो अनुभव होना चाहिए। आनन्द का वेदन होना चाहिए!! भगवान तो आनन्दस्वरूप है, उसकी पर्याय में भी यदि आनन्द हो तो यह दुःख का अनुभव कहाँ से आया? यह दुःख क्या है यह? यह सेठाई और राजाई और देव और ये सब दुःखी प्राणी हैं। राग और द्वेष में व्याकुलता में घबरा गये हैं। उसकी इसे खबर नहीं। वह दुःख है, दुःख नहीं – ऐसा नहीं परन्तु वह अभूतार्थ है। (अभूतार्थ) अर्थात्? हमेशा रहनेवाला नहीं। हमेशा रहनेवाला तत्त्व अन्दर भिन्न है। आहा...हा...! भभूतमलजी यह सब पैसे से भिन्न बात है। आहा...हा...! क्या कहा समझे? ऊपर कहे वे बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव झूठे है, हमेशा टिके – ऐसे नहीं। एक समय की अवस्था है, ध्रुव त्रिकाली इनसे भिन्न है। आ...हा...हा...!

भगवान सच्चिदानन्द प्रभु! ध्रुव, नित्य, सामान्य, एकरूप वह बद्धस्पृष्टत्व भाव से भिन्न है। बद्धस्पृष्टत्व भाव है, वह एक समय का है और त्रिकाल वस्तु है, वह अन्दर भिन्न पड़ी है। आहा...हा...! समझ में आया? भाषा तो सादी है, प्रभु! आहा... हा...! भाव तो जो है, वह है। यह तुम्हारी गाथा लिखी हुई है कि यह चौदहवीं (गाथा) वाँचना, आहा...हा...!

बद्धस्पृष्टत्व आदि झूठे हैं; इसलिए अनुभूति हो सकती है। क्या कहा यह? पुण्य और पाप के भाव, दया, दान के विकल्प, एक समय की अवस्था होने से, हमेशा रहती नहीं होने से, उसको भिन्न करके अनुभव हो सकता है क्योंकि वह हमेशा रहनेवाली चीज नहीं। पुण्य और पाप, दया और दान आदि के भेद जो व्यवहार है, वह कायम रहनेवाली चीज नहीं। वह एक समय की है। एक समय में (एक) रहे, दूसरे समय में दूसरी, तीसरे समय में तीसरी, परन्तु इसकी अवधि तो एक समय की है और भगवान अन्दर इससे भिन्न त्रिकाल पड़ा है। आ...हा...हा...हा...! ऐसी बात है। अभी अफ्रीका में और इस नैरोबी में यह बात आयी। आहा...हा...!

कहते हैं कि बद्धस्पृष्टत्व आदि झूठे होने से वह अनुभूति हो सकती है। **इस बात को दृष्टान्त से प्रकट करते हैं –** इसका दृष्टान्त देते हैं। (शिष्य को) समझ में नहीं आया कि बद्धस्पृष्टत्व, वह झूठे है और वस्तु त्रिकाल सत्य है, इसका अर्थ क्या? हम इसको समझ सकते नहीं – तो उसको दृष्टान्त से समझाते हैं। **इस बात को दृष्टान्त से प्रकट करते हैं – जैसे कमलिनी पत्र...** कमलिनी की यह बेल होती है न? पानी में कमल (होता है न?) उसका पत्र जल में डूबा हुआ दिखता है। कमल है, वह पानी में डूबा हुआ दिखता है। है? तो भी **उसका जल से स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर...** आहा...हा...! पानी में वह कमल रहता है। बेल होती है न जल में? कमल की बेल (होती है) उसमें कमल पकता है। वह पानी में दिखता है। (यहाँ) कहते हैं कि पानी में स्पर्शित होनेरूप दिखायी देता है। **जल से स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है...** (कमल को) जल का सम्बन्ध एक समय का है, वह भूतार्थ है। भूतार्थ अर्थात् एक समय में है। बिल्कुल (सम्बन्ध) ही नहीं – ऐसा नहीं, परन्तु एक समय की इसकी अवधि है। आहा...हा...!

**सत्यार्थ है, तो भी...** एक समय में राग और द्वेष और संसार.... त्रिकाली भगवान आत्मा में, उसकी दशा में एक समय में यह सब दिखायी देता है फिर भी, आहा...! तथापि, वह होने पर भी, पर्याय में वह भाव होने पर भी, आहा...हा...! है? **जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलिनी–पत्र के स्वभाव के समीप जाकर...** यदि देखें... कमल का स्वभाव देखें तो वह पानी से स्पर्शित नहीं। कमल को पानी से ऊपर करो तो पानी बिल्कुल उसके स्पर्शित नहीं। कमल के पत्र के रोंहे का रूखापन ऐसा है कि रोंहे में वह पानी छूता नहीं। उस कमल के पत्र को जहाँ ऊँचा किया तो पानी उसको किंचित्मात्र भी स्पर्शा नहीं। आ...हा...हा...! एक अपेक्षा से डूबा हुआ दिखता है, (वह) एक समय की बात बराबर है परन्तु उसको बाहर निकाल कर देखो तो कमल की रूखी रूवाली को वह पानी छूता नहीं, आ...हा...हा...! यह तो अभी दृष्टान्त है, हों! कमल... कमल...! उसकी रूवाली रूखी होती है। (कमल) पानी में पड़ा (हो) तथापि उस रूवाली को पानी छूता नहीं। ऊँचा करो तब अच्छा साफ निकलता है। पानी पानी में रह जाता है और कमल भिन्न अकेला पृथक् हो जाता है। आहा...हा...हा...!

**तथापि जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलिनी पत्र के स्वभाव के समीप जाकर...** आहा...हा...! समीप (जाकर) कमल के पत्र का स्वभाव देखकर **अनुभव करने पर...** क्या कहा यह? कि पानी में (स्पर्शित हुआ है ऐसी नजर से) देखने पर भले ही उसको पानी का स्पर्श है, परन्तु कमल के समीप (जाकर) देखने पर, पानी को नहीं देखने पर, कमल के (स्वभाव के) समीप (जाकर) देखने पर, कमल का रूखापन और पानी का नहीं छूना – ऐसा देखने पर, आ...हा...हा...! **जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलिनी पत्र के स्वभाव के समीप जाकर...** यह क्या कहा? कि वह कमलिनी पानी के अन्दर दिखती है, वह वर्तमान में भले ही पानी में है परन्तु तुम्हारी नजर पानी पर है (इसलिए ऐसा दिखायी देता है) किन्तु पत्र के समीप (जाकर) नजर करो। कमल के पत्र के समीप जाकर अर्थात् जल के लक्ष्य (को) छोड़कर, कमल का स्वभाव है, उसके समीप जाकर, उसके स्वभाव के समीप जाकर, आ...हा...हा...! पानी से स्पर्शित है, वह समीपपना (स्वभावपना) नहीं; वह तो एक समय का भाव अन्दर पड़ा है परन्तु कमलिनी का स्वभाव है, उसके समीप जाकर नजर करो... आहा...हा...! तो

**जल से स्पर्शित होना...** झूठा है। है? **जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है...** उसको जल स्पर्शा ही नहीं। आ...हा...हा...हा...!

यद्यपि यहाँ तो जल को स्पर्श किया है (ऐसा कहा) वह तो निमित्त से कथन है। बाकी निश्चय से तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्पर्शता नहीं। क्या कहा यह? 'समयसार' की तीसरी गाथा में (ऐसा कहा है कि) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चुंबता नहीं, कभी स्पर्शता नहीं, क्योंकि एक द्रव्य (और) दूसरे द्रव्य के बीच अत्यन्त अभाव है। अपना स्वभाव (है), उसमें पर का अभाव है, अभाव के कारण एक–दूसरे को स्पर्शते नहीं। वह हरेक द्रव्य का वैसा ही स्वभाव है परन्तु यहाँ व्यवहार से एक बात की कि पानी में डूबा हुआ है – ऐसा देखने पर स्पर्श है। स्पर्श अर्थात् डूबा हुआ है इतना! वास्तव में तो वह कमल पानी को स्पर्शता ही नहीं। पण्डितजी! किन्तु पानी का ऐसा संयोग देखकर तुझे ऐसा लगे कि यह पानी में डूबा हुआ है, तो उस अपेक्षा से भले व्यवहार हो, तथापि कमल को देखने पर (कमलिनी पत्र के) स्वभाव को देखने पर, कमल के समीप जाकर (देखने पर) पानी के समीप की (संयोग की) दृष्टि छोड़कर... आ...हा...हा...! है? वह **अभूतार्थ है...** झूठा है – पानी का स्पर्श (झूठा है)। कमल के स्वभाव को देखने पर पानी का स्पर्श, वह झूठा है। वह दृष्टान्त हुआ। समझ में आया? अभी यह दृष्टान्त ही सूक्ष्म है। पहले व्यवहार से स्पर्शित होना कहा था। एक तरफ ऐसा कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्शता नहीं और यहाँ कहा कि जल को कमल ने स्पर्शित किया है। (उसका) इतना अर्थ (है) कि उसमें डूबा हुआ दिखता है, अन्दर पड़ा (है), उस अपेक्षा से वह स्पर्शित होने योग्य है – ऐसा कहा गया है। बाकी तो कमल पानी को स्पर्शा (नहीं) आ...हा...हा...! कमल को देखने पर (अर्थात्) कमल के स्वभाव के समीप नजर करने पर; दूर नजर नहीं करने पर, पानी की तरफ नजर न करने पर, कमल के स्वभाव के समीप की नजर करने पर उस कमल का स्वभाव पानी को स्पर्शा नहीं। उसने पानी को स्पर्शा नहीं; पानी का स्पर्श, वह अभूतार्थ है और झूठा है।

**इसी प्रकार...** यह दृष्टान्त हुआ। अब आत्मा में उतारते हैं। आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। **अनादि काल से बँधे हुए आत्मा का...** अनादि काल से कर्म के संयोग

में रहा (होने पर भी) कर्म को स्पर्श नहीं किया। आत्मा ने कर्म को स्पर्श नहीं किया, कर्म ने इसे (आत्मा को) स्पर्श नहीं किया परन्तु उनके संयोग में रहा है। है (पाठ में)? **अनादि काल से बँधे हुए आत्मा का पुद्गल कर्मों से बँधने–स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर...** (अर्थात्) कर्म के निमित्त तरफ के लक्ष्य से देखने पर, राग–द्वेष का अनुभव करने पर उन कर्मों का सम्बन्ध है – ऐसा व्यवहार से भूतार्थ है। व्यवहार रूप से हैं परन्तु आत्मा का स्वभाव देखने पर... ऐसा कहते हैं, देखो! **पुद्गल कर्मों से बँधने स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि...** वह कमल, पानी को स्पर्शा नहीं; इस प्रकार देखने पर.... इस प्रकार कर्म को और राग को स्पर्शा नहीं – ऐसे आत्मा के स्वभाव को देखने पर (ऐसा कहना है)।

सम्यग्दृष्टि जीव – सम्यग्ज्ञानी जीव – धर्म की पहली श्रेणीवाला जीव, धर्म की पहली सीढ़ीवाला जीव, राग का लक्ष्य छोड़कर आत्मा के स्वभाव के समीप जाकर... है? **आत्मस्वभाव के समीप जाकर...** ऐसा शब्द है। (पहले) राग की समीपता मानी थी। राग और द्वेष और पुण्य और दया, दान, व्रत के परिणाम (का) स्पर्श है – ऐसा व्यवहार से माना था परन्तु उसकी समीपता छोड़कर (और) आत्मा के स्वभाव के समीप जाकर (देखने पर) आ...हा...हा...हा...! अर्थात् क्या कहते हैं? कि राग और द्वेष तरफ की जो तेरी दृष्टि है – पर्यायबुद्धि है, उसको छोड़कर, आत्मा के स्वभाव के समीप जाकर (देख)! दूर जाकर जो तू राग को देखता (था) आत्मा के स्वभाव से दूर जाकर राग को देखता (था), अब उसे दूर छोड़कर आत्मा के समीप में आ जा। आ...हा...हा...!

सूक्ष्म बात है किन्तु अपूर्व बात है, बापू! इसने कभी की नहीं। आहा...हा...! सुनी है परन्तु (उसे) रुचि नहीं। सुनी है अनन्त बार। समवसरण में अनन्त बार सुना है परन्तु उसका जो भाव है, वह इसको रुचा नहीं। अन्दर क्या चीज है? (उसकी खबर नहीं) क्योंकि उसका अनुभव नहीं। अनुभव तो अनादि से राग और द्वेष का है, पुण्य और पाप का अनुभव है परन्तु (यहाँ तो) कहते हैं कि अब आत्मा इसका लक्ष्य छोड़कर, आत्मा के स्वभाव के समीप जाकर.... जो राग का लक्ष्य था, तब आत्मा के स्वभाव से दूर था। राग का अनुभव करने पर आत्मा के समीप से (स्वभाव से) दूर था, उस राग का लक्ष्य छोड़कर आत्मा के स्वभाव के समीप जाकर... आहा...हा...हा...! है न इसमें!

**ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर...** आहा...हा...हा...! भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है। शुद्ध आनन्दघन ज्ञान के नूर का पूर है। आनन्द है – अतीन्द्रिय आनन्द से भरा हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द से ठसाठस भरा हुआ भगवान है। उसके समीप में जाकर, राग की आकुलता का लक्ष्य छोड़कर, अनाकुल ऐसा जो आनन्दकन्द प्रभु (है), उसके समीप जाकर **अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता...** झूठी है। आत्मा के स्वभाव को देखने पर राग का सम्बन्ध, वह सब झूठा है। आहा...हा...! ऐसी बात है।

यह राग का सम्बन्ध देखने पर राग है परन्तु स्वभाव का सम्बन्ध देखने पर – स्वभाव के समीप दृष्टि करने पर.... वह कोई बात नहीं। यह तो भाव की सूक्ष्म बात है बापू! आत्मा अन्दर शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान है। अन्दर पुण्य और पाप के विकल्पों के लक्ष्य से छूटकर, इसका स्वभाव है, उसके समीप में अर्थात् वहाँ दृष्टि करने पर ये राग आदि सभी झूठे हैं। ये राग आदि स्वरूप में है नहीं। पुण्य और पाप के दोनों परिणामों (की) जाति, वह आत्मा की जाति है नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

यह चौदहवीं गाथा सम्यग्दर्शन की है। सम्यग्दर्शन की गाथा है यह। पहला धर्म... पहला धर्म! पहला शुरुआत का धर्म! भले अभी चक्रवर्ती का राज हो, गृहस्थाश्रम में पड़ा हो, फिर भी उसको सम्यग्दर्शन हो सकता है परन्तु इस प्रकार। राग का – पुण्य का परिणाम होने पर भी, उसकी विद्यमान पर्यायदृष्टि है, उसके होने पर भी, उसका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव (के) समीप जाकर, राग से दूर होकर, स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वह राग और पुण्य–पाप वह झूठे हैं; वे आत्मा में ही नहीं। आ...हा...हा...! सूक्ष्म बात है भाई!

सम्यग्दर्शन यह कोई अलौकिक चीज है। सम्यग्दर्शन हुआ, उसका तो अल्प काल में मोक्ष होगा ही। दूज हुई उसको पूनम होगी ही। ऐसे सम्यग्दर्शन हुआ, उसको अल्प काल में सिद्धपद हुए बिना रहेगा ही नहीं। इसके बिना चाहे जितना करे, एक के बिना बिन्दी (है)। पुण्य और पाप के परिणाम लाख और करोड़ और अनन्त बार किये, (तथापि) उसके फल में यह चार गति (में) यह सब भटकना है। आहा...हा...! भले फिर बाहर की सामग्री अरबों रुपयों की दिखे। अरबों का मकान–महल दिखे – वह सब धूल-धाणी है!!

यह इसके तरफ का राग है, वह भी धूल-धाणी है – ऐसा कहते हैं। वह चीज तो ठीक, वह (मकान-महल) तो बाहर (रहे), उसकी तो बात है भी नहीं। (यहाँ तो) अन्तर में राग-द्वेष होते हैं, उसकी पर्याय (पर्याय) रूप से देखें तो है। अवस्था रूप से देखें और द्रव्य का लक्ष्य न करें तो वह है। वह अनादि से संसार है। भटकने का अनादि संसार है। संसार ही नहीं – ऐसा नहीं। 'ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या' – ऐसा जो कहते हैं, ऐसा (नहीं)। यह आत्मा सत्य है और राग आदि है ही नहीं – ऐसा नहीं। 'है'... तथापि एक समय की मर्यादावाले हैं। इनकी दृष्टि छोड़कर, आत्मा के स्वभाव (के) समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टत्व झूठा है। राग आदि का सम्बन्ध और भेद – यह गुण-गुणी का भेद भी झूठा है। आहा...हा...!

चौदहवीं गाथा वह सम्यग्दर्शन की गाथा है! अपूर्व बात है! सूक्ष्म है परन्तु अपूर्व है! (यह) सुनने को मिलना भी भाग्यशाली को मिलता है! आ...हा...हा...! और अन्दर से इसकी 'हाँ' पड़ना, (वह) तो अलौकिक पुरुषार्थ है और हाँ पड़कर बाद में दशा होना...। राग बिना का अन्दर मेरा स्वभाव है, उसकी 'हाँ' पड़कर बाद में अन्दर जाए तब हालत हो जाए! 'हाँ' की हालत हो जाए, वहाँ अनुभव हो जाए!! समझ में आया। 'समझ में आया कुछ' वह तो विश्राम वाक्य है। सूक्ष्म बात है भाई! एकदम पकड़ में आये ऐसी नहीं। अनन्त काल से इसको सुना नहीं – प्रेम से सुना नहीं। जैसा जगत का प्रेम (है ऐसा प्रेम यहाँ नहीं) आहा...हा...! इसकी स्त्री का और पुत्र का और पैसे का और मकान का प्रेम (है), उसमें पाँच करोड़ का मकान हो और उसमें दो-पाँच अरब की पूँजी हो और इसके बालक बहुत सुन्दर और (फिर) देखो इसका पागलपन! आहा...हा...!

परमात्मप्रकाश में कहते हैं – 'धर्मी जीव सूक्ष्म बात करे, वह पागल को पागल जैसे लगे।' ऐसा पाठ है। पागल जीवों को पागल जैसी लगे। यह क्या कहते हैं यह? समझ में आया? 'परमात्मप्रकाश' में है कि जब (धर्मी जीव) सूक्ष्म बात करे और सत्य बात करे, तब सुननेवाले को, पगला है (इसलिए) इसको पागलपन लगता है।.... यह क्या? पागल जैसी बातें करता है? समझ में आता है?

एक पद्मनन्दिपंचविंशति ग्रन्थ है – शास्त्र है। उसमें अधिकार 26 है परन्तु नाम

(पंचविंशति) है। 'पद्मनन्दिपंचविंशति' है, होगी यहाँ। उसमें ब्रह्मचर्य का एक लेख दिया। सन्तों ने, मुनियों ने ब्रह्मचर्य का लेख दिया। ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसमें चरना, उसका नाम ब्रह्मचर्य। शरीर से ब्रह्मचर्य पालन, वह ब्रह्मचर्य नहीं। स्त्री का संग आदि किया नहीं; इसलिए ब्रह्मचारी, वह ब्रह्मचारी नहीं। बहुत सूक्ष्म बात की है कि शरीर से तूने संग नहीं किया, तो वह तो शरीर स्वभाव था तो संग नहीं हुआ। तूने माना कि मैंने विषय सेवन किया नहीं परन्तु वह तो शरीर का स्वभाव स्पर्शने का नहीं था, इसलिए स्पर्शा नहीं। बाद में (कहते हैं कि) 'ब्रह्मचर्य' किसको कहना? ब्रह्म अर्थात् आत्मा – पूर्णानन्द का नाथ, उसमें चरना अर्थात् रमना, उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस ब्रह्मचर्य की व्याख्या बहुत की, बहुत गाथाएँ हैं।

मुझे तो दूसरा कहना है कि इस ब्रह्मचर्य की व्याख्या की और बाद में पद्मनन्दी आचार्य मुनिराज ऐसा बोले, 'हे युवाओं! मेरी बात तुम्हें न रुचती हो...' मेरी ब्रह्मचर्य की बात जो मैं कहता हूँ – ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसमें रमना वह ब्रह्मचर्य। अकेला विषय सेवन, वह तो पाप (है) परन्तु विषय सेवन नहीं करे, शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, वह भी पुण्य (है); वह धर्म नहीं। आहा...हा...! गजब बात है! तब (कहते हैं) ब्रह्मचर्य किसको कहना? कि आत्मा आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, उसमें चरना–रमना, उसका नाम ब्रह्मचर्य। यह सूक्ष्म बात करके बाद में मुनिराज ने ऐसा कहा, दिगम्बर मुनि थे। (उन्होंने) ऐसा कहा कि 'हे युवाओं! तुमको यह विषय का रस हो और मैं ऐसी बात करूँ, वह तुमको कदाचित् नहीं रुचे (तो) प्रभु! माफ करना!' – ऐसा कहा है। आहा...हा...! जेठालालभाई! मुनिराज ऐसा कहते हैं कि 'भाई! माफ करना। मेरे पास से तू क्या लेना चाहता है? मेरे पास जो है वह तू ले। दूसरा (तो) मेरे पास है नहीं।'

(कहते हैं कि) ब्रह्मचर्य की बात करने पर (तुमको रुचिकर नहीं लगे क्योंकि) तुम्हारे युवा अवस्था (है) पैसा कोई पाँच–पच्चीस करोड़ हो और स्त्री अनुकूल हो और उसका रस चढ़ गया हो और हमारे ब्रह्मचर्य की बात तुमको अच्छी न लगे (तो) मुनिराज ऐसा कहते हैं – 'पद्मनन्दी आचार्य ऐसा कहते हैं, 'प्रभु! माफ करना! मेरे पास से दूसरी क्या आशा रखेगा?' आ...हा...हा...!

ऐसे यहाँ आचार्य कहते हैं कि 'मैं यह सूक्ष्म बात करता हूँ' आत्मा को स्पर्श करने की; राग आदि अभूतार्थ है – झूठा है और आत्मा के समीप जाने पर आत्मा का अनुभव (हो), वह सत्य है। यह बात तुझे सूक्ष्म पड़े और पकड़ में नहीं आये तो मेरे पास क्या आशा रखेगा? माफ करना प्रभु! (मैं) यह सूक्ष्म कहता हूँ – ऐसा सुनना हो तो सुनना।' आहा...हा...! कहो! कमलभाई! मुनिराज ऐसा कहते हैं। सच्चे सन्त कहते हैं। जंगल में रहनेवाले (ऐसा कहते हैं कि) हम सूक्ष्म बात करते हैं, प्रभु! तुमको न रुचे तो माफ करना। मेरे पास से दूसरी क्या आशा रखेगा? हमारे पास दूसरा क्या है? आ...हा...हा...! हमारे पास तो आत्मा की बात है, प्रभु! इस बात को सुनते हुए तुझे न रुचे तो माफ करना, प्रभु! आहा... हा...! प्रभु! तुझे सूक्ष्म लगे, प्रभु! तेरे अनुभव में यह बात जल्दी नहीं आये.... यह हम बात करते हैं, उस बात में तुझे जल्दी से समझ नहीं पड़े; इसलिए तुझे अरुचिकर लगे (तो) माफ करना, प्रभु! मार्ग तो यह है, वह कहते हैं। बाकी दूसरा क्या कहें, प्रभु! नाथ।

**मुमुक्षु :** आचार्य माफी माँगते हैं?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, पद्मनन्दी आचार्य माफी माँगते हैं। यहाँ पुस्तक नहीं। है? यहाँ होगी 'पद्मनन्दिपंचविंशति' पुस्तक है, उसमें अन्तिम 26वाँ अधिकार है।

यहाँ तो लाखों पुस्तकें देखी है। यहाँ तो पूरी जिन्दगी धन्धा (ही यह किया है)। पाँच वर्ष व्यापार (किया), सब छोड़ (दिया), कुछ किया नहीं। स्त्री का संग किया नहीं। विवाह का प्रसंग आया था, (मैंने) मना किया कि 'मुझको तो ब्रह्मचारी रहना है?' इसलिए यहाँ तो पूरा ही धन्धा यह किया है। पाँच वर्ष व्यापार में थोड़ा रूका, वहाँ भी मैं तो शास्त्र ही पढ़ता। 19-20 वर्ष की उम्र से। किन्तु बात दूसरी निकली, बापू...! यह 'समयसार' जब हाथ में आया....

**मुमुक्षु :** हमारा भाग्य बाकी था न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आ...हा...हा...हा...! सच्ची बात है। यह (जहाँ) आया (वहाँ) अन्दर में पूरा फेरफार... फेरफार। (मैने बड़े भाई से कहा) 'भाई! मैं इसमें नहीं रह सकता। यह स्थिति कोई दूसरी है।' आहा...हा...!

यहाँ महाराज प्रभु कहते हैं... यह तो 'कुन्दकुन्दाचार्य' की गाथा है। 'अमृतचन्द्राचार्य'

एक हजार वर्ष पहले हुए, उनकी यह टीका है। ये अमृतचन्द्राचार्य सूक्ष्म बात करते हैं कि बँधा हुआ भाव... आ...हा...हा..! राग आदि है, वह दिखायी देता है, इतना सत्य है परन्तु प्रभु! जैसे कमल के स्वभाव को देखने पर (कमल) पानी के स्पर्शता नहीं, वैसे ही भगवान का स्वभाव देखने पर वह कर्म को और राग को स्पर्शता नहीं। आहा...हा...! 'प्रभु! ऐसी बात तुझे सूक्ष्म लगे (तो) प्रभु! माफ करना। और क्या हो? हमारे पास से दूसरा क्या लेना चाहता है? तुम्हें ठीक लगे ऐसा माँगो (तो) ऐसा तो हमारे पास है नहीं।' आहा...हा...!

यहाँ तो यह कहते हैं, आ...हा...हा...! पुद्गल से जरा भी नहीं स्पर्शित होने योग्य, राग को नहीं स्पर्शने योग्य ऐसा अन्दर भगवान आत्मा का स्वभाव है। चैतन्यमूर्ति परमात्मा! चैतन्य के प्रकाश के नूर का पूर भरा है पूरा। तेरी नजर की आलसे रे.. स्वामी नारायण में ऐसा कहते हैं –

**'मारी नजर ने आलसे रे, मैं निरख्या न नयणे हरि,**
**मारा नयणने आलसे रे, नीरख्या न नयणे हरि॥'**

''हरि यह आत्मा! 'पंचाध्यायी' में 'हरि' आत्मा को कहा है। क्यों? कि राग–द्वेष और अज्ञान को हरे, वह हरि। राग–द्वेष और अज्ञान को जला डाले वह हरि।'' ऐसा यह भगवान – हरि! और श्रीमद् ने भी एक पत्र में कहा है कि 'इस जगत् में एक अधिष्ठाता हरि है, उस हरि को मैं इस हृदय में देखता हूँ, अर्थात् यह आत्मा हरि है।' 'श्रीमद् राजचन्द्र।'

यहाँ वह कहते हैं (कि) तेरा नाथ जो हरि है, उसके स्वभाव के समीप जाने पर... बापा! अर...र...र...! अनादि से व्यवहार के राग के समीप तो पड़ा ही है। प्रभु! यह कोई नवीन बात नहीं, यह अपूर्व बात नहीं; पूर्व में अनन्त बार हो गयी है। वह की वह तेरी जाति है, अब एक बार आत्मस्वभाव में समीप जा! राग की मौजूदगी है, उसकी मौजूदगी नहीं, मेरी मौजूदगी है (ऐसा देख)। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

**आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता...** झूठी है, आ...हा...हा...! यह एक दृष्टान्त दिया – कमल का! पानी को स्पर्शा (है), फिर भी स्पर्शा हुआ नहीं। स्पर्शा हुआ है, वह व्यवहार है; नहीं स्पर्शा, वह निश्चय है। ऐसे आत्मा

(की) पर्याय में राग है, वह व्यवहार है। परमार्थ से आत्मा, राग को स्पर्शा भी नहीं, राग को स्पर्शा भी नहीं। आत्मा, राग को स्पर्शा भी नहीं। वह त्रिकाल निरावरण अखण्डानन्द परमात्मस्वरूप है। उसके समीप में जाकर देखने पर से राग आदि तुम्हें झूठ लगेंगे। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

ऐसा उपदेश है यह। हमारे 'सोनगढ़' में तो 45 वर्षों से चलता है परन्तु यहाँ तो अभी पहली बार आये। तुम्हारे लक्ष्मीचन्दभाई, जेठाभाई और तुम्हारी माँग थी न, बापा! आहा...हा...! अरे...! कहाँ कान में पड़े बात, प्रभु! अन्तर के घर की बातें कान में पड़े, वह अमृत की धारा है – ऐसा शास्त्र में लेख है। भगवान की दिव्यध्वनि, वह अमृत की धारा है। कान में मानों अमृत बरस रहा हो – ऐसी वीतराग की वाणी है। आ...हा...हा...! पहले में आता है न? 'समयसार' में पहले गाथाओं में। वीतराग की दिव्यध्वनि छूटती है और इन्द्र सुनते हैं। बाघ और नाग और सिंह (आते हैं)। जिनकी सभा में जंगल से सैकड़ों सिंह, सैंकड़ों नाग और सैंकड़ों बाघ और 100 इन्द्र आकर सुनते हैं। वह वाणी, अमृतधारा बरसती है – ऐसा शास्त्र में कहा है परन्तु अन्दर में जाए तब अमृतधारा बरसे, यह सच्ची बात है। आहा...हा...! बहुत बात की है। आहा...हा...!

एक दृष्टान्त हुआ। एक अबद्ध का कहा। अबद्धस्पृष्ट का हुआ। पाँच बोल हैं न? अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त – पाँच बोल हैं। उसमें एक बोल की व्याख्या हुई। अब, दूसरे बोल की (व्याख्या है)।

**तथा, जैसे मिट्टी का ढक्कन, घड़ा, झारी, रामपात्र इत्यादि पर्यायों से अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है...** मिट्टी का कमण्डल हो, घड़ा हो, झारी हो, रामपात्र (अर्थात्) यह सकोरा। सकोरे को रामपात्र कहते हैं। सकोरा नहीं आता? मिट्टी का सकोरा। उसको रामपात्र कहते हैं। एक बुढ़िया थी (उसको) 'राम' का नाम ही सुहाता नहीं था। बाद में उसको एक सकोरा बताकर (पूछा) कि यह किसी प्रकार यह 'रामपात्र' बोलती है? (इसलिए पूछा) यह क्या है बा? (तो कहा) वह सकोरा है। 'रामपात्र' बोले तो 'राम' आ जाये। यह शब्द इसे सुहाता नहीं। आ...हा...हा... पण्डितजी! ऐसा बना है, हों! राम– आत्मा। अन्दर रमे सो राम – आत्मा। और 'रामचन्द्रजी' तो मोक्ष पधारे हैं। 'रामचन्द्रजी' तो मोक्ष गये हैं, परमात्मा हो गये – सिद्ध हो गये हैं। उन राम का नाम भी बाई को सुहाता नहीं

था; इसलिए (मरते समय) किसी प्रकार राम का नाम इसके (मुख पर) आये (ऐसा विचार कर) यह सकोरा बताया (और पूछा) बा! माँ! यह क्या है? (तो कहा) यह सकोरा है।' रामपात्र बोलने में भी इसको परेशानी आती थी। आहा...हा...! जगत की ऐसी बात है, बापू!

ऐसा यहाँ कहते हैं मिट्टी (को) कमण्डल, घड़ा, झारी आदि पर्याय से देखो तो वह अन्यपना है–पर्याय है। **तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्याय भेदों से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे) मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर....** यह झारी और कमण्डल और घड़े की ये पर्यायें झूठी हैं, वह मिट्टी ही है। मिट्टी... मिट्टी... मिट्टी... मिट्टी... मिट्टी... पर्यायभेद जिसमें नहीं। आ...हा...हा...! पर्यायभेद से देखो तो ये पर्याय है, किन्तु मिट्टी के स्वभाव से देखो तो ये पर्यायभेद नहीं है। आ...हा...हा...! ऐसी बातें है। है? इन रामपात्र आदि पर्यायों से देखने पर वे हैं, तथापि सर्वतः एक 'मिट्टी' देखने पर अर्थात् मिट्टी का एकरूप देखने पर, वे सब पर्यायों के भेद, मिट्टी में नहीं, वे झूठे हैं; अन्दर मिट्टी तो मिट्टी ही है। आहा...हा...!

मिट्टी के स्वभाव के समीप देखने पर अन्यपना झूठा है। **इसी प्रकार...** यह तो दृष्टान्त हुआ। अब सिद्धान्त। दृष्टान्त, सिद्धान्त के लिए है। दृष्टान्त, दृष्टान्त के लिए नहीं। दृष्टान्त, दृष्टान्त के लिए नहीं, दृष्टान्त सिद्धान्त के लिए है। सत्य समझने में सरल पड़े; इसलिए दृष्टान्त है। लेकिन दृष्टान्त सुनकर वहाँ रुक जाए – ऐसा नहीं। आहा...हा...!

**इसी प्रकार आत्मा का, नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर...** आ...हा...हा...! क्या कहते हैं? जैसे, मिट्टी में से (बने हुए) झारी और घड़ा देखने पर वह सत्य है। वैसे आत्मा को चार गति (में) देखने पर नरक की गति है, एकेन्द्रिय है, वनस्पति है, कीड़ा है, कौआ है (ऐसे) अवतार धारण किये हैं। वह अवतार 'है'। है (अन्दर)? **नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर...** नारकी है, मनुष्य है, देव है, ढोर है – ऐसे पर्यायभेद से देखने पर वह वस्तु है। आ...हा...हा...! **इसी प्रकार आत्मा को, नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर...** आहा...हा...! मैं नारकी हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं सेठ हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं पण्डित हूँ, उन सभी पर्यायों में (आत्मा है, ऐसा) कहा जाता है। (परन्तु) वस्तुस्वरूप में ये है नहीं। आ...हा...हा...! समझ में आया कुछ? है? **आत्मा का नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर...** वह 'है'। चार गति के भव है।

आ...हा...हा...! माँस खाये, शराब पीये, परस्त्री के लम्पटी हैं, अनीति का आचरण करे, वह मरकर नरक में जाते हैं। नरकगति है, वे वहाँ नरक में जाते हैं। नरकगति, गतिरूप से है। आत्मा के रूप में देखे तो वह गति उसमें नहीं, वह तो बाद में आयेगा। समझ में आता है कुछ?

'नारक' आदि कहा न? ऐसे तिर्यंच। सिंह, पशु, बाघ, एकेन्द्रिय, वनस्पति, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय ये सभी जीव हैं। (जो) कषायभाव करते हैं, वह मरकर तिर्यंच में जाते हैं। माँस और दारू खाने-पीनेवाले तो मरकर नरक में जाते हैं परन्तु माँस और दारू नहीं खानेवाले, धर्म प्राप्त नहीं पाये हुए, कषाय की वक्रता करके, माया और लोभ और राग में लीन हो गये... लीन हो गये... ऐसे जीव मरकर तिर्यंच में जाते हैं। तिर्यंचपना 'है', तिर्यंचगति 'है'। व्यवहार से वह है, नहीं –ऐसा नहीं। जैसा ये पुण्य करे, पाप करे, वैसा इसका फल है। 'नारक' आदि अर्थात् चार गति ली है।

दया, दान, व्रत भक्ति के शुभपरिणाम करे, तो उसका फल स्वर्ग और मनुष्य, सेठाई ये 'है'। यह पुण्य का फल 'है' परन्तु आत्मा के धर्म के समीप देखने पर वह वस्तु झूठी है। आ...हा...हा...! लक्ष्मीचन्दभाई! बात तो ऐसी है। 'नारक आदि' लिया न? (अर्थात्) चारों गति (लेना)। देव है – भवनपति, व्यंतरदेव, ज्योतिषदेव 'है'। आ...हा...हा...!

अढ़ाईद्वीप के अन्दर मनुष्य है। बाकी (अढ़ाईद्वीप के बाहर) असंख्य द्वीप–समुद्र पड़े हैं, उसमें असंख्य सिंह और बाघ पड़े हैं और असंख्य समुद्र हैं। हजार–हजार योजन के बड़े मगरमच्छ और मच्छ पड़े हैं। वहाँ भी... भगवान कहते हैं, उन जीवों ने भी वहाँ अन्दर में से समकित को प्राप्त कर लिया है। आ...हा...हा...! बाहर असंख्य जीव समकिती हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहर सिंह और बाघ और नाग और मगरमच्छ और मच्छ, असंख्य पड़े हैं। वे कितने ही समकिती हैं। असंख्य गुणा मिथ्यादृष्टि है और असंख्यातवें भाग आत्मज्ञानी भी वहाँ तिर्यंच में पड़े हैं। आ...हा...हा...हा...! यह गति 'है'। अनुभवी है, अज्ञानी है, वह तिर्यंचगति है। ऐसे मनुष्यगति है, वह तो दिखायी देती है। ऐसे देव गति 'है'। यह व्यवहार से देवगति आदि चार गति हैं। **(पर्यायों के अन्य–अन्य रूप से) अन्यत्व भूतार्थ है– सत्यार्थ है...** परन्तु आत्मा को देखने पर....।

यह विशेष बात आयेगी। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## गाथा–15

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।15।।

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ।।15।।

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः सा खल्व–खिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्, ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः।

किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते।

तथा हि – यथा विचित्रव्यञ्जनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनु–भूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यञ्जनलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजात–सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि।

तथा विचित्रज्ञेयाकारकरम्बितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भाव–तिरोभावाभ्यां, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैन्धवखिल्योऽन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतो–ऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते, तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते ।।15।।

---

अब, इस अर्थरूप गाथा कहते हैं —

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्म को,
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो ।।15 ।।

गाथार्थ : [ यः ] जो पुरुष [ आत्मानम् ] आत्मा को [ अबद्धस्पृष्टम् ] अबद्धस्पृष्ट, [ अनन्यम् ] अनन्य, [ अविशेषम् ] अविशेष ( तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त ) [ पश्यति ] देखता है वह [ सर्वम् जिनशासनं ] सर्व जिनशासन को [ पश्यति ] देखता है - जो जिनशासन [ अपदेशसांतमध्यं ] बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभयन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

टीका : जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है परन्तु अब वहाँ, सामान्य ज्ञान के आविर्भाव ( प्रगटपना ) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव ( आच्छादन ) से जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है, तब ज्ञान प्रगट नुभव में आता है, तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं, उन्हें वह स्वाद में नहीं आता। यह प्रगट दृष्टान्त से बतलाते हैं : जैसे — अनेक प्रकार के शाकादि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला जो ( सामान्य के तिरोभावरूप और शाकादि के स्वाद भेद से भेदरूप-विशेषरूप ) लवण है, उसका स्वाद अज्ञानी, शाक लोलुप मनुष्यों को आता है किन्तु अन्य की सम्बन्धरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नहीं आता और परमार्थ से देखा जाये तो, विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला ( क्षाररसरूप ) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला ( क्षाररसरूप ) लवण है। इस प्रकार — अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला ( विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप ) ज्ञान वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता, और परमार्थ से विचार किया जाये तो, जो ज्ञान, विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान, सामान्य के आविर्भाव से अनुभव आता है ? अलुब्ध ज्ञानियों को तो, जैसे सैंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद

**करके केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक क्षाररसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है, उसी प्रकार आत्मा भी, परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।**

## प्रवचन–4, गाथा–15

चौदहवीं (गाथा में) सम्यग्दर्शन का अधिकार था। यह सम्यग्ज्ञान का (अधिकार) है। दोनों एक ही बात है। (चौदहवीं में) दर्शन का था, इसमें (पन्द्रहवीं में) ज्ञान का (है)। बात इसमें थोड़ी सूक्ष्म आयेगी।

**टीका : जो यह अबद्धस्पृष्ट,....** आत्मा है, वह राग और कर्म के परमाणुओं से बँधा हुआ नहीं – ऐसा वह आत्मा अन्दर मुक्तस्वरूप है। यह एक पहला बोल – अबद्धस्पृष्ट। **अनन्य...** (अर्थात्) अन्य–अन्य गति इसमें नहीं। नारकी और मनुष्य और ऐसी गति इसमें नहीं, अनन्य है, यह तो आनन्दरूप अनन्यस्वरूप है। अन्य–अन्य स्वरूप नहीं, अनन्यस्वरूप है। **नियत...** (अर्थात्) निश्चयस्वरूप है। एकरूप त्रिकाल ज्ञायक, पर्याय के भेद से रहित अन्दर निश्चयस्वरूप (है)। नियत अर्थात् निश्चयस्वरूप है। **अविशेष...** (अर्थात्) वह गुणभेद से रहित अभेद है। यह सूक्ष्म बात है। उसमें गुणभेद भी नहीं। विशेषता नहीं, सामान्यपना है। एकरूप त्रिकाल, वह सामान्य (है), उसको यहाँ अविशेष कहते हैं। और **असंयुक्त...** मोहसहित–राग आदि है, उससे रहित है। मोह की संयुक्तता से रहित है। इसका स्वरूप ही ऐसा है। **ऐसे पाँच भावस्वरूप...** शब्द 'पाँच भाव' है, (किन्तु) है एक समय में साथ। क्या कहा? यह पाँच भाव कहे परन्तु पाँच भाव क्रम–क्रम से हैं – ऐसा नहीं; एक ही समय में पाँच भावस्वरूप है। आहा...हा...! चन्दुभाई! यह पाँच भावस्वरूप की व्याख्या फिर से (लेने का) कहा था न? कुछ नया आना चाहिए न! आहा...हा...!

भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप द्रव्य है। अन्य–अन्य जिसमें दशाएँ नहीं, (ऐसा) वह

तो अनन्यस्वरूप ही है। निश्चयस्वरूप है और विशेषता जिसमें नहीं, गुण का भेद (नहीं) (अर्थात्) गुणी आत्मा और ज्ञानगुण – ऐसा विशेष भी जिसमें नहीं (– ऐसा) यह सामान्य है और असंयुक्त (अर्थात्) राग और द्वेष आदि दुःख की दशा के संयुक्तता से–सहित से रहित है। दुःख की दशा के सहित से रहित है। आ...हा...हा...! ऐसे पाँच भावों स्वरूप – शब्द 'पाँच भाव' है परन्तु पाँच भाव एक समय में है। क्या कहा? अबद्धस्पृष्ट वह एक समय में, दूसरे समय में अनन्य और तीसरे में नियत और चौथे में अविशेष और पाँचवें में असंयुक्त – ऐसा नहीं। यह तो समझाया है, इसलिए पाँच प्रकार समझाये परन्तु एक समय में पाँचों भावस्वरूप है। समझ में आया? अभी तो सम्यग्ज्ञान–चौथे गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की व्याख्या है। पाँचवें और छठवें (गुणस्थान के) चारित्र की बात तो कहाँ आगे रह गयी!!

आत्मा पाँच भावोंस्वरूप एकरूप (है)। पाँच भावोंस्वरूप एकरूप... **आत्मा की अनुभूति...** ऐसे आत्मा का अन्दर अनुभव। आहा...हा...! जैसा आत्मा सामान्य कहा, अबद्धस्पृष्ट अर्थात् मुक्त, सामान्य, उसका लक्ष्य करने पर जो अनुभव हो, आनन्द का स्वाद आये और भावश्रुतज्ञान प्रगट हो, उसको यहाँ 'अनुभूति' कहा गया है। समझ में आया? भाषा तो सरल है (किन्तु) भाव जरा कठिन है। ऐसा गाँव में कहाँ से आया? आ...हा...हा...! आत्मा की अनुभूति है।

इन पाँच भावस्वरूप भगवान एकरूप है। मुक्त कहो तो वह; अनन्य कहो तो वह; नियत कहो तो वह; विशेषरहित सामान्य कहो तो वह; मोह की संयुक्तता रहित कहो तो वह। चन्दुभाई ने कहा कि यह फिर से लेना। कल ले लिया गया है। यह हिन्दी में लिया गया था।

आहा...हा...! ऐसे आत्मा की अनुभूति, अनन्त काल में एक समय भी जिसने ऐसे आत्मा की अनुभूति की नहीं। परिभ्रमण में इसको 'आत्मा एकरूप है' – ऐसा ज्ञान ही कभी भी नहीं किया। बाकी साधु भी अनन्त बार हुआ, बाहर (का) त्यागी भी अनन्त बार हुआ परन्तु यह पाँच भावस्वरूप एकरूप, उसका अनुभव, अभेद का अनुभव, पर्याय बिना का सामान्य जो त्रिकाल है – ऐसे सामान्य का अनुभव (किसी दिन किया नहीं)। अनुभव पर्याय है, किन्तु अनुभव सामान्य का है। सामान्य का कहने में आता है, वरना सामान्य ध्रुव है, उसका अनुभव होता नहीं किन्तु सामान्य पर दृष्टि होने से सामान्य का अनुभव है – ऐसा कहा जाता है। आ...हा...हा...! है?

**वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है,** ऐसा आत्मा... जैनशासन कोई सम्प्रदाय नहीं, कोई पक्ष नहीं, पंथ नहीं; वस्तु है। वस्तु–आत्मा वीतरागमूर्ति है। यह पाँच भावस्वरूप एकरूप का जो अनुभव, वह तो वस्तु हुई; कोई सम्प्रदाय नहीं। वह वस्तु है, उसका अन्दर अनुभव होना, वह जैनशासन की अनुभूति है। कहो, समझ में आया? आ...हा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बात! अब थोड़ी सूक्ष्म आयेगी! यह पाँच भावस्वरूप एकरूप (को) अन्तर्मुख (होकर) देखने पर उसे पाँच भाव का भेद भी जहाँ नहीं – ऐसा एकरूप, उसकी अनुभूति – उसका अनुभव, वह जैनशासन का अनुभव है, वह जैनशासन है। पर्याय, हों! अनुभूति की पर्याय को जैनशासन कहा है।

**मुमुक्षु :** इसमें तो सम्प्रदाय के भेद दूर हो जाए – ऐसी बात लिखी है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सम्प्रदाय की बात यहाँ है ही नहीं। यहाँ तो यह पाँच भाव के भेद भी नहीं। आहा...हा...! यहाँ तो तत्त्व की बात है, प्रभु! आ...हा...हा...! यह सब गाथायें तो तुमने ली है न! लक्ष्मीचन्द और सब इकट्ठे होकर, हमारे झवेरचन्दभाई वांचनकार तो मुख्य ये थे न? पहले झवेरचन्द थे, फिर ये वेलजीभाई हुए। यह गाथा तुमने (प्रवचन के लिये) लिखी है, झवेरचन्दभाई!

**मुमुक्षु :** गाथा अच्छी है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** गाथा अच्छी है। आहा...हा...!

(यहाँ) कहते हैं, प्रभु! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव जिनेश्वरदेव, जिनके इन्द्र तलवे चाँटें! इन्द्र सुनते (समय) इनकी सभा में पिल्ला – जैसे बच्चा हो वैसे बैठे! ऐसे... बैठे! और सुने! प्रभु बिराजते हैं–महाविदेह में प्रभु विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। आहा...हा...! अन्दर सभी भगवान है। इस भगवान का अनुभव अबद्धस्पृष्टरूप हो तो भगवान है। बद्धस्पृष्टरूप देखे तो वह भगवान का स्वरूप नहीं। आ...हा...हा...!

यह पाँच (भावस्वरूप आत्मा) का अनुभव, वह निश्चय से समस्त / पूरे जैनशासन की अनुभूति है। पूरा जैनदर्शन, वीतराग मार्ग, चार अनुयोगों का सार वीतरागता, वह पूरा–समस्त जैनशासन, (वह) इस आत्मा की अनुभूति, वह समस्त जैनशासन है, अर्थात् कि वीतरागता है। जैनशासन अर्थात् वीतरागता है। आहा...हा...! यह चौथे गुणस्थान की बात

चलती है, हों! वहाँ जो ज्ञान हुआ है, वह वीतरागी ज्ञान है। भाषा सरल है। धनकुमार सेठजी! यह तो थोड़ा–थोड़ा समझ में आये ऐसा (है)।

**मुमुक्षु :** समझ में आ रहा है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आ रहा (है)। आ रहा (है)! धीरे.... धीरे से.... लोगों को उत्साह है न, प्रेम है। सुनो प्रभु! यह बात तो अन्दर की है, प्रभु! आ...हा...हा...!

निश्चय से समस्त जैनशासन (कहा, तो) समस्त में क्या आया? चारों ही अनुयोगों का सार यह है। चारों ही अनुयोगों में कथन यह है। अबद्धस्पृष्ट ऐसा भगवान आत्मा – यह नास्ति से बात की है। अस्ति से कहें तो मुक्तस्वरूप प्रभु (है)। अबद्ध (अर्थात्) 'बद्ध नहीं' – ऐसी नास्ति से बात की। अस्ति से कहें तो अन्दर मुक्तस्वरूप भगवान है। द्रव्य जो है, वह मुक्तस्वरूप है, सकल निरावरण है – त्रिकाल निरावरण है। आहा...हा...हा...! ऐसा जो द्रव्य अर्थात् वस्तु। अभी एक समय की पर्याय की बात नहीं। इस वस्तु का अनुभव होना, वह पर्याय (है), अनुभव, वह पर्याय (है और) वह समस्त जैनशासन की अनुभूति है। सामान्य वस्तु, वह जैनशासन नहीं; उसका अनुभव, वह जैनशासन है क्योंकि वीतरागता, वह जैनशासन है। आहा...हा...हा...! समझ में आये ऐसा है बापू! हों, भगवान! बहनों–लड़कियों को भी समझ में आये ऐसा है। बहनों–बेटियों, माताओं! यह तो भगवान आत्मा की बातें हैं, बापा! आहा...हा...! भगवानजी भाई! सभी भगवानस्वरूप है। बहिन–बेटी हो, माता हो, बड़ा हो या लड़का हो या बालक हो (सभी भगवान है)। आहा...हा...!

प्रभु ऐसा कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन न! आहा...हा...! तू अन्दर जो मुक्तस्वरूप हो! आहा...हा...! सामान्यस्वरूप हो! सामान्य अर्थात् भेदरहित; नियत (अर्थात्) निश्चयस्वरूप हो; गुणभेद से रहित जो तेरा स्वभाव है; मोह की, राग की संयुक्तता से रहित तेरा स्वरूप है, उसकी अनुभूति वह समस्त जैनशासन है। पूरे जैनदर्शन का सार (यह है) और अनुभूति, वह जैनशासन है। अब इसमें सम्प्रदाय की कहाँ बात रही? जेठालालभाई! ऐसी बात है, भगवान! आहा...हा...! पन्द्रहवीं गाथा ऐसी है। अलौकिक बात है। आहा...!

**सम्यक्त्व अनुभूति क्योंकि....** अब कारण देते हैं कि **श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है....** क्योंकि वह श्रुतज्ञान हुआ, क्या (कहा)? आत्मा त्रिकाल मुक्तस्वरूप है; नियत–

निश्चय है; मोह के संयुक्त से रहित है – ऐसा जो अनुभव, वह श्रुतज्ञान है। वह अनुभव, श्रुतज्ञान है। (चौदहवीं गाथा में) सम्यग्दर्शन कहा था, यहाँ वह श्रुतज्ञान है (– ऐसा कहते हैं)। धीरे से समझ में आये ऐसा है।

करने योग्य तो यह है बापू! देह छूट जायेगी और चला जायेगा; (बाद में) कहाँ जायेगा? बापू! यह जो नहीं समझे, सम्यग्ज्ञान का डोरा जो नहीं पिरोये (तो) धागा बिना की सुई खो जायेगी। सुई में सूत का डोरा नहीं पिरोया होगा तो वह खो जायेगी। वैसे (ही) सम्यग्ज्ञान बिना जो आत्मा होगा (तो) प्रभु! चौरासी में खो जायेगा। कहाँ अवतार लेगा इसका मेल नहीं रहे। परन्तु यदि सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरोया होगा, यह ऐसा स्वरूप है – ऐसा यथार्थ ज्ञान का डोरा (पिरोया) होगा, तो उसको भटकना रहेगा नहीं; उसकी एक–दो भव में मुक्ति हो जायेगी। आहा...हा...!

श्रुतज्ञान लिया, देखा इसमें? वह जैनशासन की अनुभूति श्रुतज्ञान लिया। पण्डितजी! सम्यग्दर्शन की व्याख्या चौदहवीं (गाथा में) कही। यह जैनशासन का अनुभव, वह श्रुतज्ञान है – भावश्रुतज्ञान है। द्रव्यश्रुत की वाणी, शब्द को सुना हो और उसका ज्ञान, वह नहीं। शास्त्र वाँचे हों, पढ़े हों, सुने हों, सुनकर अन्दर लक्ष्य हुआ हो, वह भी यहाँ नहीं। यहाँ तो भगवान आत्मा....! आ...हा...हा...! मुक्तस्वरूप विराजता है, प्रभु! ऐसी परमात्मा की पुकार है। यदि मुक्तस्वरूप न हो तो मुक्तस्वरूप होगा कहाँ से? मुक्ति की दशा जो है – मोक्षदशा; मुक्तस्वरूप यदि न हो तो वह मुक्तदशा कहाँ से होगी? क्या ऊपर से आती है? समझ में आया? ...भाई! यह दूसरी बातें हैं। आहा...हा...! क्या प्रभु बात करते हैं? कहते हैं कि **क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है।** जैनशासन (जिसे) कहा, वह श्रुतज्ञान है और वह श्रुतज्ञान, आत्मा है। भावश्रुतज्ञान (अर्थात्) अन्दर (आत्मा का) वेदन हुआ, वह जैनशासन है, वह श्रुतज्ञान है और वह श्रुतज्ञान, वह आत्मा है। है? लेख है इसके अन्दर! आहा...हा...! समझ करनी चाहिए। जरा सूक्ष्म बात हैं प्रभु!

आ...हा...! तेरे बड़प्पन की बातें करते हुए भगवान भी कहते (हैं कि)

**जो स्वरूप झलके जिनवर के ज्ञान में,**
**जो स्वरूप झलके जिनवर के ज्ञान में,**
**कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।....**

जो अनुभव के वेदन की बात (है), वह वाणी द्वारा कितनी आये। सज्जन की बात शत्रु द्वारा कितनी की जाये? सज्जन की बात शत्रु द्वारा कितनी की जाये? यह वाणी है, वह तो चैतन्य से विरुद्ध है। आ...हा...हा...! वह वाणी द्वारा प्रभु! तेरी चैतन्य की जाति क्या है? (और) कितनी (है वह) कैसे कहा जाये? 'श्रीमद्' कहते हैं...

**जो स्वरूप झलके जिनवर के ज्ञान में,**
**कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।**

एक अपेक्षा से, हों! बाकी पूरा कहा है, दूसरी जगह पूरा कहा है।

**उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,**

जो स्वरूप (भगवान की) वाणी में भी पूरा नहीं आ सके, क्योंकि वाणी जड़ और प्रभु चैतन्य; इस चैतन्य की बात जड़ द्वारा कहना – वह कितनी आवे? वह सर्वज्ञ भी पूरा नहीं कहे तो अन्य वाणी वह क्या कहे?

**अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब।**

आत्मा आनन्दस्वरूप, सामान्यस्वरूप, ध्रुवस्वरूप और मुक्तस्वरूप, उसके सन्मुख होने पर जो अनुभव हो, वह श्रुतज्ञान है, वह भावश्रुतज्ञान है, वह अरूपी भावश्रुतज्ञान है; जिसमें द्रव्यश्रुत की भी अपेक्षा है नहीं। आ...हा...हा...! गाथा बहुत ऊँची है। है? वह **श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है।** श्रुतज्ञान की पर्याय को यहाँ आत्मा कहा। क्यों? (क्योंकि) बद्धस्पृष्ट आदि जो राग आदि भाव थे, वे अनात्मा हैं। आ...हा...हा...! अरे...! ज्ञान की अनेक प्रकार की अनियत पर्याय को भी यहाँ अनात्मा कहा है। आहा...हा...! नियतरूप जो त्रिकाल ज्ञायकभाव, अकेला चैतन्य का रसकन्द, ज्ञान का पूर अन्दर पूरा भरा है, उसका अनुभव, वह श्रुतज्ञान है और वह श्रुतज्ञान जैनशासन है और जैनशासन, वह श्रुतज्ञान है; और श्रुतज्ञान, वह आत्मा है। आ...हा...हा...! है? वह **श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है।** ऐसी भाषा (है)। वह स्वयं आत्मा ही है। आ...हा...हा...!

ज्ञानस्वरूप प्रभु का अनुभव करना, वह जैनशासन है – जैनधर्म है, जैनमार्ग है; तीन लोक के साथ मोक्ष का पन्थ वह है। उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है और उसे आत्मा कहा

जाता है। वह श्रुतज्ञान है, उसे यहाँ आत्मा कहा गया है। आ...हा...हा...! कहो, चन्दुभाई! यह कल का फिर से लिया है।

**मुमुक्षु :** बहुत अच्छा आया। कल हिन्दी में हुआ था न! हमें समझ में नहीं आता।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ऐसा नहीं होता, समझ में नहीं आता – ऐसा (नहीं) होता। धनकुमार सेठ कहे कि हमें गुजराती बराबर समझ में नहीं आती (और) तुम कहो कि हिन्दी समझ में नहीं आती। भाषा तो सरल है न, प्रभु! हिन्दी हो या गुजराती! भाषा सरल है। यहाँ कोई बड़ी पण्डिताई और बड़ा व्याकरण और एम.ए. और एल.एल.बी (के) डिग्रियाँ नहीं.... आहा...हा...!

प्रभु! अन्दर तेरा स्वरूप ही भगवान (है)। कहा था न एक (बार)! प्रभु! आपने सब देखा, सर्व ज्ञान (में) आपने देखा, इसमें हमारे आत्मा को आपने ऐसा निर्मल देखा है। समझ में आया? आहा...हा...! पहला शब्द क्या रह गया? भूल गये।

**मुमुक्षु :** प्रभु तुम जाणग रीति....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ! प्रभु तुम जाणग रीति! 'प्रभु तुम जाणग रीति', प्रभु को ऐसा कहते हैं।

**प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल**

**निज सत्ता से शुद्ध....** प्रभु! हे जिनेश्वर देव, वीतराग! आपके केवलज्ञान में आपने हमें 'निज सत्ता से शुद्ध' हमारी सत्ता–अस्तित्व, वह वीतरागरूप है, उसे तुम आत्मा देखते हो। समझ में आया? आ...हा...हा...! जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ! जिनके सौ इन्द्र तलवे चाँटे और पिल्ले के बच्चे जैसे जिनको सुनने बैठे। आ...हा...हा...! उन प्रभु को कहते हैं, नाथ! *'प्रभु तुम जाणग रीति',* हे नाथ! तुम्हारे ज्ञान की जानने की पद्धति 'सहु जग देखता' तीन काल तीन लोक आप देखते हो, उसमें हमको (कैसा) देखते हो? हमको आप (कैसा) देखते हो? आ...हा...हा...! हमको शरीरवाला और रागवाला आप नहीं देखते। आ...हा...हा...! निज सत्ता से शुद्ध–निज सत्ता-अस्तित्व अबद्धस्पृष्ट है – ऐसे हमारे आत्मा को, हे नाथ! तुम देखते हो! तुम जैसा देखते हो, वैसा हम देखें तो (वह) जैनशासन है। आहा...हा...हा...! भगवानजीभाई!

अन्दर में तुम जो देखते हो, नाथ! हमारे आत्मा का अस्तित्व, आत्मा का सत् अर्थात् सत्व, त्रिकाली वस्तु (शुद्ध सत्तामात्र देखी है)। वस्तु है, उसमें अनन्त गुण बसते हैं, रहते हैं; इसलिए 'वस्तु' कहते हैं। इस मकान का वास्तु लेते हैं न... वास्तु! यह कहीं पीपल के झाड़ में वास्तु लेते (है)? मकान हो वहाँ वास्तु लेते हैं, वैसे यहाँ वस्तु में अनन्त गुण बसे हुए (हैं) – यह वास्तु है। अनन्त... अनन्त... गुण जिसमें बसे हुए (हैं) ऐसी यह प्रभु वस्तु है। नाथ! हमारी चीज को आप शुद्ध देखते हो। हमारी निज सत्ता, वह तुम्हारी जैसी सत्ता है – ऐसी हमारी सत्ता तुम देखते हो, अब हम हमारी सत्ता तुम देखते हो – ऐसी देखेंगे, तब तुम्हारे साथ शामिल हो जाएँगे। आ...हा...हा...! कहो, लक्ष्मीचन्दभाई!

आ...हा...हा...! यह तो अन्दर की लक्ष्मी की बात है, बापू! आ...हा...हा...! प्रभु! मूर्ख कहो, पागल कहो, चाहे जो कहो! (पूरी) दुनिया को हम जानते हैं परन्तु यह चीज है, वह कोई अलौकिक है। अरे...रे...! इसने अनन्त भव में, अनन्त परिभ्रमण के काल में दुःख भोगे परन्तु यह प्रभु अन्दर मुक्तस्वरूप है और उसका अनुभव, श्रुतज्ञान और जैनधर्म है, यह बात इसने लक्ष्य में ली नहीं प्रभु! आहा...हा...! समझ में आया?

**(श्रुतज्ञान स्वयं) आत्मा ही है; इसलिए ज्ञान की अनुभूति वही आत्मा की अनुभूति है।** देखो! कहा? कि त्रिकाली का जो ज्ञान हुआ – शुद्ध, अबद्ध, मुक्तस्वरूप का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान ही आत्मा है और उस ज्ञान की अनुभूति, वह आत्मा की अनुभूति है। पर्याय में ज्ञान का अनुभव है, वही आत्मा का अनुभव है। आ...हा...हा...!

अरे... विधि पकड़े तो सही! जाने तो सही! उसकी विधि जाने बिना वह किस प्रकार प्रयत्न करेगा? इसका क्या मार्ग है? आहा...! पहले एक बार उदाहरण नहीं दिया था? हलुवा बनाने जाये तो पहले आटे को घी में सेंके। सीरा कहते हैं, तुम्हारे क्या कहते हैं?

**मुमुक्षु :** हलुवा।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हलुवा! घी में आटा सेंके, बाद में शक्कर और गुड़ का पानी डाले, तब वह हलुवा बने परन्तु कोई ऐसी समझदार की लड़की निकली (और ऐसा हुआ कि) शक्कर और गुड़ का पानी बाद में डालना पड़ता है न, तो गुड़ के पानी में पहले आटा सेको! बाद में डालो घी! तीनो जाएंगे तेरे! लेई भी नहीं बनेगी!! हलुवा तो नहीं बनेगा परन्तु

लेई भी नहीं बनेगी। इसी प्रकार जो यह विधि है, इससे दूसरी तरह करेगा तो तेरा चार गति में परिभ्रमण मिटेगा नहीं। मार्ग यह है। हलुवा बनाने का तरीका–पहले घी में आटे को सेंकना, ऐसा है। ऐसे मोक्ष का मार्ग – पहले आत्मा को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान करना यह है। भगवानजीभाई ! आहा...हा... !

कहते हैं **वह... ज्ञान की अनुभूति, वही आत्मा की अनुभूति है।** पर्याय, हों... ! द्रव्य का अवलम्बन करके ज्ञान की जिस पर्याय ने अनुभव किया, मुक्तस्वरूप के लक्ष्य से जो ज्ञान का अनुभव हुआ, वह ज्ञान वही आत्मा है और वह आत्मा, वही जैनशासन है, यह जैनशासन वह श्रुतज्ञान है – यहाँ ऐसा लेना है। भावश्रुतज्ञान, वह आत्मा है – ऐसा यहाँ लेना है। आहा...हा... ! है ?

**परन्तु अब...** थोड़ा ध्यान अधिक रखना भाई ! ऐसा होने पर भी, क्यों प्रगट होता नहीं ? और कैसे प्रगट होता है ? (वह कहते हैं)। **सामान्यज्ञान का आविर्भाव....** यह क्या कहते हैं ? त्रिकाली ज्ञायकभाव जो सामान्य है, त्रिकाली ज्ञायकभाव जो सामान्य है, उसका आविर्भाव अर्थात् प्रगट होना। वह त्रिकाली है, उसका प्रगट होना या नहीं प्रगट होना तो है नहीं, परन्तु यहाँ तो जो त्रिकाली वस्तु है, उसका अनुभव हुआ, उस कारण उसको ज्ञायक का अनुभव हुआ – ऐसा कहा जाता (है)।

वह, सामान्यज्ञान का आविर्भाव, अर्थात् ? जो ज्ञानसामान्य त्रिकाली ध्रुव है, जिसमें मति–श्रुत और अवधि आदि के भेद भी नहीं; अन्दर अकेला ज्ञानमूर्ति प्रभु, ध्रुव है, उस ज्ञान का जो अनुभव, वह सामान्यज्ञान का आविर्भाव ! वह ज्ञानसामान्य अर्थात् त्रिकाल (स्वरूप), उसकी दृष्टि होने पर, उस सामान्यज्ञान का पर्याय में अनुभव होना, वह सामान्यज्ञान का आविर्भाव। आहा...हा... ! सामान्य का आविर्भाव होता नहीं; सामान्य तो त्रिकाल ही रहता है। समझ में आया ? परन्तु सामान्य की तरफ लक्ष्य करके जो अनुभव हुआ, उसको सामान्यज्ञान कहा जाता है।

फिर से – सामान्यज्ञान का आविर्भाव–सामान्य अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव, जो अबद्धस्पृष्ट आदि (पाँच भावस्वरूप) कहा, उस पर दृष्टि देने पर, वह है तो त्रिकाली प्रगटस्वरूप ही, परन्तु इसने अनुभव किया, तब इसे प्रगट देखने में आया; इस कारण इसे

ज्ञायकभाव प्रगट हुआ, आविर्भाव हुआ, बाहर आया, ख्याल में आया – ऐसा कहा जाता है। है? आहा...हा...!

फिर से – सामान्यज्ञान का आविर्भाव अर्थात् (क्या)? त्रिकाली ज्ञायकभाव जो अबद्धस्पृष्ट, मुक्त कहा, उसका अनुभव, वह सामान्यज्ञान का आविर्भाव (है)। जो सामान्यज्ञान प्रगट में – ख्याल में नहीं था, तब उसे तिरोभूत कहा जाता था। यह ज्ञायक है, वह आविर्भाव और तिरोभूत होता नहीं। ज्ञायक जो त्रिकाली है, उसका कुछ भी आविर्भाव और तिरोभूत होता (नहीं), वह तो है वही है, परन्तु ज्ञायकभाव का–सामान्य ज्ञान का (जो अनुभव किया) त्रिकाली ज्ञान पर दृष्टि देने पर जो अनुभव हुआ, उसे सामान्य का आविर्भाव कहा जाता है। समझ में आया?

फिर से – सामान्यज्ञान का आविर्भाव, अर्थात् कि पहले जो अबद्धस्पृष्ट सामान्य कहा, गुणभेद से रहित जो सामान्य कहा, वह वस्तु है त्रिकाली द्रव्य... त्रिकाली द्रव्य; उस द्रव्य का अनुभव, वह सामान्य का आविर्भाव अर्थात् सामान्य प्रगट हुआ कहने में (आता है)। सामान्य तो सामान्य ही है। सामान्य बाहर में आवे (तो) वह तो विशेष हो गया, किन्तु यहाँ सामान्य के ऊपर दृष्टि देने पर जो आविर्भाव हुआ, अनुभव हुआ, इसलिए सामान्य का आविर्भाव कहा गया।

**मुमुक्षु :** पर्याय में आविर्भाव हुआ?

**समाधान :** पर्याय में दृष्टि (में) आया, इसलिए सामान्य का आविर्भाव–सामान्य प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! है न सामने, लिखा हुआ है या नहीं? सामान्यज्ञान का प्रगट होना अर्थात् कि त्रिकाली ज्ञानस्वभाव, उसमें दृष्टि देने पर वह ज्ञायकभाव जानने में आया, इसलिए वह ज्ञायकभाव प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...हा...! धन्नालालजी! है?

यह गाथा सूक्ष्म है, प्रभु! पन्द्रहवीं गाथा तुम सबने लिखी है! वहाँ सोनगढ़ एक पत्र आया था कि ये-ये वाँचना। पन्द्रहवीं में तो यह है। आहा...हा...! यहाँ पन्द्रहवान नहीं, हों! यहाँ सोलहवान है। पन्द्रहवीं गाथा में सोलहवान की बात है। सोलहवान अर्थात्? त्रिकाल नित्यानन्द प्रभु है... है.... है.... है...., है..., है.... है... जिसमें पर्याय का भी भेद नहीं – ऐसा

जो भगवान ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, सच्चिदानन्द प्रभु, ध्रुवभाव, उसका लक्ष्य करने पर ज्ञान में अनुभव में जो आवे, उस कारण वह सामान्य प्रगट हुआ है, सामान्य का आविर्भाव हुआ है – ऐसा कहा जाता है। आ...हा...हा...! यह एक बोल ही कठिन है।

**मुमुक्षु :** बहुत सरस! अलौकिक सरस बात!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आहा...हा...! बापू! यह बात कान में सुनने को मिले, वह भाग्यवान है! ऐसी यह तो त्रिलोकीनाथ की वाणी है। जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ भगवान के मुख से दिव्यध्वनि निकली। ये 'कुन्दकुन्दाचार्य' वहाँ गये थे, आठ दिवस रहे थे, सन्त थे, अनुभवी थे, चारित्रवन्त थे, फिर भी वहाँ आठ दिन रहकर ज्ञान की निर्मलता बहुत प्रगट हुई, (बाद में वहाँ से) आकर यह शास्त्र बनाया। आहा...हा...! मूल गाथा तो इनकी है न? और उन गाथाओं की यह टीका, उनके बाद – एक हजार वर्ष बाद 'अमृतचन्द्र आचार्य' हुए, उन्होंने यह टीका बनाई। जैसे, तीर्थंकर के भाव की गणधर रचना करते हैं, वैसे 'कुन्दकुन्दाचार्य' के भाव की 'अमृतचन्द्राचार्य' ने रचना की है।

**मुमुक्षु :** उसका रहस्य तो आप खोल रहे हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मार्ग तो इसमें यह रहा है न, प्रभु! **यह तो अन्दर पूर्व का था, वही आया**!! आ...हा...हा...! यह तो किसी के पास से सुना नहीं था, किसी के पास था नहीं तो किसे सुनें? आ...हा...हा...! **परन्तु अन्दर से ही आया।** कल रात में कहा नहीं था? **शिवरमणी रमनार तु, तुं ही देवनो देव।** यह आवाज (संवत्) 64 वीं साल में आई। अठारह वर्ष की उम्र में! दुकान पर। पिताजी गुजर गये और दुकान चलानेवालों में मैं ही दुकान चलाता। उसमें एक बार रामलीला आई... रामलीला! यह रामलीला नहीं होती? 'राम' और 'लक्ष्मण' की बड़ी लीला करते, वह देखने गये थे। बाह्मण के लड़के.... ऐसे भजते...! 'राम', 'सीता' और 'लक्ष्मण', ओ...हो...हो...! गाँव के एक मन्दिर का बाबा था, उस बाबा ने भी उनकी आरती उतारी! दूसरे भेष की! ब्राह्मण के लड़के 'राम' और (लक्ष्मण), उनकी आरती उतारी, इतना रस था। उस रस में मुझे अन्दर से रस आ गया। मैं तो व्यापारी। यहाँ कवि (कविता) कौन जानते थे! परन्तु 6 पंक्ति कौन जाने कैसे बन गई। आधी पंक्ति याद रह गई, बाकी सब पुस्तक में रह गई। **अन्दर से ऐसा**

**पहले से आया – हे आत्मा! शिवरमणी रमनार तुं....** तेरी परिणति तो शिवरमणी की है। यह स्त्री नहीं होती। **'तुम ही देवों के देव हो'** वह समझ में नहीं आया था, यह क्या कहते हैं? **अन्दर से आया... तुम देवों के देव हो। बाद में तो फिर बहिन की तरफ से (खुलासा मिल गया)।**

यहाँ कहते हैं, आहा...हा...! **सामान्यज्ञान का आविर्भाव।** इस शब्द में बहुत गम्भीरता है। एक चैतन्यमूर्ति भगवान अन्दर विराजमान है। ध्रुवस्वरूप... ध्रुवस्वरूप... उसका अनुभव, (उसे) ध्रुव का आविर्भाव कहा जाता है। ध्रुव का आविर्भाव होता नहीं; ध्रुव तो ध्रुवरूप ही रहता है, फिर भी ध्रुव तरफ दृष्टि होने पर जो आनन्द का स्वाद आया, उसको सामान्य प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। सामान्य में जो अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, त्रिकाली में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है, (ज्ञान) उसके सन्मुख हुआ, वहाँ जो आनन्द प्रगट हुआ, उससे वह सामान्य का आविर्भाव (अर्थात् कि) द्रव्य मानो उसको प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। सामान्य अर्थात् द्रव्य (और) आविर्भाव अर्थात् प्रगट हुआ। आहा...हा...! समझ में आया? भाषा तो सरल है। रायचन्दभाई! बहुत गूढ़ नहीं है। यह संस्कृत नहीं, व्याकरण नहीं, यहाँ तो सादी भाषा (है) आ...हा...हा...!

सामान्य का तिरोभाव.... अन्दर एकरूप वस्तु है। बद्धस्पृष्ट रहित जो पाँच बोल कहे, उन पाँच बोलरूप एक स्वरूप, उसकी दृष्टि होने पर उस ज्ञायक का श्रुतज्ञान में भान हुआ तो वह ज्ञायकभाव प्रगट हुआ, वह सामान्यभाव आविर्भाव–प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

सामान्यज्ञान का... सामान्यज्ञान अर्थात् त्रिकाली। सामान्यज्ञान अर्थात् त्रिकाली (ज्ञायकभाव का) आविर्भाव अर्थात् प्रगटता (हुई) (अर्थात्) पर्याय में ख्याल आया। अन्तर्मुख देखने पर, पूर्णानन्द के नाथ को अन्दर में देखने पर... आ...हा...हा...! सबसे दृष्टि हटाकर – संयोग से दृष्टि हटाकर, निमित्त से हटाकर, राग से हटाकर, पर्यायबुद्धि में से भी दृष्टि हटाकर, सामान्य पर जहाँ दृष्टि गयी, तब वह सामान्य आविर्भाव हुआ, तब वह सामान्य है, यह पर्याय में ख्याल में आया। ख्याल में आया, यह आविर्भाव हुआ। जो ख्याल में नहीं था, वह सामान्य ख्याल में आया, यह 'सामान्य का आविर्भाव हुआ' – ऐसा कहने में आया। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** दृष्टि में सामान्य ख्याल में आया, उसका मतलब आविर्भाव हुआ?

**समाधान :** सामान्य (का) तो कुछ भी आविर्भाव होता नहीं; सामान्य तो त्रिकाल निरावरण ही है परन्तु सामान्य का जहाँ लक्ष्य हुआ और दृष्टि हुई, वहाँ आनन्द का स्वाद आया और श्रुतज्ञान प्रगट हुआ, (उसको) सामान्य का आविर्भाव कहा जाता है। सामान्य प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। आविर्भाव अर्थात् प्रगट हुआ। आहा...हा...हा...!

ऐसी बात, 'अफ्रीका' में! सूक्ष्म बात है, भगवान! सूक्ष्म भी आने दो, कहते थे न रात में? यह आज सूक्ष्म आया।

**मुमुक्षु :** यह तो हथेली में आत्मा बताया?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हथेली में आत्मा है! बात सच्ची, बापा! आ...हा...हा...!

प्रभु! प्रभु की पुकार है कि प्रभु! तेरी प्रभुता से भरा हुआ पूर्ण तत्त्व है, उसकी तुझे दृष्टि हो और भावश्रुतज्ञान हो, तब वह सामान्य भाव है, वह प्रगट हुआ, ख्याल में आया, पर्याय अनुभव में आई अर्थात् यहाँ सामान्य (का) आविर्भाव हुआ – ऐसा कहा जाता है। धन्नालालजी!

आ...हा...हा...! अमृतवाणी है भगवान की! यह तो अमृत बहाया है। आहा...हा...! आ...हा...हा...! 'श्रीमद् एक (बार) कहते थे –

**जे स्वरूप समज्या बिना, पाम्यो दुःख अनन्त;**
**समझाव्युं ते पद नमुं श्री सद्गुरु भगवन्त।**
**रे गुणवंता रे ज्ञानी, अमृत बरस्यां रे पंचमकालमां!**
**हे गुणवंता अे ज्ञानी, अे अमृत वरस्यां रे पंचमकालमां।।**

आ...हा...हा...! ऐसी चीज है। लक्ष्मीचन्दभाई!

सामान्यज्ञान अर्थात् त्रिकाली; उसका आविर्भाव अर्थात् पर्याय में प्रगट हुआ। उसके सम्मुख देखने पर, ध्रुव की नजर करने पर, ध्रुव के निधान को नजर में लेने पर वह सामान्य प्रगट हुआ अर्थात् ख्याल में आया। ख्याल में आया, उसे सामान्य प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। भाषा थोड़ी सादी है परन्तु भाव बहुत गहरे हैं। आ...हा...हा...!

अरे...रे... ! इसने आत्मा का कभी किया नहीं। बाहर की पंचायत के कारण निवृत्त नहीं होता। अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ विराजता है, उसको देखने के लिए, उसे अड़ने-स्पर्शन करने के लिए, उसके सन्मुख होने के लिए फुरसत नहीं निकालता और भटकने के मार्ग में फुरसत लेकर पड़ा है। भाई ! आहा...हा... ! फिर भले अरबोंपति हो या करोड़पति धूल हो ! पति तो उसे कहते हैं – करोड़पति वह जड़ का पति, उसको पति कहते हैं? करोड़पति और अरबपति ! – भैंस का पति पाड़ा (कहा जाता है) ऐसे ही यह करोड़पति वह करोड़ का स्वामी – जड़ का पति कहलाये। आ...हा...हा... ! यहाँ तो अन्दर से आत्मा का स्वामी हुआ ! आहा...हा... !

भगवान सामान्यस्वरूप जो है, उसका आविर्भाव हुआ। आहा... ! **और विशेष (ज्ञेयाकार) ज्ञान का तिरोभाव...** अर्थात्? ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों से ज्ञान भंग पड़ता – ज्ञान की पर्याय में दूसरे ज्ञेयों को जानने से भंग पड़ता था, उसका ढँक (जाना, उसे तिरोभाव कहते हैं)। फिर से ! है? विशेष अर्थात् (ज्ञेयाकार) ज्ञान का तिरोभाव, अर्थात? ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयों (को) जानकर ज्ञान मानो ज्ञेयरूप है, ऐसा हो जाता है, वह ज्ञेयाकार मिटकर ज्ञानाकार ज्ञान हुआ। समझ में आया? अर्थात् सामान्य का आविर्भाव हुआ और ज्ञेयाकार जो ज्ञान होता था, वह पराधीन था, वह तिरोभूत हो गया। आ...हा...हा... !

फिर से लेते हैं। विशेषज्ञान का तिरोभाव – आच्छादन अर्थात्? कि ज्ञान की पर्याय में भेदरूप जो अनुभव था.... वह दूसरे ज्ञेय हैं, उन दूसरे ज्ञेयों के आकाररूप परिणमित हुआ ज्ञान, वह पराधीन था। दूसरे ज्ञेय को जाननेरूप परिणमित हुआ ज्ञान, वह पराधीन था। वह ज्ञेयाकार (ज्ञान) का तिरोभूत हो गया। सामान्यज्ञान (का) जहाँ आविर्भाव हुआ तो ज्ञान की पर्याय में पर के ज्ञेयाकाररूप होता था, वह ज्ञान ढँक गया, वह ज्ञान नष्ट हो गया। आ...हा...हा... !

फिर से – इसको तो फिर–फिर से ले तो कोई पुनरक्ति (दोष) लगता नहीं। आहा...हा... ! सामान्यज्ञान का आविर्भाव और विशेषज्ञान का तिरोभाव, अर्थात् कि ज्ञान की पर्याय स्वज्ञेय को नहीं जानने पर, जो ज्ञान की पर्याय पर के ज्ञेयाकार परिणमन में रुक गई थी, वह इस सामान्यज्ञान पर दृष्टि पड़ने पर (जो) ज्ञेयाकार ज्ञान होता (था), वह

तिरोभाव–ढँक गया। समझ में आया? भाषा तो सरल (है) परन्तु भाव तो सूक्ष्म है न, बापा! आहा...हा...हा...! दो शब्द में तो इतना भरा है। सामान्य का आविर्भाव और विशेष का तिरोभाव। आहा...हा...!

भगवान आत्मा! सामान्य अर्थात् त्रिकाली स्वरूप जो है, उसकी दृष्टि होने पर, भावश्रुतज्ञान होने पर, वह भाव सामान्य का आविर्भाव कहा जाता है। आविर्भाव अर्थात् सामान्य प्रगट हुआ – ऐसा कहा गया। प्रगटी तो पर्याय, परन्तु सामान्य का लक्ष्य करने पर (प्रगटी), इसलिए यह सामान्य प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। इस समय विशेष ज्ञान की पर्याय अनन्त ज्ञेयाकाररूप होकर ज्ञान खण्ड–खण्ड होता था, ज्ञेयाकार होकर ज्ञान खण्ड–खण्ड होता था, वह तिरोभूत हो गया, वह ढँक गया। आ...हा...हा...! थोड़ा सूक्ष्म है। यह गाथा ही ऐसी है न, प्रभु! पन्द्रहवीं गाथा तुमने ही लिखी है कि यह वाँचना। आहा...हा...!

विशेष ज्ञेयाकार – अपने को भूलकर और अपनी ज्ञानपर्याय जो है, वह परज्ञेय के आकार परिणमन करती थी। अपने ज्ञान आकार (को) भूलकर परज्ञेय के आकार ज्ञान की परिणति होती थी। पर को जानने में (इसमें ज्ञान) रुक गया, वह कोई ज्ञान नहीं। पर को जानना, (इसमें) पर को जानने में जानता है तो अपनी पर्याय; पर को जानता नहीं, किन्तु पर की ओर के लक्ष्यवाला ज्ञान, परज्ञेय के आकार हुआ ज्ञान; वह सामान्यज्ञान प्रगट होने पर, वह ज्ञेयाकार ज्ञान की पर्याय ढँक गयी, आच्छादित हो गयी, रुक गयी। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

आ...हा...हा...! यह तो प्रभु! तेरे घर की बात है न! तेरे घर की बातें करते हैं, बापा! तुझे घर ले जाना चाहते हैं, परघर में फिरा करते हो। आहा...हा...! हिन्दी में क्या आता है न? 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' और (दूसरा) नहीं आता?

**मुमुक्षु :** हम तो कबहुँ न निज घर आये...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, 'हम तो कबहुँ न निज घर आये!' हिन्दी में आता है।

**'हम तो कबहुँ न निज घर आये,**
**पर घर भ्रमत अनेक नाम धराये...'**

'पर घर भ्रमत' (अर्थात्) ज्ञानपर्याय इसकी होने पर भी, उस ज्ञानपर्याय में ज्ञेय के आकार को देखने रुक गया। 'पर घर भ्रमत अनेक नाम धराये, हम तो कबहुँ न निजघर आये।' आहा...हा...! सामान्य के ऊपर दृष्टि पड़ने पर, निजघर में आया और ज्ञेयाकार जो परघर था, उसको छोड़ दिया। आहा...हा...!

ऐसा मार्ग है, प्रभु! धीरे से विचारने जैसा है प्रभु! धीरे से यह करने जैसा है, बापू! बाकी तो देह चली जायेगी, देह तो नाश हो जायेगी। यह तो शमशान की राख है। शमशान की राख वह इतनी नहीं होगी, थोड़ी (होगी)। हवा आई उड़ और जायेगी। आ...हा...हा...! 'रजकण तारा रखडशे अने जेम रखड़ती रेती' यह रेत...रेत...! रेत रखड़ती है न? ऐसे ही यह रजकण (भटकेंगे)।

**रजकण थारा रखड़शे अने जेम रखड़ती रेत,**
**पछी नरतन पामीश क्यां? चेत, चेत, नर चेत....**

यह 'रजकण तारा रखड़शे जेम रखड़ती रेत।' धूल जैसे रखड़ती है, वैसे यह भटकेंगे और उड़ जायेंगे। 'पछी नरतन पामीश क्यां? चेत, चेत, नर चेत...' 'इसमें देखो, इसमें आओ, अब बाहर में सर्वत्र रुका पड़ा है...! मर गया है।' (ऐसा) कहते हैं। आहा...!

विशेष ज्ञेयाकार अर्थात् ज्ञान का तिरोभाव। वह ज्ञान का तिरोभाव अर्थात्? ज्ञान की पर्याय में जो पर ज्ञेयाकार होता था, वह ढँक गया, वह आच्छादन हो गया, (उसका) लक्ष्य छूट गया। ज्ञान की पर्याय में पर ज्ञेयाकार (जानने में आता था), उसका लक्ष्य छूट गया। ज्ञान की पर्याय में सामान्य लक्ष्य में आया अर्थात् सामान्य प्रगट हुआ और ज्ञेयाकार ढँक गया। आहा...हा...हा...! समझ में आया? भाषा तो सरल है। बहनों को, लड़कियों को भी समझ में आये ऐसा है। हमारे तो आत्मा हैं न! भगवान! हम तो आत्मा देखते हैं न, अन्दर सभी आत्मा है न! आहा...हा...! आ...हा...! सामान्य का आविर्भाव और विशेष का तिरोभाव में ऐसा अर्थ है।

त्रिकाली भगवान है – अबद्धस्पृष्ट जो पाँच भावस्वरूप कहा, उसका लक्ष्य होने पर वह सामान्य प्रगट हुआ – ऐसा कहा (जाता है)। अनुभव में आया अर्थात् प्रगट हुआ

– ऐसा कहा जाता है और उसके अनुभव में आने पर, ज्ञान की पर्याय में पर ज्ञेयाकार होकर (ज्ञान) पराधीन होकर रुक जाता था, उस ज्ञेयाकार का वहाँ नाश हो गया। ज्ञानाकार ज्ञान होने पर, ज्ञेयाकार का नाश हो गया। धन्नालालजी! आहा...हा...! गाथा तो ऐसी ऊँची है, बापू! कान में पड़ने के लिए भाग्य चाहिए। आहा...हा...! ...अभी तो इन दो पंक्तियों में यह सब...। आहा...हा...!

सामान्यज्ञान अर्थात् त्रिकाली वस्तु, उसका आविर्भाव अर्थात् कि उसका भान होना। वह तो है वही है। 320 गाथा में तो ऐसा कहा है – सकल निरावरण...। 320 गाथा! संस्कृत है। 'जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ।' यह संस्कृत का है। इसमें यह लिखा हुआ है परन्तु वह पृष्ठ अलग है। आहा...हा...!...

यहाँ कहते हैं, वस्तु तो वस्तु है। वस्तु तो सकलनिरावरण है। वस्तु प्रगट होती है और वस्तु आच्छादित होती है – ऐसा नहीं। यह क्या कहा? जो द्रव्य है त्रिकाली भगवान; उस द्रव्य को आवरण है और द्रव्य को निरावरण है – ऐसा है ही नहीं। द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण है। आया न? सकल निरावरण – त्रिकाल निरावरण। परन्तु पर्याय में राग का सम्बन्ध है, इस कारण आवरणवाला कहा जाता है। वह यहाँ कहते हैं, यह दृष्टि जिसने छोड़ दी है, पर में रुकते ज्ञेयाकार ज्ञान को छोड़ दिया है और ज्ञायक त्रिकाली है, वहाँ दृष्टि लगायी है, उसको भावश्रुतज्ञान हुआ है, वह भावश्रुतज्ञान (होने पर) वह आत्मा सामान्य प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...!

ऐसा उपदेश अब...! साधारण को स्थूल बातें चाहिए हो, बापू! मार्ग तो यह है। बाल और गोपाल। 17-18 गाथा में आयेगा। 'आबाल गोपाल।' बालक से लेकर वृद्ध सभी के लिए यह पात्रता और लायकात है। वहाँ 17-18 गाथा में तो वहाँ तक आयेगा– आबाल-गोपाल-बालक से लेकर वृद्ध तक सभी को ज्ञान की पर्याय में आत्मा जानने में आता है। 17-18 गाथा में ऐसा आयेगा, इस (गाथा) के बाद।

इस ज्ञान की पर्याय में सभी को आत्मा जानने में आता है परन्तु यह नजर करता नहीं। नजर पर्याय और राग में रखता है, इस कारण अन्दर दिखायी देने पर भी, ज्ञान की पर्याय

का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, इस कारण ज्ञान की पर्याय स्व को जाने बिना रहती ही नहीं। वह ज्ञानपर्याय स्व को-आत्मा को जानने पर भी, पर्याय लक्ष्यवाला, राग के लक्ष्यवाला उसकी तरफ नजर (करता) नहीं। वह अन्तर की नजर करता नहीं। अन्तर में नजर करता नहीं; इसीलिए ज्ञेयाकार ज्ञान (में) रहकर भटककर मरता है। आहा...हा...!

विशेष कहेंगे...! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## प्रवचन–5, गाथा–15

(यह पन्द्रहवीं) गाथा जरा सूक्ष्म है परन्तु मूल वस्तु है। जैनधर्म कोई वाड़ा नहीं, पक्ष नहीं; वह तो वस्तु का स्वरूप है।

अब कहते हैं, अपने यहाँ तक आया है – सामान्यज्ञान का आविर्भाव और ज्ञेयाकार ज्ञान का तिरोभाव.... क्या कहा? आत्मा ज्ञानस्वरूप त्रिकाल है, उसकी पर्याय में इस ज्ञान का अनुभव होना, यह ज्ञानाकार (ज्ञान) सामान्य आविर्भाव अर्थात् ज्ञान प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है। ज्ञानस्वरूपी भगवान का अनुभव करने पर पर्याय में ज्ञान और आनन्द आवे, उसे यहाँ ज्ञान का अनुभव, उसे जैनशासन, उसे अनुभूति कहा जाता है। है? यहाँ तक तो आया है न?

**...जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है, तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है...** क्या कहते हैं? चैतन्यस्वरूप भगवान, वह ज्ञान और आनन्दमूर्ति है, उसकी ओर का लक्ष्य करके आत्मा का अनुभव किया जाता है, तब वह प्रसिद्ध (होता है) आत्मा प्रसिद्ध होता है कि मैं शुद्ध चैतन्य और आनन्द हूँ। ऐसे ज्ञान के सन्मुख (होकर) अनुभव करने पर आत्मा की प्रसिद्धि होती है, वह आत्मा की प्रसिद्धि, वह ज्ञान है, वह आनन्द है, वह जैनशासन है, वह अनुभूति है, वह सम्यग्दर्शन है, वह धर्म की प्रथम में प्रथम शुरुआत है। आहा...हा...!

ऐसा... **ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है....** यह क्या कहा? आत्मा चैतन्यस्वरूप द्रव्य है, उसकी ओर का अनुभव करने पर पर्याय में सामान्यपना अर्थात् ज्ञेयों के आकार

के भेद से खण्ड होता है, वह खण्ड न होकर, ज्ञानाकार का ज्ञानस्वभाव पर्याय में प्रगट होता है, उसे ज्ञान का अनुभव, उसे जैनशासन,उसे समकित और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आहा...हा...! इतना सब....! है न? **...तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है....** ज्ञानमात्र का अनुभव करने पर, संयोगी चीज से लक्ष्य छोड़कर और अन्दर दया, दान या व्रत, भक्ति, काम, क्रोध का भाव, उसका भी लक्ष्य छोड़कर, एक समय की पर्याय को त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की ओर झुकाने पर, पर्याय में सामान्यज्ञान अर्थात् परज्ञेय के आकार का मिश्रभाव न आकर, अकेला ज्ञान का भाव आवे, उसे यहाँ सामान्यज्ञान कहते हैं। आहा...हा...! यह सामान्यज्ञान का अनुभव आना, इसका नाम जैनशासन, जैनधर्म, अनुभूति और मोक्षमार्ग की शुरुआत तब से होती है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है! आहा...हा...!

ऐसा होने पर भी, है तो ऐसा कि चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा, ध्रुवस्वभाव का आश्रय लेकर अनुभव में जो आनन्द आया और अनुभव में उस ज्ञान का ज्ञान हुआ, उसे यहाँ सामान्यज्ञान कहते हैं। उस ज्ञान को जैनशासन और धर्म कहते हैं। कहो! ऐसी बात है! कान में पड़ना मुश्किल है! आहा...हा...! यह जैनधर्म! जैनधर्म कहीं बाहर पक्ष में नहीं है।

अन्तर में वीतराग आत्मा, वीतरागस्वरूप से भरपूर भगवान आत्मा है! उसे शरीर, वाणी, मन, राग, परपदार्थ, ज्ञेय अर्थात् परवस्तु के आकार न होने देकर, परवस्तु जो ज्ञेय है, उसके आकार ज्ञान को न होने देकर.... आहा....हा...! ज्ञान को ज्ञान के आकार होने में जिस ज्ञान का अनुभव होता है, उसे यहाँ जैनधर्म और जैनशासन कहते हैं। भाषा भी कठिन! मार्ग ऐसा है, प्रभु!

अन्तरतत्त्व भगवान सच्चिदानन्द! सच्चिदानन्द प्रभु विराजता है। सत् अर्थात् शाश्वत्; चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द। वह ज्ञान और आनन्द से भरपूर समुद्र है! आहा...हा...! उसे अनुभव करने पर (धर्म होता है।) परज्ञेय जानकर जो ज्ञान वहाँ रुकता था, राग को जानकर, पुण्य को जानकर, शरीर, वाणी, लक्ष्मी आदि पर में ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान रुकता था, वह अधर्म था। आहा...हा...! यह क्या कहा? ज्ञान की वर्तमान दशा अपने अतिरिक्त परज्ञेयाकार में ज्ञान रुकता था, उस ज्ञान की पर्याय को 'अधर्म' कहा जाता है। चन्दुभाई! आहा...हा...! यह गाथा तो ऊँची है! जैनधर्म पूरा किसे कहना? (वह कहते हैं)। आहा...!

पुण्य और पाप के परिणाम, वह राग है; वह कहीं जैनधर्म नहीं है। आता है (अवश्य) बीच में, परन्तु हेयरूप से – छोड़नेरूप से बीच में आता है। बहिन के (वचनामृत में) दृष्टान्त दिया था न? एक मुसाफिर को जिस नगर में जाना है, उसके लक्ष्य से (आगे बढ़ते हुए) रास्ते में बीच के नगर आते हैं, परन्तु उन नगरों को छोड़ता जाता है और जिस नगर में जाना है, उस लक्ष्य में (आगे बढ़कर) वहाँ चला जाता है, इसी प्रकार धर्मी, अपना लक्ष्य जो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसमें बीच में शुभ-अशुभराग आदि आवे, उसे छोड़ता जाता है और अन्तर ज्ञानस्वरूप में रमता है, उसे यहाँ 'जैनशासन' कहते हैं। आहा...हा...!

ऐसा होने पर भी, है? **तथापि....** ऐसा कहा न? ऐसा होने पर भी, **तथापि जो अज्ञानी है....** जिनका लक्ष्य आत्मा पर नहीं है और पुण्य-पाप, दया-दान तथा बाहर की संयोगी चीजों पर जिनका लक्ष्य है, उन्हें ऐसा अनुभव में आता होने पर भी (वे अनुभव नहीं कर सकते)। धर्मी को अनुभव में आता होने पर भी... **(जो) अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं....** आहा...हा...! है पुस्तक? (अज्ञानी) ज्ञेयों में आसक्त हैं, शरीर में, वाणी में, पाप के परिणाम में या पुण्य के परिणाम में (वे आसक्त हैं)। यह (सब) ज्ञान में परज्ञेय है (और) उस परज्ञेय में जो आसक्त है, उसे आत्मा अनुभव में नहीं आता। आत्मा अनुभव में (क्यों नहीं आता)? जैनशासन रूप से पर्याय वीतरागी क्यों नहीं होती? (क्योंकि) वह ज्ञान की वर्तमान दशा में अपने ज्ञायकभाव के अतिरिक्त परज्ञेयाकार को अन्दर ज्ञेय में रखते हुए पुण्य और पाप के परिणाम ज्ञेयाकाररूप से रखते हुए वहाँ रूकी हुई है; इसलिए उसे ज्ञानस्वभाव अनुभव में नहीं आता। समझ में आया? आहा...हा...!

**मुमुक्षु** – पुण्य के परिणाम परज्ञेय हैं।

**समाधान** – परदेश में जाते हैं – पर में जाते हैं। परिणाम अपने हैं, यह ज्ञानपर्याय (अपनी है), तथापि ज्ञेयाकार पर में जाती है, वहाँ रुक जाती है, इसलिए अन्दर में नहीं जा सकती। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात है भाई! गाथा ही ऐसी है। आहा...! तुम्हारे (द्वारा पढ़ने के लिए) लिखी हुई है! है न इसमें?

आहा...! भगवान सच्चिदानन्द प्रभु! चैतन्य की ज्योति से जलहल! 'स्वयं ज्योति

सुखधाम' चैतन्य ज्योति स्वयं – अपने से है और वह आनन्द का क्षेत्र है – सुख का धाम है, उस ओर की दृष्टि न करके (परज्ञेय में रुक जाता है) उस (स्वरूप की) दृष्टि करना और अनुभव होना, वह सामान्यज्ञान कहलाता है। उस पर्याय में (परज्ञेयों की) मिश्रितता नहीं (होती) और (मात्र) ज्ञाता का ज्ञान (होता है), उसे सामान्य ज्ञान कहते हैं। चन्दुभाई ! आहा...हा... ! परन्तु उस ज्ञाता का ज्ञान (नहीं करके) ज्ञेयाकार – पर में रुक जाता है – लक्ष्मी में, स्त्री में, कुटुम्ब में, पाप में, और पुण्य में (रुक जाता है)। वे पुण्य-पाप के परिणाम ज्ञेय हैं, वह ज्ञान का स्वभाव नहीं है, आत्मा का स्वरूप नहीं है। (जो) स्वरूप नहीं है, उसमें (रुकने से) ज्ञान की पर्याय ज्ञेयाकार अर्थात् परज्ञेयाकार होकर रुकने से, उसे यह विद्यमान चीज अन्दर है, वह अनुभव में नहीं आती। आहा....हा... ! समझ में आया? क्यों अनुभव में नहीं आती? उसका कारण कहा।

विद्यमान चीज अन्दर पड़ी है, ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु ! परमेश्वर स्वरूप ही उसका है ! आहा...हा... ! भगवत् स्वरूप है ! अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है। वह ख्याल में क्यों नहीं आता? (यह पहले कहा। अब) ख्याल में कैसे आया? कि उस पर का लक्ष्य छोड़कर स्व के अनुभव में आया, तब उस आत्मा का ख्याल पर्याय में आया, उसे सामान्यज्ञान, उसे धर्म, उसे जैनशासन, उसे अनुभूति कहा जाता है। आहा...हा... ! ऐसी बात है।

ऐसा होने पर भी, है न? **तथापि जो अज्ञानी हैं...** आहा...हा... ! **ज्ञेयों में आसक्त हैं...** आहा...हा... ! क्या कहते हैं? अन्दर दया, दान, और व्रत के विकल्प उठे, उसमें भी जो ज्ञान आसक्त है; वह ज्ञेय है, वह ज्ञान नहीं। पुण्य के – दया, दान, व्रत के परिणाम उत्पन्न हों, वे कहीं ज्ञान नहीं है, वे ज्ञेय हैं; उस ज्ञेयाकार में ज्ञान रुकने से अधर्म की दशा प्रगट होती है। आहा...हा... ! ऐसी बात सुनने मिलना भाग्य के बिना मिले ऐसा नहीं है ! ऐसी यह चीज है ! ! आहा...हा... !

दो बातें की हैं कि ऐसा भगवान ज्ञानस्वरूप, उसका अनुभव करने पर – पर्याय में ज्ञान का ज्ञान होने पर, पर्याय में आत्मद्रव्य का ज्ञान होने पर, वह वीतरागी पर्याय (प्रगट) होने पर, उसे जैनशासन, समकित और अनुभूति कहा। ऐसा होने पर भी, अज्ञानी उस

ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि नहीं करके, ज्ञान की वर्तमान दशा को राग आदि, पुण्यादि परवस्तु जो ज्ञेय है, उस ज्ञेयाकार में रोककर अधर्म को उत्पन्न करता है। आहा...हा...! झवेरचन्दभाई! ऐसी बात है! है न? लिखा है न अन्दर है न?

ऐसा होने पर भी, आहा...हा...! चैतन्यदल! अन्दर आनन्द का दल पड़ा है! यहाँ परदेश में तो नहीं हो (परन्तु) पहले दल के लड्डू होते थे 'दल के लड्डू!' जैसे मैसूरपाक होता है न? ऐसे एक दल के लड्डू होते थे, दल के! दल, दल! कहलाता है 'दल के लड्डू' (कहते थे) हमें तो सब – एक-एक अनुभव हो गया है न! बहुत छोटी उम्र से (यही किया है)! कुछ कामकाज -कुछ दूसरा नहीं किया, एक दुकान पाँच वर्ष (चलायी) बाकी इसके अतिरिक्त कुछ नहीं किया! शास्त्र... शास्त्र और शास्त्र!

**मुमुक्षु –** गुरुदेव! आप हमें दल के लड्डू जिमा रहे हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री –** बात तो ऐसी है, भगवान! आहा...हा...!

भगवान आत्मा को कोई पुनरक्ति नहीं लगती। ऐसा चैतन्यस्वभाव से भरपूर, उसे पर के लक्ष्य में से छोड़कर, ज्ञान की पर्याय में परज्ञेय का ज्ञान होने पर, उस अटके हुए ज्ञान को छोड़कर जो ज्ञान की पर्याय, सामान्य में जाती है, उसका पर्याय, सामान्य अर्थात् ज्ञेयाकार के ज्ञान रहित के ज्ञान का ज्ञान, उसे सामान्यज्ञान कहते हैं – वह सामान्यज्ञान, वह जैनधर्म और समकित है। आहा...हा...! शब्द याद रहना कठिन पड़े! मार्ग ऐसा है, भगवान!

ऐसा होने पर भी (अर्थात्) ऐसा चैतन्य भगवान विराजमान होने पर भी, उसकी ओर का लक्ष्य करने से अनुभव हो, ऐसा होने पर भी (– ऐसा कहना है)। उस सामान्य त्रिकाल पर लक्ष्य करके... सामान्य अर्थात् परज्ञेय के आकार के भाव को छोड़कर, वह ज्ञानाकार जो ज्ञान हुआ, वह सामान्यज्ञान है। सामान्यज्ञान अर्थात् आनन्द है, उस सामान्यज्ञान में शान्ति और अनुभूति है – ऐसा उसका स्वभाव 'है'! ऐसा होने पर भी, ऐसा है न? **तथापि....** ऐसा कहा है। ऐसी स्थिति होने पर भी, आहा...हा...! **जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं....** आहा...हा...! गजब काम किया है! यह दया, दान, व्रत के शुभभाव ये ज्ञान में परज्ञेय हैं। ज्ञान में ज्ञान स्वज्ञेय है और उस ज्ञान में – आत्मा में राग – पुण्य के (भाव)

वह परज्ञेय है, परज्ञेय के आकार से रहता – अटकता ज्ञान, वह आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता। आहा...हा...! समझ में आया?

ज्ञान की दशा में, जिसका जो ज्ञान है, उसकी तरफ न झुककर, जिसका वह ज्ञान है, उसमें न झुककर; वह पर्याय, जिसका ज्ञान जिसमें नहीं है – ऐसे जो ज्ञेय अर्थात् पुण्य-पाप, दया, दान, काम-क्रोध और उसके फलरूप से यह धूल आदि – पैसा आदि धूल... आहा...हा...! उस ज्ञेयाकार से (अज्ञानी परिणमता है), वह ज्ञेय है, ज्ञान में पर (रूप से) जाननेयोग्य है। स्वज्ञेय तो स्वयं है परन्तु स्वज्ञेय का ज्ञान छोड़कर, परज्ञेय के आकार के ज्ञान में रुकता हुआ अज्ञानी, उसे आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आहा...हा...! है? **....अज्ञानी हैं, ज्ञेय में आसक्त हैं....** आहा...हा...! शरीर मेरा, वाणी मेरी, मन मेरा, पैसा मेरा, यह तो फिर कहीं धूल में आगे गया, परन्तु अन्दर पुण्य और पाप के विकल्प मेरे (– ऐसा मानता है परन्तु) वह परज्ञेय है, वह स्वज्ञेय नहीं। अपने ज्ञान में जाननेयोग्य स्वज्ञेय आत्मा है और उसे छोड़कर, ज्ञान में जाननेयोग्य नहीं, उसे जानकर, (उसमें) रुकने से उसे ज्ञान का– आत्मा का अनुभव नहीं होता। समझ में आया? ऐसी अपूर्व बात है! आहा...!

**यह प्रगट दृष्टान्त से बतलाते हैं –** अब कहते हैं कि उसका दृष्टान्त देते हैं। तुम्हें एकदम न समझ में आये तो उसका हम दृष्टान्त देते हैं। दृष्टान्त से समझो! दृष्टान्त बताते हैं कि –

**जैसे – अनेक प्रकार के शाकादि....** लौकी, घिसोड़ा इत्यादि अनेक प्रकार के शाक... **शाकादि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न....** इस शाक में नमक है न? उस शाक द्वारा नमक का स्वाद जिसे आता है, ऐसे जिसे ज्ञेय के आकार से ज्ञान का अनुभव आता है, वह मिथ्या है। आहा...हा...!

एक बार श्रीमद् राजचन्द्र 'राणपुर' के पास एक गाँव है वहाँ आये थे और मुमुक्षु भी एकत्रित हुए थे। (एक बार) कटोरी में ऐसे लौकी की सब्जी पड़ी थी... खाने के समय देते हैं न? ऐसे सब्जी देखी, वहाँ बोले कि 'इस सब्जी में नमक बहुत है!' परन्तु साहेब, आपने देखा? चखे बिना? (तब उन्होंने कहा) देखो! लौकी की सब्जी पानी में बफती है, तब अन्दर उसके रेशा नहीं टूटते, पानी में लौकी सिंकती है, उसमें उसके रेशा नहीं टूटते, रेशा!

परन्तु अन्दर नमक अधिक डल जाये तो उस लौकी के टुकड़ों के रेशा ऐसे फैल जाते हैं, टुकड़े हो जाते हैं। देख! यह नमक अधिक पड़ गया है तो इस लौकी के शाक के अन्दर रेशा टूट गये हैं। बिना (चखे कह दिया)। इसमें समझ में आया? रेशा नहीं (होते)? यह लौकी, पूरी लौकी होती है न? उसके रेशे एक सरीखे होते हैं, वे पानी में सब्जी पकाये तो उसके रेशा नहीं टूटते, थोड़ा नमक डाला हो (तो रेशा नहीं टूटते) परन्तु बहुत नमक डाले, तब उस लौकी के टुकड़ों के रेशा टूट जाते हैं – ऐसे टुकड़े हो जाते हैं, भिन्न-भिन्न हो जाते हैं – ऐसा श्रीमद् ने देखकर कहा कि इस शाक में नमक (अधिक) है! क्योंकि इस लौकी के रेशा टूट गये हैं, देखो! लौकी के टुकड़ों के रेशा टूट गये हैं। इसी प्रकार यह आत्मा, इसका ज्ञान परज्ञेय में जाता है, तब इसके ज्ञान का रस टूट जाता है। आहा...हा...!

समझ में आया? 'समझ में आता है' तो हमारे विश्राम का वाक्य है, एक (वाक्य बोलने के बाद) दूसरे वाक्य का विश्राम (होता है न)? तो यहाँ समझ में आता है? यह विश्राम है और समझे यह विश्राम है! बाकी समझे बिना सब अविश्राम – दुःख है। आहा...हा...!

कहते हैं कि वैसे तो खिचड़ी में नमक डालते हैं, अभी तो कितने ही जगह चावल में भी नमक डालते हैं। खिचड़ी पकायी हो और उसे चाहिए उतना नमक डाला हो, फिर भी किसी घर में दो-चार-पाँच महिलायें हों, उसमें किसी महिला को पता न हो कि इसमें नमक डाला है तो फिर दूसरी महिला उसमें थोड़ा सा नमक डाल दे! ऐसा बना है! यह बना हुआ और यह सब देखा हुआ है, दो-चार बहिनों में जिसने डाला हो, उसने कहा नहीं हो तो दूसरी जाने कि इसमें – खिचड़ी में नमक नहीं है, लाओ, मैं दूसरा डालूँ! वह दूसरा नमक डाले वहाँ खिचड़ी बेस्वाद जैसी हो जाती है! और उसमें समधी को जीमने को कहा हो! सत्ताप्रिय समधी हो, सत्ताप्रिय समधी! समधी सामान्य हो और सत्ता प्रिय-अभिमानी समधी होता है। उसे जहाँ यह परोसे वहाँ उसे (ऐसा लगता है कि) यह! ऐसी यह सब्जी! वहाँ उसके घर का मालिक कहता है यह किसने पकाया? तो (वे) बहिनें कहें, बोलना नहीं, अभी क्रोध फटा है! हम कहेंगे यह अमुक दो व्यक्तियों से भूल से डल गया है! यह ऐसे यह ज्ञान की पर्याय में जिसे ज्ञायकस्वरूप की – एकाकार की खबर नहीं, वह परज्ञेयों में एकाकार होकर, जैसे शाक को खारा कर डाला, वैसे ज्ञान की पर्याय को ज्ञेयाकार कर

डाला। पर के ज्ञेयाकार अर्थात् पर जो यह चीज ज्ञात होती है, उस ओर के लक्ष्य में ही ज्ञान को रोका। समझ में आया? भाषा तो सादी है, भगवान! आहा...हा...!

भगवान! तेरी बात है न, नाथ! तेरे अन्तर की बात है न, प्रभु! आहा...हा...! यह भगवान है तो भी क्यों हाथ नहीं आता? (तो कहते हैं कि) उसकी ओर का लक्ष्य नहीं परन्तु उसकी पर्याय में ज्ञेय जो पैसा, इज्जत, कीर्ति, लक्ष्मी, शरीर, पुण्य और पाप के परिणाम, उन पर लक्ष्य जाने से वह ज्ञेयाकार अर्थात् जो ज्ञात होने योग्य चीज है, उसके आकार ज्ञान हो जाता है और उसके आकार ज्ञान होने पर ज्ञानस्वभाव का आकार छूट जाता है। इसलिए यह ज्ञेयाकार ज्ञान, अज्ञान है। आहा...हा...! भगवानजी भाई! ऐसी बातें हैं बापू! आहा....हा....!

भगवान आत्मा स्वज्ञेय है, उसकी वर्तमान ज्ञानदशा को स्वज्ञेय में झुकाने से, पर के ज्ञेयाकार की ज्ञान की पर्याय का लक्ष्य छोड़कर अन्तर ज्ञानस्वभाव में आने पर, उसे ज्ञान का जो अनुभव होता है, वह सामान्य का अनुभव है अर्थात् ज्ञेय के आकाररहित, अकेले ज्ञान के आकार का अनुभव है, वह सामान्य का अनुभव है, उसे जैनधर्म कहते हैं। आहा...हा...! यह किस प्रकार का उपदेश!

यह गाथा ऐसी है! वहाँ तो हमारे हजारों बार पढ़ी जा चुकी है! व्याख्यान में तो अठारह बार पढ़ी जा चुकी है और एकान्त में तो (संवत्) 78 से पढ़ी जाती है! 78 की साल (में यह पहली बार) मिला, 78 के फाल्गुन महीने में मिला, आहा...हा...! और पढ़ा... और अन्दर से एकदम ओम् की ध्वनि आयी!! यह तो 78 की बात है। पहले से जो इसका ख्याल न करे, उसे यह क्या चीज है? उसके ख्याल में आता नहीं।

अन्दर भगवान आत्मा चैतन्य ज्योत 'स्वयं ज्योति सुखधाम'! स्वयं ज्योति स्वयं से स्वयं है, उसका कोई कर्ता नहीं। उसे रहने को–टिकने को किसी पर की अपेक्षा नहीं है – ऐसा जो शाश्वत् तत्त्व अर्थात् ध्रुव तत्त्व, उसका लक्ष्य करके जो पर्याय में आनन्द और ज्ञान का अनुभव होता है, उसे सामान्य अनुभव कहा जाता है। उसमें ज्ञेयाकार ज्ञान का अभाव रहता है। आहा...हा...! परन्तु जिसे उसका पता नहीं, वह अज्ञानी, जैसे शाक में नमक डालने से शाक का स्वाद न लेकर इस शाक द्वारा नमक का स्वाद लेता है। शाक द्वारा नमक का (स्वाद) लेता है; अकेले नमक का स्वाद अलग नहीं लेता। शाक में खारापन है, उसका अलग स्वाद नहीं लेता परन्तु शाक द्वारा लेता है। है? **...अनेक प्रकार के**

**शाकादि भोजनों....** यहाँ रोटी में भी नमक डालते हैं न? कितनी ही जगह तो अभी रोटी में भी डालते हैं, कोई चावल में भी डालते हैं – ऐसा हो गया है। वरना तो खिचड़ी में डालते थे, यह तो पता है परन्तु कितनी ही जगह चावल में भी डालते हैं। यहाँ तो पूरा वेश अनुभव में आता है न! अतः चावल में भी फिर कोई जरा नमक डालते हैं। 'भोजन' शब्द पड़ा है न? भोजन अर्थात् चावल, रोटी, रोटी, दाल, चावल इत्यादि। इन **...भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव....** अर्थात्? अकेला नमक का स्वाद आना चाहिए, वह ढँक गया और शाक के स्वाद द्वारा नमक का स्वाद आया; अर्थात् नमक ढँक गया। आहा...हा...! ऐसी बात है।

इन **....भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव....** (अर्थात्) अकेले नमक का स्वाद अलग आना चाहिए, वह ढँक गया (और) शाक द्वारा खारापन दिखायी दिया। 'लौकी खारी है, यह घिसोड़ा खारा है, यह घिसोड़े का शाक खारा है' – ऐसा वह बोलता है परन्तु खारा तो नमक है, शाक कहीं खारा नहीं होता, शाक तो शाक है और नमक वह नमक है – ये दोनों चीजें भिन्न हैं। आहा...हा...! ऐसा दृष्टान्त तो साधारण लोगों को घर में अनुभव में आता है – ऐसा तो यह दृष्टान्त है।

यह लवण का तिरोभाव (अर्थात्) शाक द्वारा अकेले नमक का स्वाद (लेने पर) उसे नमक का स्वाद ढँक जाना और शाक के स्वाद में नमक दिखता है **....और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला....** अर्थात्? शाक द्वारा, रोटी द्वारा नमक का स्वाद (आना) इन **...विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला जो (सामान्य के तिरोभावरूप और शाकादि स्वाद भेद से भदेरूप–विशेषरूप)....** (अर्थात्) लौकी खारी, रोटी खारी, रोटी खारी... ऐसा वह मानता है परन्तु खारा तो नमक है, वह उसे अलग दिखायी नहीं देता। आहा...हा...! है? **(भेदरूप–विशेषरूप) लवण है, उसका स्वाद अज्ञानी शाक लोलुप मनुष्यों को....** श्रीमद् ने तो खाने से पहले ऐसा कह दिया था। देख! लौकी के शाक के रेशा टूट गये हैं। उसमें नमक अधिक डल गया है। देखो! परन्तु साहब, आपने चखा नहीं न? परन्तु देख! देख न! वे तो ज्ञानी थे न! वे कहीं गृद्धि नहीं थे। थे संसार में, तथापि समकिती थे। शाक को देखते ही कहा कि शाक में नमक अधिक है, चख कर देख! (चख कर देखा तो पता पड़ा कि) हाँ! है, नमक अधिक!

आपने देखे बिना (कहा)? दिखता है या नहीं? देखो! नमक अधिक पड़ गया है, यह रेशा टूट गये हैं! इसी प्रकार इस ज्ञान में – ज्ञान की पर्याय में अकेले ज्ञेयाकार को जानने से ज्ञान का स्वभाव टूट गया है। ज्ञान का स्वभाव उसे दृष्टि में नहीं आता। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं! नाईरोबी में ऐसी बातें!

**मुमुक्षु** – हमारा भाग्य! अहो भाग्य!

**पूज्य गुरुदेवश्री** – बात सच्ची! वस्तु ऐसी है, बापू! आहा....हा...!

**मुमुक्षु** – तीर्थंकर-समान वाणी है, तीर्थंकर–समान!

**पूज्य गुरुदेवश्री** – यह तीर्थंकर की ही वाणी है! वीतराग की ही यह वाणी है!! त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान विराजमान हैं, उनके पास कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया है और अर्थ करनेवाले टीकाकार भले भगवान के पास नहीं गये थे परन्तु इस (अन्दर के निज) भगवान के पास गये थे, वे उन भगवान का आशय समझ गये! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं.... विशेष लवण का आविर्भाव.... क्या कहा? अकेला नमक स्वाद में पृथक् आना चाहिए, वह न आकर उस नमक का स्वाद शाक द्वारा आता है, वहाँ उस नमक के स्वाद का तिरोभाव हो गया (अर्थात्) अकेले नमक का स्वाद ढँक गया और शाक का स्वाद आविर्भाव हुआ। अकेले शाक द्वारा ही नमक अनुभव में आया, अलग (नमक) अनुभव में नहीं आया। यह तो दृष्टान्त है, हों! आहा...हा...! **...अन्य की सम्बन्धरहितता से उत्पन्न सामान्य लवण के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नहीं आता...** (अर्थात्) अज्ञानी को अकेले नमक का स्वाद अलग नहीं आता, क्योंकि वह शाक और रोटी या चावल या खिचड़ी, उसमें गृद्धि हुआ है, (इसलिए) उसे नमक का पृथक् स्वाद नहीं आता।

(अब कहते हैं) **....परमार्थ से देखा जाये....** कहते हैं कि भले शाक द्वारा वह नमक उसने खारा देखा (परन्तु) वास्तव में देखो तो **विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला....** (अर्थात्) शाक द्वारा जो अनुभव में आता, वही स्वयं सामान्य (लवण का) अनुभव है परन्तु उसे भेद का पता नहीं पड़ता। शाक के गृद्धि को नमक का – लवण

खारापन भिन्न है, उसका इसे पता नहीं चलता। **(विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला) क्षाररसरूप लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है....** (अर्थात्) शाक द्वारा जो खारा (खारापन) लगता था, वही अकेला नमक – नमक द्वारा (खारापन) आवे तो वह लवण तो वह का वही है परन्तु (पहले) शाक द्वारा आता (था) और उसी (नमक को) जब शाक द्वारा (अनुभव में लेना) छोड़कर अकेले परमार्थ से जहाँ नमक को देखे तो वह खारा नमक अलग लगता है। शाक तो अलग रह जाता है, कहीं लौकी खारी नहीं है, घिसोड़ा खारा नहीं है, रिंगड़ा खारा नहीं है। आहा...हा...! क्या कहलाता है (तुम्हारे)? तुम्हारे नाम भी भूल जाते हैं।

**मुमुक्षु** – गलका?

**पूज्य गुरुदेवश्री** – गलका है, (वह) पतली नहीं छोटी?

**मुमुक्षु** – ग्वार?

**पूज्य गुरुदेवश्री** – ग्वार... ग्वार...! ग्वार आती है न? तुम्हारे नाम भूल जाते हैं! इस धर्म के नाम के सामने वे नाम याद नहीं रहते। वह ग्वार खारा लगता है। (वास्तव में) ग्वार खारा नहीं है, खारा तो नमक है परन्तु अज्ञानी को ग्वार द्वारा नमक के अनुभव का स्वाद आता है परन्तु जो ग्वार द्वारा नमक का स्वाद आता है, वही नमक, नमक के कारण स्वाद में आवे तो उसका (अकेला नमक) भिन्न पड़ जाता है। उसमें शाक द्वारा जो नमक का स्वाद है, वही स्वाद परमार्थ से स्वयं का – नमक का स्वाद है, शाक का नहीं; वह तो इसे भ्रम हो जाता है। समझ में आया? यह दृष्टान्त तो सादा आया है। आहा...हा...!

**(इसी प्रकार) ऐसा अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ....** अब क्या कहते हैं? देखो, इसलिए इस प्रकार (अर्थात् पहले) जो दृष्टान्त (दिया था, उसी प्रकार) **अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न....** (अर्थात्) जैसे रोटी और शाक द्वारा नमक (अनुभव में) आता था, ऐसे इसे ज्ञेय द्वारा ज्ञान जानने में आता है। अज्ञानी को ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ द्वारा ज्ञान का अनुभव आता है परन्तु ज्ञान द्वारा ज्ञान का अनुभव नहीं आता। आहा....हा....! जैसे शाक द्वारा नमक का स्वाद आता है परन्तु अकेले नमक का स्वाद उसे अलग नहीं आता। इसी प्रकार अज्ञानी को ज्ञान की

पर्याय में ज्ञेय द्वारा ज्ञान जानता है परन्तु ज्ञेयरहित ज्ञान अलग है, उसे वह नहीं जानता। आहा...हा...!

ऐसी चीज सूक्ष्म पड़े (परन्तु) मार्ग तो ऐसा है, भाई! अभी तो बाहर में लोगों को व्यवहार में चढ़ा दिया है। वह इसमें से निवृत्त नहीं होता। अन्दर क्या चीज है? जिसे ढूँढ़ने से भगवान मिले! आहा...हा...! धूलधोया... धूलधोया होता है न? (वह) स्वर्णकार के घर के समीप (धूल) धोता है तो उसमें से सोने का कण अलग देखता है, उसमें चार प्रकार होते हैं। धूलधोया होता है न? वह स्वर्णकार की दुकान के पास धूल देखे! उसमें चार प्रकार होते हैं –एक धूल है (उसमें) एक चूड़ी का चूरा, टुकड़ा अन्दर होता है। यह चूड़ियाँ होती हैं न? वह भी साथ में बारीक, पीला दिखता है। एक पीतल का पीला टुकड़ा बारीक दिखता है और एक सोने का पीला (टुकड़ा) बारीक दिखता है, धूलधोये को चार दिखते हैं। हमने तो सब नजर से देखा है! स्वर्णकार की दुकान में छोटी उम्र का लड़का (काम) करता हो न, (उससे पूछा था) तुम क्या करते हो? (तो कहता था) देखो! यह हम अलग करते हैं! एक तो धूल होती है, एक तो यह चूड़ी फूट गयी हो और उस धूल में बारीक चूरा हो, वह भी पीला दिखता है और एक पीतल का टुकड़ा हो, वह पीला दिखता है; एक सोने का टुकड़ा हो, वह पीला दिखता है परन्तु वह सोना उठा लेता है, जिसका वजन है, तोल है, वह यह है। चूड़ी का टुकड़ा इतना था, फिर भी ऐसा वजन नहीं, पीतल का टुकड़ा इतना हो, उसका वजन इतना नहीं, धूल में ऐसा वजन नहीं। सोने का टुकड़ा बारीक (हो तो भी) उसका वजन अधिक होता है। वह अधिक होता है, इसलिए उसे उठा लेता है। इसमें समझ में आया? आहा...हा...!

इसी प्रकार इस आत्मा को देखनेवाला, शरीर के संयोग का लक्ष्य छोड़ देता है। आहा...हा...! राग का लक्ष्य छोड़ देता है, अकेली पर्याय का लक्ष्य छोड़ देता है; अकेला त्रिकाली ज्ञायकभाव है, वहाँ दृष्टि देता है – यह चौथा बोल है। आहा....हा...! इसमें कुछ समझ में आया? सूक्ष्म बात है! यह गाथा ही ऐसी है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु** – समझने में बारीक है।

**पूज्य गुरुदेवश्री** – अन्तर की वस्तु अरूपी है न! भगवान अरूपी है, वह पुण्य

और पाप के विकल्प से भी पकड़ में आये ऐसा नहीं है। वह शुभ क्रियाकाण्ड का जो रागभाव (आता है), उससे वह पकड़ में आये – ऐसा नहीं है। क्योंकि वह तो ज्ञेय–परवस्तु है, ज्ञेयाकार में ज्ञान को रोकने से ज्ञान आच्छादित हो जाता है, अकेले ज्ञेयाकार में ज्ञान को रोकने से ज्ञान का अनुभव नहीं रहता। अकेले ज्ञेयाकार ज्ञान का अनुभव, वह अज्ञान है।

उसमें ज्ञेयाकार ज्ञान का लक्ष्य छोड़कर... आहा...हा...! है? **इस प्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव....** यह क्या कहा? कि अनेक ज्ञेय– पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी, पुत्र, मकान, इज्जत – इन सभी ज्ञेयाकारों में ज्ञान रुकने से.... देखो! है? **ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से....** (अर्थात्) जो ज्ञात होने योग्य पृथक चीज है, उसमें ज्ञान मिश्ररूप हो गया है। मेरी चीज अलग है – ऐसा उसे पता नहीं है। आहा....हा....! अधिकार जरा ऐसा है! **ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव....** उसे जो अकेला ज्ञान है, उसका पर्याय में अनुभव नहीं आता, उसे यह जो ज्ञेय है, उसका अनुभव आता है। इसमें कुछ समझ में आया? आहा...हा...!

स्वज्ञान के अतिरिक्त जितने परज्ञेय हैं – चाहे तो दया, दान, काम, क्रोध, और यह शरीर, वाणी, मन, स्त्री, पुत्र, परिवार, व्यापार, धन्धा – यह सभी ज्ञेय, ज्ञान में भिन्न है, तथापि इन ज्ञेयाकारों में ज्ञान रुकने से, ज्ञान वहाँ रुकने से, अकेले ज्ञान का उसे पृथक् स्वाद नहीं आता। आहा...हा...! बात तो बहुत संक्षिप्त है। तिरोभाव (अर्थात्) अकेला ज्ञान है, वह ढँक जाता है। ज्ञेयाकार में ज्ञान को रोकने से; जैसे शाक के आड़ में नमक को देखने से नमक का भाव तिरोभूत – ढँक जाता है। वैसे ही भगवान आत्मा ज्ञान की पर्याय में परज्ञेयाकार का ज्ञान होने पर, सामान्य ज्ञान ढँक जाता है, मूल ज्ञान उसके ध्यान में नहीं आता। आहा...हा...! ऐसी गाथा है भाई यह! अकेले चैतन्य के सामान्य स्वभाव को अनुभव करना, उसे यहाँ जैनशासन कहते हैं। पुण्य-पाप, राग और परज्ञेयाकार को छोड़कर अकेला ज्ञानस्वभाव ऐसा आत्मा, उसे अनुभव करना, वह वीतरागीदशा, वह जैनशासन, वह धर्म, वह अनुभूति है। आहा...हा...!

आकृति शब्द सब ऐसे हैं! दूसरा रट गया है, उसमें यह रटने जाये तो अभी कठिन

पड़ेगा! पूरा अभ्यास ही दूसरा हो गया है! ओहो...हो...! छह-सात घण्टे नींद में जाते हैं, छह-सात घण्टे व्यापार के पाप में जाते हैं, दो-चार घण्टे स्त्री, और पुत्र को प्रसन्न रखने में जाते हैं, एकाध घण्टे कुछ सुनने जाये तो फिर यह बात मिलती नहीं, (इसलिए) इसे समझ में नहीं आता। (दूसरी) बातें मिलती है। ऐसा करना... ऐसा करना... पूजा करना... भक्ति करना... व्रत करो... यह करो...! आहा....हा....!

यहाँ कहते हैं कि यह सब पूजा, भक्ति, व्रत आदि का विकल्प – राग है, उसके लक्ष्य से जो ज्ञान रहे, उसमें सामान्य ज्ञान ढँक जाता है, अकेला ज्ञान पृथक् है, उसका अनुभव नहीं रहता; यह ज्ञेय का अनुभव होने पर ज्ञेयाकार ज्ञान परिणमते, ज्ञेयाकार से पृथक् ज्ञान इसे अनुभव में नहीं आता। कहो, यह तो समझ में आता है या नहीं? है? सामान्य का तिरोभाव और विशेष का आविर्भाव (अर्थात्) इस ज्ञेयाकार से इसका ज्ञान ज्ञात होता है (अर्थात्) इसका ज्ञान करता हूँ इसका ज्ञान करता हूँ, इसका ज्ञान करता हूँ, राग का ज्ञान करता हूँ, पुण्य का ज्ञान करता हूँ, पाप का ज्ञान करता हूँ, कपड़े का (ज्ञान करता हूँ)! यह कपड़े का धन्धा होता है न? उसका ज्ञान करता हूँ, यह कपड़ा ऐसे रंग का और यह कपड़ा ऐसा! इस ज्ञान में अकेला ज्ञेय (आता है)। ज्ञेय में ज्ञान रुक गया है आहा...हा...! रायचन्दभाई! ऐसी बातें हैं! विशेष का आविर्भाव, आहा...हा...! यह ज्ञेयाकार ज्ञान ही ज्ञात होता है, विशेष अर्थात् यह सामान्य ज्ञान जो ज्ञेयाकार रहित भिन्न है, उसकी दृष्टि इसे नहीं पड़ती है, इसलिए इसे आत्मा अनुभव में नहीं आता। इसलिए इसे सम्यग्दर्शन और अनुभव नहीं होता। आहा...हा...!

अरे! ऐसी बातें सुनते हुए कठिन पड़ती है, उसमें इसे अन्दर में उतारना! (उसके लिये) पुरुषार्थ चाहिए, बापू! भगवान! अनन्त पुरुषार्थ चाहिए! आहा...! ऐसी बात सुनने को ग्यारहवीं गाथा में (आता) है कि ऐसे उपदेश का तत्त्व विरल है, कहीं–कहीं है, बाकी का दूसरा उपदेश तो घर-घर में है परन्तु आत्मा का राग से भिन्न अनुभव और ज्ञानाकार की बात – विरल–विरल कहीं है, यह ग्यारहवीं गाथा में आया था। ग्यारहवीं गाथा हमने पढ़ी न, उसमें आया था।

यहाँ यह कहते हैं, यह ज्ञान जो उत्पन्न हुआ, ज्ञेयाकार के आकार ज्ञान हुआ, वह सामान्य ज्ञान का तिरोभाव (हुआ)। (अर्थात्) अकेले ज्ञान का अनुभव होना, वह ढँक

गया और विशेष ज्ञान का आविर्भाव (अर्थात्) यह ज्ञेयाकार ज्ञान अनुभव में आने पर **विशेषभावरूप, अन्य ज्ञेयाकार के संयोगरहितता से उत्पन्न हुआ....** अब यह (जीव) है वह तो अज्ञानी है। **ज्ञेयलुब्ध जीवों को स्वाद में आता है, किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोगरहितता से उत्पन्न...** क्या कहा यह? अन्य ज्ञेयाकार से होनेवाला ज्ञान, उसे रोककर **संयोगरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव....** (अर्थात्) अकेले ज्ञान का अनुभव और विशेष (ज्ञेयाकार ज्ञान) का ढँक जाना, वह **एकाकार अभेदरूप ज्ञान वह स्वाद में नहीं आता....** अज्ञानी को ज्ञेयाकार में रुकने से, अकेला आत्मा भगवान! उसका स्वाद उसे नहीं आता। शाक के खारेपन में रुकने से अकेले नमक का स्वाद उसे नहीं आता। इसी प्रकार आत्मा ज्ञेयाकार में रुकने से अकेले ज्ञान का स्वाद उसे नहीं आता। आहा...हा...! ऐसा धर्म! मार्ग ऐसा है, बापू! भगवान तेरा स्वरूप ही अलग है। आहा...हा...!

कहते हैं उसे अनुभव में नहीं आता। क्या नहीं आता अनुभव (में?) ज्ञान–आत्मा को परज्ञेय के आकार में रुकने से उससे भिन्न उसे अनुभव में नहीं आता। वह एक ही देख रहा है – यह राग है और यह पुण्य है और यह पाप है। इस पुण्य से पैसे मिले और इससे ऐसा हुआ, इसे रंकपना मिला और यह दरिद्र हुआ और हम सेठ हैं! आहा....हा...! इस (प्रकार) ज्ञान, ज्ञेयाकार में रुकने से उसे भिन्न ज्ञान अर्थात् आत्मा का स्वाद उसे अनुभव में नहीं आता परन्तु जहर का स्वाद आता है, वह ज्ञेयकृत जो ज्ञेयाकार हुआ ज्ञान है, वह रागवाला–जहरवाला ज्ञान है, वह जहर का अनुभव अज्ञानी को आता है। आहा...हा...! समझ में आया? यह गाथा ही ऐसी है!

**और परमार्थ से विचार किया जाये तो....** जो ज्ञान ज्ञेयाकार द्वारा जानने में आता था, **वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है...** ज्ञान तो वह का वह है। ज्ञेयाकार में जो ज्ञान रुकता था, वह ज्ञान, इस ओर देखने पर वही ज्ञान पर से भिन्न पड़ जाता है। जो ज्ञेयाकार से ज्ञान जानने में आता था, वही ज्ञान ज्ञानाकार से जानने में आवे तो ज्ञान तो वही है। आहा...हा...! सूक्ष्म भाषा बहुत! अकेला न्याय का विषय है न! अकेला सिद्धान्त! सन्त–मुनि अन्तर की बातें करते हुए उसे दृष्टान्त देकर भी सरल कर दिया है, फिर भी समझना, अभ्यास न हो तो उसे समझना कठिन पड़ जाता है। आहा...हा...!

कहते हैं कि स्वाद में आता नहीं। **लेकिन परमार्थ से विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है।....** (अर्थात्) इस ज्ञान को ज्ञेयाकार से देखने पर ज्ञेय–आकार अनुभव था परन्तु उसे छोड़कर ऐसे (स्वयं को) देखे तो ज्ञान का अनुभव होता है, ज्ञान तो वह का वही है, वह ज्ञान की वर्तमान पर्याय ज्ञेयाकार में रुकने से ज्ञान वहाँ दिखता है परन्तु उसी ज्ञान को ऐसे (अन्तर्मुख होकर) देखे तो ज्ञान का आविर्भाव – प्रगट दिखायी देता है और ज्ञेयाकार (ज्ञान) तिरोभूत हो जाता है, ढँक जाता है। ज्ञेयाकार ज्ञान वहाँ लक्ष्य में नहीं रहता। आज बहुत सूक्ष्म आया, बापू! कहो, धन्नालालजी! बात तो ऐसी है।

**मुमुक्षु** – माल –माल की बात है!

**पूज्य गुरुदेवश्री** – मुद्दे की बात है परन्तु जीव ने दरकार नहीं की है। अनन्त काल बाहर की महत्ता और बाहर की महिमा में रुक (गया है)। जो ज्ञान पर द्वारा अनुभव में आता है, वह ज्ञान अपना स्वभाव है, वही ज्ञान ज्ञान से अनुभव में आता है। यहाँ (अन्तर्मुख) नजर करे तो ज्ञान अनुभव में आता है, पर में नजर करे तो ज्ञेयकृत अनुभव में आता है। ज्ञेय के आकारवाले ज्ञान को परमार्थ से देखें तो ज्ञान है, उसका ज्ञान जुदा है, ज्ञेयाकार (रूप) वह ज्ञान हुआ नहीं है। आहा...हा...! कठिन विषय आया।

**जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान, सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है....** आहा...हा...! जो परज्ञेय हैं – राग, पुण्य, दया, दान, उनके आकार जो ज्ञान ज्ञात होता है, वही ज्ञान, स्वभावसन्मुख देखे तब तो ज्ञान का ही अनुभव आता है, ज्ञेयकृत अनुभव वहाँ ढँक जाता है। आहा...हा...! गाथा के सामने शब्द रखा है।

**मुमुक्षु** – पढ़नेवाले तो आप हैं, उसका रहस्य खोलनेवाले तो आप हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री** – सूक्ष्म बात है बापू! आहा...हा...! **वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है....**

**अलुब्ध ज्ञानियों को....** (अर्थात्) जिसे परज्ञेय हैं, उसमें लुब्ध नहीं हैं। यह आत्मा–स्वभाव है, उस पर जिसका प्रेम और रुचि है तथा उसके अतिरिक्त परज्ञेयों में

जिसकी लुब्धता नहीं है, जिसमें रति नहीं है, आसक्ति नहीं है, एकत्व नहीं है। **वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है....** आहा...हा...! **अलुब्ध ज्ञानियों को....** (अर्थात् जो) ज्ञेयाकार ज्ञान में लुब्ध नहीं उन्हें ज्ञान, ज्ञान में अनुभव में आता है। आहा...हा...! लुब्ध अज्ञानी को वह ज्ञान ज्ञेयकृत द्वारा अनुभव में आता है। ज्ञान तो वही है।

देखो! एक बात ऐसी है कि यह त्रिकाल ज्ञान है न, उसकी वर्तमान पर्याय है न– अवस्था! उसमें यह जो (पर) ज्ञात होता है, वह ज्ञात नहीं होता; ज्ञान की पर्याय ज्ञात होती है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय यहाँ ज्ञान में है और जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, वे पृथक् हैं; इसलिए उन ज्ञेयों का जो ज्ञान होता है, वह (वास्तव में तो) ज्ञान का ज्ञान होता है। यह क्या कहा? जो यह वस्त्र और कपड़ा, गहने और अमुक और अमुक और स्त्री और पुत्र और.... उनका जो ऐसा ज्ञान होता है, वह ज्ञान, ज्ञान की पर्याय में स्वयं से स्वयं का होता है, उसका नहीं; उस सम्बन्धी का ज्ञान स्वयं को, स्वयं से स्वयं द्वारा स्वयं में होता है परन्तु अज्ञानी को ऐसा लगता है कि वह वस्तु है, इसलिए मुझे ज्ञान होता है परन्तु उस वस्तु में यह ज्ञान कहाँ है? आहा...हा...! परवस्तु में यह ज्ञान नहीं, तथापि इसे ऐसा लगता है कि 'यह परवस्तु देखता हूँ और इसीलिए मुझे ज्ञात होती है, इस कारण मुझे ज्ञान होता है। गुड़ है, (उसे) जानता हूँ, इसलिए गुड़ के कारण मिठास का ज्ञान होता है।' परन्तु यहाँ पर्याय में मिठास का (जो) ज्ञान (हुआ वह) गुड़ की अपेक्षा बिना हुआ है। स्वयं के कारण होने का (ज्ञान का) स्वभाव है, उसे अज्ञानी भूल जाता है। आहा...हा...! आज पूरे घण्टे सूक्ष्म आया! भभूतमलजी!

(अज्ञानी ऐसा मानता है कि) यह पैसे का स्वाद आया! (पैसे का) स्वाद आता होगा? धूल का स्वाद नहीं आता परन्तु 'यह मेरा है' – ऐसी ममता का उसे स्वाद आता है। उस ममता के स्वाद में, जो ज्ञान का स्वाद अनुभव में आता है, वही ज्ञान, ममतारहित ज्ञान अनुभव करे तो अकेला ज्ञान अनुभव में आता है। ममता द्वारा ज्ञान ज्ञात होता है, उसी ज्ञान को ज्ञान द्वारा जाने तो ममतारहित ज्ञान, ज्ञान जानता है। आहा...हा...! याद रखना कठिन पड़े! ऐसी बात है प्रभु! बहुत सूक्ष्म नहीं, दृष्टान्त देकर स्थूल कर दिया है। दृष्टान्त देकर तो स्थूल कर दिया है।

शाक द्वारा जैसे क्षार ज्ञात होता है, वैसे यह ज्ञान ज्ञेय द्वारा ज्ञात हो, (वह) मिथ्याज्ञान है। ज्ञान ज्ञान के द्वारा ज्ञात होता है। ज्ञान, ज्ञेय द्वारा ज्ञात न होकर ज्ञान ज्ञेय को जानता है। वह ज्ञेय को ज्ञेय है, इसलिए जानता है – ऐसा नहीं है। उस ज्ञेय को जानने में ज्ञान की पर्याय का स्वयं का स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य है; इसलिए ज्ञेय पृथक् है, उसे जानता है – ऐसा कहना वह व्यवहार है परन्तु उसे ज्ञेय को जानने की ज्ञान में स्वयं की शक्ति से स्व–पर को जानता है, वह ज्ञेय की अपेक्षा बिना (जानता है)। वह ज्ञान की पर्याय सामान्य है, जिसे पर की अपेक्षा है नहीं। जिस ज्ञान की पर्याय में पर की अपेक्षा आ जाये, वह विशेष है, वह अज्ञान है, पर में लुब्ध है। अर...र...! ऐसा कठिन पड़े।

**वही ज्ञान, सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो जैसे सैंधव की डली....** (अर्थात्) नमक की डली **अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके....** अन्य द्रव्य के संयोग का (अर्थात्) शाक को दूर करके **केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर...** आता है (अर्थात्) अकेले नमक का स्वाद लिया जाये तो **सर्वतः एक क्षारत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है...** यह दृष्टान्त (हुआ)। **उसी प्रकार आत्मा भी, परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके....** आहा...हा...! ज्ञान प्रभु! पर तरफ का लक्ष्य है, उसे छेद करके, निकाल करके अकेले ज्ञान में ज्ञान को देखे तो उसे ज्ञान का–आनन्द का स्वाद आवे। ज्ञेय को देखकर स्वाद आता है, वह जहर का–राग का स्वाद है। ज्ञेय को देखकर जो स्वाद दिखता है कि यह तो बहुत मजा आया (वह तो जहर का स्वाद है)।

## गाथा–17-18

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।17।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।18।।

यथा नाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्त–मनुचरति पुन–रर्थार्थिकः प्रयत्नेन।।17।।
एवं हि जीव–राजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्ष–कामेन।।18।।

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते ततस्तमेवानुचरति। तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः ततः स एव श्रद्धातव्यः ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम्।

तत्र यदात्मनोऽनुभूयमानानेकभावसंकरेऽपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूति–रित्यात्मज्ञानेन सङ्गच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशंकमवस्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः।

यदा त्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्या–त्मन्यनादिबन्धवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशंक मवस्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथा–नुपपत्तिः।।17-18।।

---

अब, इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे।
फिर यत्न से धन अर्थ वो, अनुचरण राजा का करे।।17।।

जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से॥18॥

गाथार्थ : [ यथा नाम ] जैसे [ कः अपि ] कोई [ अर्थार्थिकः पुरुषः ] धन का अर्थी पुरुष [ राजानं ] राजा को [ ज्ञात्वा ] जानकर [ श्रद्दधाति ] श्रद्धा करता है, [ ततः पुनः ] और फिर [ तं प्रयत्नेन अनुचरति ] उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सुन्दर रीति से सेवा करता है, [ एवं हि ] इसी प्रकार [ मोक्षकामेन ] मोक्ष के इच्छुक को [ जीवराजः ] जीवरूपी राजा को [ ज्ञातव्यः ] जानना चाहिए, [ पुनः च ] और तत्पश्चात् [ स एव अनुचरितव्यः ] उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिए।

टीका : निश्चय से जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले तो राजा को जाने कि यह राजा है, फिर उसी का श्रद्धान करे कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी' और फिर उसी का अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे; इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा' और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिए — अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप, उसकी सिद्धि की इसी प्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है ( अर्थात्, इसी प्रकार से साध्य की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार से नहीं )।

( इसी बात को विशेष समझाते हैं — ) जब आत्मा को, अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता से 'जो यह अनुभूति है, सो ही मैं हूँ' — ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ, इस आत्मा को जैसा जाना है, वैसा ही है; इस प्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है, ऐसा श्रद्धान उदित होता है, तब समस्त अन्यभावों का भेद होने से निःशङ्क स्थिर होने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता है। ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की इस प्रकार उपपत्ति है।

**परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा, आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी, अनादि बन्ध के वश पर ( द्रव्यों ) के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ-अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ' — ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के श्रद्धान समान है; इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता, तब समस्त अन्यभावों के भेद से आत्मा में निःशङ्क स्थिर होने की असमर्थता के कारण, आत्मा का आचरण उदित न होने से आत्मा को नहीं साध सकता। इस प्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है।**

**भावार्थ : साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है; अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि यह जो जाननेवाला अनुभव में आता है, सो मैं हूँ। इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है, क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा ? तत्पश्चात् समस्त अन्यभावों से भेद करके अपने में स्थिर हो; इस प्रकार सिद्धि होती है, किन्तु यदि जाने ही नहीं, तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता और ऐसी स्थिति में स्थिरता कहाँ करेगा ? इसलिए यह निश्चय है कि अन्य प्रकार से सिद्धि नहीं होती।**

## प्रवचन—6, गाथा—17-18

यह 'समयसार', 17-18 गाथा ! आज हिन्दी में चलती है। ऊपर (लिखा) है न पहले ? **अब, इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं** – क्या कहते हैं ? कि यह आत्मा जो है, उसमें निश्चयदर्शन, ज्ञान और चारित्र (है), वह भी भेद और व्यवहार है। एक आत्मा का सेवन करना, यह निश्चय और यथार्थ है। सोलहवीं गाथा में यह कहा। ( अब ) इसी बात के प्रयोजन को इन ( दो गाथाओं ) में कहते हैं। सोलहवीं गाथा (में यह कहा) –

**दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।**
**ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥**

निश्चयस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ (– ऐसा) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र – व्यवहार है। तीन भेद हुआ न? (इसलिए) व्यवहार (कहा) है। तीन (भेद से) रहित एक (रूप) चैतन्यमूर्ति का सेवन करना, चैतन्यमूर्ति का अनुभव करना – वह निश्चय एक है। यह प्रयोजन (अब) 17-18 गाथा में कहते हैं। (यहाँ) कहा न? **अब, इसी प्रयोजन को... इसी प्रयोजन को** अर्थात् आत्मा का सेवन करना, श्रद्धा-ज्ञान करना। आत्मा का (सेवन) करना, (अर्थात्) श्रद्धा-ज्ञान – ऐसे भेद भी नहीं; आत्मा का अनुभव करना। **इसी प्रयोजन को हम दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।**

**जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।**
**तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण॥17॥**
**एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।**
**अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण॥18॥**

**ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे।**
**फिर यत्न से धन अर्थ वो, अनुचरण राजा का करै॥17॥**
**जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।**
**उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से॥18॥**

टीका – प्रथम दृष्टान्त देते हैं। **निश्चय से जैसे कोई धन का अर्थी...** 'धन का अर्थी' (कहा है)। धन का अर्थी न हो, उसकी यहाँ बात नहीं (है)। जिसको धन चाहिए और धन की जिसको लालसा है – ऐसा, **धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले तो राजा को जाने...** (यहाँ) राजा की बात ली है; सेठ की बात नहीं ली है। कोई करोड़पति या अरबपति सेठ (हो), उसकी सेवा करे – ऐसे नहीं लिया है। राजा की सेवा करे, (– ऐसा कहा)। जैसे, धन का अर्थी (पुरुष), राजा की सेवा करे। पहले तो राजा को जाने कि 'यह राजा है'; उसके लक्षण से, उसके पुण्य से, उसके परिवेश से, उसकी ऋद्धि से, यह राजा है – ऐसा जाने, **कि यह राजा है, फिर उसी का श्रद्धान करे...** पहले यह राजा है,

उसे जाने। कौन (ऐसा जाने)? (कि) धन का अर्थी! जो धन का अर्थी नहीं है, उसको कोई राजा की, सेठिया की या देव की दरकार नहीं है। जो लक्ष्मी का अर्थी है, वह प्रथम राजा को जाने। (यहाँ) राजा लिया है – कोई करोड़पति, अरबपति बनिये को–सेठ को नहीं लिया है, क्योंकि राजा के पास लक्ष्मी स्थायी होती है और राजा के पास पूर्व पुण्य के कारण से अरबों रुपये तो (ऐसे ही) आते हैं; इसलिए राजा लिया है।

(कहते हैं) **राजा को पहले जाने कि यह राजा है, फिर उसी का श्रद्धान करे...** जानने के बाद श्रद्धान करे। (पहले) श्रद्धान करे (फिर) जाने – ऐसा नहीं (लिया है)। पहले उसके चिह्न से 'यह राजा है' – ऐसा जाने, बाद में उसकी श्रद्धा करे **कि यह अवश्य राजा ही है...** उसके चिह्न से, उसकी ऋद्धि से, उसके परिवेश से, उसके पुण्य से, उसके बाहर के शरीर की ऋद्धि को देखकर – 'यह राजा है' – ऐसा जानकर, उसकी श्रद्धा (करे)। (उसकी श्रद्धा) जानकर करे। वचन 'पहले जानकर' यहाँ है। 'यह राजा ही है' – (ऐसा) निर्णय करे कि, यहाँ राजा ही है। *'राज्यते इति शोभते इति राजा।'*

**इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी...** (इस) राजा की सेवा करने से जरूर इसके पास से लक्ष्मी मिलेगी। (वैसे तो) लक्ष्मी पुण्य से मिलती है परन्तु यहाँ तो दृष्टान्त है। राजा ही लक्ष्मी दे सकता है न? वह तो पूर्व के पुण्य हो तो लक्ष्मी आती है। पुण्य से (भले) आती है परन्तु पैसा है, यह तो पाप है क्योंकि भगवान ने उसको परिग्रह में गिना है। पूर्व के पुण्य से मिले (जरूर) परन्तु (जो) चीज मिली है, वह पाप है – परिग्रह है। इस राजा के पास परिग्रह बहुत है, यह जानकर (उसकी) सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी। उसकी सेवा करने से, उसके पास लक्ष्मी बहुत है, तो सेवा करने से मुझे लक्ष्मी मिलेगी।

**फिर उसी का अनुचरण करे...** पहले ज्ञान हुआ, श्रद्धा हुई फिर अनुचरण करे। दृष्टान्त में अभी पहले ज्ञान लिया है, (फिर) श्रद्धा (ली है), आहा...हा...! **सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे;...** लक्ष्मी लेने के लिए राजा को प्रसन्न करे। यह तो दृष्टान्त है। आहा...हा...!

**इसी प्रकार मोक्षार्थी....** जैसे, (दृष्टान्त में) वह धन का अर्थी, राजा को जाने –

श्रद्धा करे और सेवा करे (– ऐसा लिया था), ऐसे (सिद्धान्त में) मोक्षार्थी (लिया है)। यह शर्त! (मोक्षार्थी, अर्थात्) जिसको अनन्त आनन्द का लाभ–ऐसा मोक्ष (चाहिए)। अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द की प्राप्ति का नाम मोक्ष। इस अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का जो अर्थी है, (वह मोक्षार्थी है)। संसार का अर्थी – दुःख का अर्थी, वह नहीं (लिया)। (यहाँ तो) जिसे संसार के कोई भी काम की इच्छा नहीं (है), (परन्तु) एक मोक्ष की ही इच्छा है (ऐसा मोक्षार्थी लिया है)। मुझे परम अतीन्द्रिय आनन्द मिले – ऐसी (जिसे) आशा है – ऐसा मोक्षार्थी (होता है)। मोक्षार्थी(पने की) यह शर्त (है)। दुःख से मुक्त होना और आनन्द की प्राप्ति होना, (यह मोक्ष है)। दुःख से मुक्त होना, यह नास्ति से है और आनन्द की प्राप्ति, यह अस्ति से है; (इसलिए) जिसको अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति की इच्छा है, (वह मोक्षार्थी है)। यह शर्त! धर्म पानेवाले के लिए यह प्रथम शर्त (है) – मोक्षार्थी! आ...हा...हा...!

मोक्ष, अर्थात् सर्वथा दुःख से मुक्त होना और पूर्ण आनन्द का लाभ होना, वह मोक्ष (है)। (ऐसे) **मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए,...** देखो! आ...हा...हा...! क्या शब्द लिया (है)? **मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए...** ऐसा कुछ नहीं लिया कि देव-गुरु-शास्त्र को जानना या शास्त्र वाँचन करना या ऐसा सुनना – यह बात ली नहीं। यह सब व्यवहार नहीं लिया। पहले क्या करना? इसमें (यह सब) नहीं लिया। सीधी बात करना (अर्थात्), पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, ओ...हो...हो...!

अन्दर भगवान आत्मा कैसा है? उसे मोक्षार्थी (को) पहले जानना चाहिए। नव तत्त्व को जानना या देव, गुरु, शास्त्र को जानना – ऐसी बात ली नहीं। पहले यह करना – ऐसा लिया है। पहले आत्मा का ही ज्ञान करना – ऐसे लिया है। समझ में आया? दूसरी चीज उसके पास है, यह बात यहाँ नहीं (कही)। आत्मा क्या है? बाहर में देव, गुरु को सुनुं, (उनकी) सेवा करूँ – तो (आत्मा) मिले, यह प्रश्न यहाँ नहीं है, क्योंकि ऐसी बात है ही नहीं। 'मैं भगवान की भक्ति करूँ, यात्रा करूँ, शास्त्र का वाँचन करूँ तो आत्मा मिलेगा' – यह बात है ही नहीं। पहले यह दो शर्त ली है।

**मुमुक्षु :** तो फिर मन्दिरों की क्या जरूरत है?

**समाधान :** मन्दिरों का भी प्रश्न यहाँ है नहीं; वह तो उसके कारण होता है। (उसे बनाने का) शुभभाव हो तो उसकी बात यहाँ है नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! 17–18 (गाथा) लेने को कहा था न? हमारे धनकुमारजी ने! 17-18 (गाथा) हिन्दी में लेने को आपने कहा था!

धन्नालालजी कहते कि यह मन्दिर (बनाते हैं, वह क्या है?) वह तो (ऐसा) शुभभाव हो, तब बनने की चीज बनती है। (ऐसा) शुभभाव करे तो मन्दिर बनता है – ऐसा है नहीं। मन्दिर के एक-एक परमाणु की उस-उस काल में उसकी जो पर्याय होनेवाली है, (वह) उससे होती है। दूसरा मन्दिर करानेवाला (ऐसा) माने कि मेरे से मन्दिर होता है – (तो) यह बात पूर्ण – सोलह आना झूठी है। आहा...हा...! झवेरचन्दभाई! आप कुछ करते हैं न? बापू! सूक्ष्म बात है, भगवान!

जो (जीव) मोक्ष का कामी है (अर्थात्), अनन्त आनन्दरूपी मोक्ष (जिसे चाहिए, वह मोक्षार्थी है)। 'नियमसार' में लिया है कि मोक्ष क्या है? (कि) अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ, यह मोक्ष (है) – ऐसा 'नियमसार' में लिया है। क्या कहा?

मोक्ष का अर्थ क्या? (कि) अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ लेना, यह मोक्ष (है)। संसार में तो सब दुःख (है)। पैसा मिला, स्त्री–कुटुम्ब मिला, ये सब दुःख (है)। संसार (में) दुःख (ही है), आहा...हा...! उसकी बात तो यहाँ है नहीं, परन्तु पहले देव, गुरु, शास्त्र की सेवा करना, (उनकी) देशना सुनना... दूसरी जगह (ऐसा) आये कि पहले देशना होती है परन्तु यहाँ यह बात ली नहीं, (क्योंकि) यह व्यवहार है। आहा...हा...!

यहाँ तो प्रथम में प्रथम (यह कहा कि) आत्मा को जानना चाहिए। आ...हा...हा...! निमित्त को जानना चाहिए, यह भी नहीं लिया; राग को जानना, यह भी नहीं लिया; उसकी एक समय की पर्याय को जानना, यह भी नहीं लिया। आहा...हा...! समझ में आया? सीधी आत्मद्रव्य को (जानने की) बात ली है। पहले आत्मा को जानना! आत्मद्रव्य को जानना। गुण–गुणी के भेद को भी पहले नहीं (जानना)। आहा...हा...! पर्याय को भी नहीं, राग को तो नहीं (और) निमित्त को (भी) नहीं। आहा...हा...! पहले ही...! मोक्षार्थीपुरुष को पहले

तो...! जैसे, धन का अर्थी पहले राजा को जाने; वैसे आत्मार्थी (मोक्षार्थी), पहले आत्मा को जाने, आहा...हा...!

(पहले आत्मा को जाने) तो यह सब व्यवहार कहाँ जाएगा? (तो कहते हैं) उसके कारण से उस समय में होता है तो हो, उस पर उसका (मोक्षार्थी का) लक्ष्य नहीं (है)। बाहर की चीज तो उस समय क्रमबद्ध (पर्याय में) आनेवाली होती है तो होती है; उसका लक्ष्य कराया नहीं। आ...हा...हा...! भभूतमलजी!

तो यह मन्दिर कराया (बनवाया), यह क्या है? आठ लाख डाला है उसने। मन्दिर (बनाने) ने। एक (ने) भी आठ लाख (डाला है)। आठ लाख डाले तो क्या है? करोड़ डाले या पाँच करोड़ (रुपये) डाले तो क्या हुआ? वह तो परचीज है! उसमें तो राग की मन्दता – शुभभाव होता है। यह शुभभाव, धर्म नहीं (है) और शुभभाव धर्म का कारण भी नहीं (है)।

पहले यह शब्द लिया है। है अन्दर? मोक्षार्थी को...! जैसे धन का अर्थी राजा को जाने, जानने के बाद श्रद्धा करे, फिर अनुचरण करे; वैसे पहले मोक्षार्थी को... आ...हा...हा...! पहले आत्मा को जानना। आहा...हा...हा...! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और चैतन्यघन, विज्ञानघन प्रभु आत्मा एकरूप है। विज्ञानघन (है) – ऐसा भेद भी नहीं करना। एकरूप चैतन्य है, आ...हा...हा...! सूक्ष्म बात है! पहले जिसको धर्मी कहना हो, अर्थात् धर्म जिसको करना हो, अर्थात् मोक्ष की भावना हो, उसको पहले में पहले आत्मा को जानना। नव तत्त्वों को जानना – ऐसा भी कहा नहीं। देव–गुरु–शास्त्र को पहले जानना, यह कहा नहीं। वह बात तो अन्तर में पहले साधारण आ जाती है; वह कोई चीज नहीं; उसको कोई आत्मा का ज्ञान हो जाता है – ऐसा नहीं (है)। आ...हा...हा...!

**मुमुक्षु :** सीधेसीधुं हाथ में आवी जाय?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सीधा आ जाता है, यह बात है। बात यह कहते हैं। दूसरा व्यवहार है, उससे प्राप्त होता ही नहीं; इसलिए तो पहले यह शब्द लिया है। व्यवहार आता है तो व्यवहार से आत्मा का ज्ञान होता है (ऐसा नहीं है)। लाख मन्दिर बनाया, पुस्तकें लाख-करोड़ बनायी। 'सोनगढ़' से 22 लाख (पुस्तकें छपी) हैं। पण्डितजी की तरफ से

आठ लाख (छपी) हैं। ये पुस्तकें बनायी तो आत्मा जानने में आता है – ऐसी बात नहीं ली है। भगवानजी भाई ! सूक्ष्म बात है, भाई ! आहा...हा... !

पहले में पहले... ! शर्त ये (है) – जो मोक्ष का अर्थी होता है तो – यह शर्त ! राग का अर्थी हो, पुण्य का अर्थी हो, मान का अर्थी हो – वह तो धर्म की शुरुआत में भी आता नहीं, वह धर्म पाने के योग्य नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया? लक्ष्मी का अर्थी हो, इज्जत का अर्थी हो, बड़प्पन का अर्थी हो (अर्थात्), दूसरे से ज्यादा हमको बड़प्पन मिलेगा – यह कोई शर्त यहाँ है नहीं – यह सब संसार है, आहा...हा... !

मोक्षार्थी को (अर्थात्), जिसको आत्मा के अनन्त आनन्द का लाभ लेना है, ऐसी प्रयोजनभूत चीज को जिसे लेना हो, उसको पहले... पहले तो राजा को (जीवराज को) जानना। इस शब्द में बहुत गम्भीरता है ! पहले में पहले भगवान आत्मा को जान ! – ऐसे लिया है। समकित बाद में। जानने के बाद श्रद्धा (होती है)। जो चीज जानने में आयी नहीं, उसकी श्रद्धा क्या करना? गधे का सींग, खरगोश का सींग है नहीं तो जानने में आता नहीं, तो प्रतीति किसकी? वैसे पहले आत्मा क्या है? (यह) उसके जानने में आता नहीं तो प्रतीति किसकी? आहा...हा... !

पहले में पहले आत्मा को जानना चाहिए – शब्द ऐसा लिया है। पहले में पहले आत्मा को जानना चाहिए, आहा...हा... ! संसार की सब जिज्ञासा, संसार का सब प्रयोजन का भाव छोड़कर, (आत्मा को जानना), आहा...हा... ! मैंने इतनी लक्ष्मी दी तो उससे मुझे कुछ धर्म होगा, मैं समकित सन्मुख हो जाऊँगा, यह बात है नहीं। मन्दिर में 25 लाख खर्च किये तो हम कुछ धर्म की सन्मुख होंगे, यह बात है नहीं। कठिन बात है भगवान !

**मुमुक्षु :** यह पहले क्यों नहीं कहा?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उसमें पहले आता ही नहीं, इसलिए नहीं कहा। उससे आत्मा का ज्ञान होता नहीं; इसलिए यह (आत्मा को जानने का पहले) कहा है। आहा...हा...हा... ! यह तो धनकुमार सेठ ने हिन्दी में लेने को कहा था न?

पहले शुभ(भाव) करो – दया, दान, व्रत–शुभ करो तो शुद्ध/धर्म होगा – ऐसी बात है नहीं। पहले राग की मन्दता का (भाव) – दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, दान आदि

विशेष करो तो आगे बढ़ेंगे, यह बात यहाँ है नहीं। यहाँ तो सीधा भगवान आत्मा...! पूर्णानन्द का नाथ! (है, उसको पहले जानना)। (जो) मोक्ष का अर्थी है, उसको पहले में पहले सीधा आत्मा को जानना।

आत्मा का दर्शन, ज्ञान, चारित्र – ऐसा भेद को जानना, ऐसा भी कहा नहीं। सोलहवीं गाथा में कहा है, उसका अर्थ यहाँ है। सोलहवीं गाथा में कहा था – **दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।** साधु को, मुनिराज को हमेशा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सेवन करना – ऐसा सोलहवीं गाथा में पहले पद में कहा। बाद में कहा – वह तीनों आत्मा है; तीन भेद नहीं। आहा...हा...! **णिच्छयदो अप्पाणं** – वही प्रयोजन यहाँ 17-18 गाथा में सिद्ध किया है। एक आत्मा...! आ...हा...हा...! पूर्णानन्द का नाथ, शुद्ध चिद्बिम्ब, ध्रुव, सामान्य, एक अतीन्द्रिय प्रभु की अनन्त शक्तियों का पिण्ड, ऐसा आत्मा...! ऐसा गुण का पिण्ड – ऐसा भी नहीं। यह तो समझने में (भेद) आता है। सीधा आत्मा को जानना...! आ...हा...हा...! गजब बात है, भाई!

सामान्य मनुष्य को तो (ऐसा लगे कि!) पहले यह करें, यह करें, यह करें... बाद में यह मिलेगा – ऐसा कुछ है नहीं।

**मुमुक्षु :** जैसे, गाँव बीच में आता है, वैसे यह भी बीच में आता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आये, आये... (लेकिन) उसको छोड़ना। वह तो पहले कहा न? दोपहर को कहा था – जहाँ जाना है, वह लक्ष्य में (रहता) है (और) बीच में नगर आते हैं, उसको छोड़ देता है। यहाँ (तो) बीच की बात ही नहीं, छोड़ (देते) हैं, वह बात ही नहीं। जिस नगर में जाना है और बीच में छोड़ना है, वह भी बात यहाँ नहीं। आ...हा...हा...! पर को छोड़ देना, यह भी व्यवहार है; राग को छोड़ना, वह भी व्यवहार है। राग का नाश करना, वह भी नाम(मात्र) कथन है। आत्मा (के आश्रय से) राग का नाश करना, यह भी नाम(मात्र) कथन है। परमार्थ से आत्मा, राग का नाश कर्ता है नहीं। आत्मा तो आनन्दस्वरूप में (स्थिर) होता है तो राग की उत्पत्ति होती नहीं, तो राग का नाश किया – ऐसा नाममात्र कथन से कहने में आया है। आहा...हा...! यह 34 वीं गाथा में आया है।

यहाँ कहते हैं, **(मोक्षार्थी) पुरुष को पहले...** 'पुरुष' को (अर्थात्), आत्मा को।

'मोक्षार्थी पुरुष', अर्थात्, 'आदमी' ही – ऐसा कुछ नहीं। 'मोक्षार्थी पुरुष', अर्थात्, आत्मा। (चाहे तो) स्त्री का आत्मा हो (या) नपुंसक का आत्मा हो। नरक में नीचे जो नारकी हैं, (वहाँ) तो अकेले नपुंसक ही हैं। माँस, दारू–शराब (जो) पीते हैं, उन सबका देह छोड़कर (रहने का) स्थान नरक है। कोई माने या न माने – इससे कोई वस्तु(स्थिति) पलट नहीं जाती। (कोई ऐसा कहे कि) 'बस! अभी यह करो, फिर कुछ नहीं है।' 'कुछ है नहीं' (कहता है, लेकिन वहाँ) तेरा दुःख है, मरकर दुःख (भोगने को) नरक में जायेगा। माँस आदि (खाकर) नरक में जायेगा, यह बात तो यहाँ कही नहीं; वैसे ही पुण्य करके स्वर्ग में जायेगा, यह बात भी यहाँ कही नहीं। यहाँ तो जिसको आत्मा के मोक्ष की इच्छा है, (उसकी बात है), आहा...हा...!

गृहस्थाश्रम में हो, बालक हो,... इसमें 'आबाल–गोपाल' आयेगा! आयेगा इसमें। 'आबाल–गोपाल' (अर्थात्), बालक से लेकर वृद्ध सबको पहले में पहले करने के योग्य हो तो... मोक्षार्थी जीव को पहले आत्मा जानना। आत्मा की पर्याय को जानना, यह भी नहीं कहा; व्यवहार जानने को भी नहीं कहा; निमित्त को जानो, यह भी नहीं कहा! आहा...हा...! उसमें है या नहीं? **हिन्दी तो सरल भाषा है, बहुत सरल है!** (हमको) ऐसी कोई आप लोगों की हिन्दी आती नहीं। आपके सेठ ने कहा, धनकुमार ने कहा, यह हिन्दी में पढ़े।

आहा...हा...! पहले तो आत्मा को जानना। हिन्दी में पहले यह आया है! आहा...हा...! मीठालालजी! वे चार लाख रुपये (मन्दिर में) पैसे खर्च किये, इसलिए धर्म होगा, नजदीक होगा नजदीक! ऐसा नहीं है। उसने चार लाख डाले हैं, किसी ने आठ लाख डाले हैं। बैंगलोर! दोनों (ने) मिलाकर बारह लाख! बारह लाख क्या करोड़ (रुपये) डाले नहीं, उसमें कुछ राग की मन्दता हो तो पुण्य है, यह बात यहाँ है नहीं। यहाँ तो 'मोक्षार्थी'...! (बस, उसकी ही बात है)। आहा...हा...!

'श्रीमद्' में आता है ना? मात्र मोक्ष का काम है। 'मात्र मोक्ष अभिलाष'! है, (ऐसा) शब्द है। 'आत्मसिद्धि' में (आता है)। 'मात्र मोक्ष अभिलाष'! 'मात्र' मोक्ष अभिलाष!! 'मात्र' (अर्थात्), आत्मा के सिवा कोई चीज की अभिलाषा नहीं। एक ही मोक्ष! मेरी आनन्द की दशा! मेरे अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्ण दशा मुझे चाहिए! इसके

सिवा कोई चाहना है नहीं – ऐसी मोक्ष की अभिलाषा है, उस जीव को पहले में पहले **आत्मा को जानना चाहिए...** आ...हा...हा...! नव तत्त्व को भी जानना कहा नहीं, भगवान अरहन्त को जानना (या) पञ्च परमेष्ठी को जानना, यह भी कहा नहीं, क्योंकि वह तो अनन्त बार जाना है और अनन्त बार व्यवहार आ गया है। यह आया नहीं – प्रथम आत्मा क्या चीज है? – वह आया नहीं। आहा...हा...!

**पहले तो आत्मा को जानना,...** (इसमें) बहुत गम्भीरता भरी है! बहुत गम्भीरता...! एक भगवान पूर्णानन्द प्रभु! एकरूप! दोरूप भी नहीं (अर्थात्), गुणी-आत्मा और ज्ञान–दर्शन गुण – ऐसा भेद भी नहीं। आहा...हा...! सीधा आत्मा को जानना। पञ्चम काल के सन्त, पञ्चम काल के श्रोता को यह बात कहते हैं! कोई ऐसा कहे कि 'ऐसी बात तो चौथे काल में चले!' (तो) यह बात क्या है? (एक) हजार वर्ष पहले (अमृतचन्द्राचार्य) मुनि हुए; दो हजार वर्ष पहले 'कुन्दकुन्दाचार्य' हुए, वह भी पञ्चम काल में! तो पञ्चम काल के सन्त, पञ्चम काल के श्रोता को पहले यहाँ से बात करते हैं! समझ में आया? (ऐसा नहीं कहा है कि) 'पहले तुम ऐसा करो, पहले ऐसा करो, बाद में ऐसा करो और दान करो, (पहले राग की) मन्दता करो, बाद में यह होगा!' (यहाँ तो) पञ्चम काल के सन्त, पञ्चम काल के श्रोता को (पहले में पहले आत्मा को जानना – ऐसा कहते हैं!)। (महावीर) भगवान के पीछे 2000 वर्ष बाद 'कुन्दकुन्दाचार्य' हुए; बाद में (एक) हजार वर्ष के बाद 'अमृतचन्द्राचार्य' हुए। आहा...हा...! 'कुन्दकुन्दाचार्य' तो छह सौ साल (बाद) गये (थे), अभी से दो हजार वर्ष पहले गये थे लेकिन भगवान के (निर्वाण) बाद छह सौ साल (बाद गये)। यहाँ से दो हजार वर्ष पहले। यहाँ से एक हजार वर्ष पहले 'अमृतचन्द्राचार्य' (हुए)। दोनों ने बात यह कही है! सब बात छोड़कर...! आ...हा...हा...! 'भगवान की पूजा करो, हमेशा सेवा करो तो तुझे लाभ होगा!' (ऐसी) कोई बात है नहीं। आहा...हा...! यह 17-18 गाथा के शब्दों में गम्भीरता भरी है। (कोई ऐसा कहे कि) 'पहले तू आत्मा को जान। आहा...हा...! प्रभु पहले तुम सुनाओ कि आत्मा क्या है? – बाद में हम जान सकते हैं न?' यह बात भी यहाँ है नहीं। समझ में आया?

**श्रोता :** बहुत कठिन पड़े!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बहुत कठिन पड़े? दुनिया में कुछ कठिन पड़ता नहीं। देश को छोड़कर, माँ–बाप, कुटुम्ब, रिश्तेदार आदि को (छोड़कर), परदेश में भटकता है, वह कठिन पड़ता नहीं! कुटुम्ब को वहाँ छोड़कर, यहाँ भटकता है! कितने हजारों मील दूर (यहाँ भटकता है)! यह बात इसको कभी रुचि ही नहीं। अन्तर में उसकी दरकार (कभी) की ही नहीं। जिसकी दरकार करनी चाहिए, उसकी दरकार की नहीं। जिसकी जरूरत नहीं, उसकी दरकार सारा दिन की – धन्धा-व्यापार, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, ब्याज पैदा किया, इतने पैसे हुए! आहा...हा...! करोड़ों रुपये का मन्दिर बनाया; इसलिए धर्म से नजदीक होगा और सम्यग्दर्शन पाने के योग्य होगा – ऐसी बात यहाँ है नहीं।

**श्रोता :** ऐसा उपदेश पहले दिया होता तो यह मन्दिर बनवाते नहीं न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कौन बनवाता है? वह तो शुभभाव हो (और) बनने के योग्य है, उस काल में बनेगा। इस शुभभाव से मन्दिर बनेगा, यह बात है नहीं। कहो, लक्ष्मीचन्दभाई! देखो! लक्ष्मीचन्दभाई, जेठालालभाई आये, सब सेठ बैठे हैं, उसने कहा मन्दिर बनाने के लिये कुछ करें। मन्दिर तो परमाणु की रचना है; आत्मा को बिल्कुल लाभ नहीं। वह परमाणु–रजकण जो हैं, (वह) अनन्त परमाणु का पिण्ड (है)। जैसे यह अंगुली है, वह अनन्त परमाणु का पिण्ड है। यह (कोई) एक चीज नहीं है, यह एक चीज नहीं है, यह तो अनन्त रजकण का पिण्ड है। उसको शास्त्रभाषा में 'स्कन्ध' कहते हैं, 'स्कन्ध'! (एक से) अधिक परमाणु मिले, उसको शास्त्र में 'स्कन्ध' कहा है, तो यह स्कन्ध है, एक चीज नहीं। उसका टुकड़ा करते... करते... करते... आखिर का छोटे में छोटा पॉइन्ट रहे, उसको 'परमाणु' कहते हैं। उस परमाणु में भी उस समय में उसकी अपनी अवस्था होने का काल है तो परमाणु की अवस्था होती है; दूसरे परमाणु के कारण से अवस्था होती है, यह (बात) भी नहीं (है)। तो दूसरे आदमी से मन्दिर होता है, यह (बात) भी नहीं (है)। कठिन काम, भाई! लक्ष्मीचन्दभाई! ऐसी बात है, प्रभु! आहा...हा...!

**श्रोता :** सामने दिखता है तो भी नहीं?

**समाधान :** जो नहीं दिखता, वह यह है! देखा नहीं, वह यह है और बाकी सब

देखा है ! बाकी सब बाहर में धूल देखी है ! राजा अनन्त बार हुआ है, अरबों की महीने की कमाई (हो) – ऐसा राजा अनन्त बार हुआ है ! और सौ बार मांगे और एक कवल (ग्रास) मिले – ऐसा भिखारी अनन्त बार हुआ है ! और करोड़ों रुपये का मन्दिर भी अनन्त बार बनाया है, पूर्व में अनन्त बार बनाया है ! वह कोई (नयी) चीज नहीं। आहा...हा... ! गजब बात है, भाई ! हिन्दी में आया, उसमें (भी) पहले यह आया !

'प्रथम में प्रथम आत्मा को जानना चाहिए' – यह शब्द लिया है। संवर, निर्जरा को जानना या मोक्षार्थी को मोक्ष जानना – ऐसे पहले नहीं लिया। क्या कहा ? मोक्षार्थी को मोक्ष को जानना – ऐसे नहीं लिया। समझ में आया ? मोक्षार्थी को आत्मा जानना – ऐसे लिया है। मोक्षार्थी को, मोक्ष क्या है ? यह पहले जानने में लिया नहीं, क्योंकि मोक्ष है, यह पर्याय है। मोक्ष पर्याय है, सिद्ध की पर्याय है। मोक्षार्थी को – मोक्ष की पर्याय के प्रयोजनवान को, मोक्ष की पर्याय जानना – ऐसा नहीं कहा। आहा...हा... ! उसे संवर, निर्जरा को पहले जानना, यह भी नहीं कहा। आहा...हा... ! ऐसी बात है, प्रभु ! उसमें यह परदेश–अनार्य देश ! उसमें ऐसी बातें ! ! बात तो ऐसी है, प्रभु ! अन्तर की दरकार कभी की ही नहीं। चार गति में भटकते-भटकते नरक और निगोद के अनन्त भव किये तो भी आत्मा का कुछ (कल्याण) हुआ नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, पहले में पहले **आत्मा को जानना चाहिए...** ऐसे लिया है। कहो, जेठालालभाई !

**श्रोता :** तैयार शिष्य को लिया है !

**पूज्य गुरुदेवश्री :** जो पात्र जीव है, जो मोक्ष का अर्थी है, उसको लिया है। जो कुछ पुण्य का अर्थी, विषय का अर्थी, मान का अर्थी, इज्जत का अर्थी, धूल का अर्थी (अर्थात्), यह पैसे–करोड़–दो करोड़ होते हैं, उसका अर्थी (हो), यह बात यहाँ ली नहीं; वह योग्य है नहीं ! आ...हा...हा... ! मोक्ष का अर्थी... ! मोक्ष के अर्थी को मोक्ष जानना – ऐसे भी लिया नहीं, आहा...हा... ! है न अन्दर देखो ! **मोक्षार्थी पुरुष को पहले...** ऐसे शब्द पड़े हैं। मोक्षार्थी को पहले मोक्ष को जानना – ऐसे यहाँ पहले लिया नहीं; तो (फिर) पुण्य करना, यह करना, उससे आत्मा (प्राप्त) होता है – यह प्रश्न यहाँ है ही नहीं। भगवान

आत्मा का ज्ञान किसी भी पर की अपेक्षा रखे बिना होता है। राग की इतनी मन्दता की और बाद में आत्मा का ज्ञान होता है – ऐसी अपेक्षा आत्मा को जानने में है नहीं। आहा...हा...! गजब बात है!

सेठिया हो तो लाख, दो लाख, पाँच लाख, पचीस लाख खर्च करे तो मानो (क्या कर दिया!) दूसरे लोग उसे 'धर्म धुरन्धर' का पद दें! 'धर्म धुरन्धर'! यहाँ तो ध्येय आत्मा जो है, आहा...हा...! पहले में पहले...! गजब बात है! मोक्षार्थी को पहले मोक्ष जानना, यह भी नहीं लिया। तब फिर संवर, निर्जरा, पुण्य को (जानना) और मन्दिर बनाना, पहले यह बनवाना और बाद में आत्मा को जानना, यह बात तो ली ही नहीं। आहा...हा...! सीधा मार्ग यही है! जिसे (धर्म करना हो, उसे) सीधा इस आत्मा को जानना! सीधा...! इसको जानने में, पर की कोई अपेक्षा है नहीं; इसलिए भगवान के यह वचन हैं! (और) मुनिराज, जगत के पास यह प्रसिद्ध करते हैं! दुनिया को रुचे न रुचे, समाज साथ रहे न रहे, (नग्न मुनि को किसी का बन्धन नहीं)। 'नागा, बादशाह से आधा'! उनको कोई परवाह नहीं कि यह बात किसी को नहीं रुचे और विरोध करेगा (तो)? (वह) उसके पास रहे! विरोध करनेवाला कोई है नहीं, आहा...हा...!

मोक्षार्थी को...! गजब बात कही है न! आ...हा...हा...! मोक्ष के अर्थी को मोक्ष जानना – ऐसे नहीं कहा, क्योंकि मोक्ष है, वह पर्याय है; पर्याय है, वह भेष है; पर्याय है, यह आत्मा का एक भेष है – 'समयसार' में आया है। संवर, निर्जरा भी एक भेष है (और) मोक्ष भी एक भेष है; वस्तु नहीं। यह तो पर्याय का एक भेष है, आहा...हा...! परन्तु जो एक (मात्र) मोक्ष की पर्याय चाहता है, उसको सीधा... (आत्मा को जानना)। आहा...हा...! पर की अपेक्षा छोड़कर (अर्थात्), ऐसा करूँ तो ऐसा मिलेगा – ऐसी अपेक्षा छोड़कर (सीधा आत्मा को जानना)।

तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि में यह आया! उसे सन्त...! पञ्चम काल के सन्त! सीधे भगवान के पास गये थे, वहाँ से आकर 'आढ़तिया' होकर यह बात करते हैं! 'भगवान ऐसा कहते हैं! वह हम कहते हैं!' ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

**श्रोता :** देशना सुनने से होता है न?

**समाधान :** देशना सुनने की यहाँ गिनती नहीं है! (क्योंकि) देशना अनन्त बार सुनी और अन्दर गया नहीं। देशना अनन्त बार सुनी है!

**श्रोता :** यह देशना अलग प्रकार की है!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अलग प्रकार की है! देशना आती अवश्य है परन्तु देशना आयी; इसलिए प्राप्त हो जाये – ऐसा नहीं; इसलिए यह शब्द लिये हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, **प्रभु! आज तो तेरहवाँ दिन हुआ! अब इतना सूक्ष्म आया!** आहा...! उसे क्रमबद्ध होगा; इसलिए आत्मा को जानना – ऐसे शब्द भी लिये नहीं। क्रमबद्ध होनेवाला है, इसलिए नहीं, (परन्तु) आत्मा को जान, उसमें वह क्रमबद्ध है, वह बात आ जायेगी! आहा...हा...! क्योंकि क्रमबद्ध में अकर्तापना बताया है। आत्मा, राग का और पर्याय का अकर्ता है; सीधा आत्मा, आत्मा का (कर्ता) है, तो सीधी आत्मा की बात ली है, आहा...हा...! वहाँ तो अकर्ता बताया है न? क्रमबद्ध में तो अकर्ता बताया है। पर्याय का भी अकर्ता! तो वह बात यहाँ ली नहीं। आ...हा...हा...! यहाँ तो पर्याय में सीधा आत्मा को जानना... जानने में आता है पर्याय में, परन्तु पर्याय में जानना – आत्मा! पर्याय (में) पर्याय को जानना – ऐसा भी कहा नहीं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

सारी दुनिया को जानते हैं! (हम तो) दुनिया में बहुत घूमे हैं, काठियावाड़ में और हिन्दी (भाषी प्रान्त में) तो कलकत्ता, जयपुर, दिल्ली सब जगह जाकर आये हैं। सब जगह व्याख्यान दिये हैं। बड़े-बड़े शहर, अहमदाबाद आदि सब जगह गये हैं। बापू! यह मार्ग कोई अलग है! आहा...हा...!

अभी (तो) ऐसी बात आने से उसे ऐसा लगे कि, 'यह बात तो बहुत कठिन है, इसलिए कुछ दूसरा चाहिए।' – तो कहते हैं कि वह आत्मा को प्राप्त करने के लिये योग्य नहीं है। आहा...हा...!

**श्रोता :** (बात) बहुत सूक्ष्म है, थोड़ी स्थूल नहीं हो सकती?

**समाधान :** सूक्ष्म कहाँ (है)? उसके स्वयं के घर की (बात है)! उसे सूक्ष्म कहना या स्थूल कहना, उसके घर की बात है, घर के अन्दर है। आत्मा घर के अन्दर महा प्रभु

पड़ा है ! आहा...हा... ! एक घण्टा पूजा और भक्ति कर ली, इसलिए कल्याण हो जायेगा (यदि ऐसा मानता है तो) धूल में भी नहीं होगा ! ! ऐ...ई... ! निहालभाई ! (किसी को) पूछा था कि, 'कुछ करते हो ?' (तो कहा कि) 'हम एक घण्टा भगवान की पूजा करते हैं !' उस एक घण्टे (पूजा करने) से कुछ होनेवाला नहीं – ऐसा कहते हैं। उसमें कुछ गति बदल जाये – ऐसा है नहीं। आ...हा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि पहले में पहले... नाथ ! आत्मराजा ! (दृष्टान्त में) जैसे सीधा राजा को जाने – ऐसा कहा। उसमें ऐसा नहीं कहा कि 'बनिये को जाने या ब्राह्मण को जाने या अमुक को जाने !' (बल्कि सीधा) राजा को जाने ! 'राज्यते इति शोभते इति राजा' ! आहा...हा... ! उसके दीदार दिखे, शरीर में पुण्य दिखे, उसके आभूषण, गहने, कपड़े देखकर लगे कि 'यह तो राजा है।' जैसे सीधा जिसने राजा को देखा हो, उस राजा को जानकर, उसकी श्रद्धा करके, लक्ष्मी का अर्थी जो है... लोभी... ! धन का अर्थी जो लोभी... ! वह राजा की सेवा करे – ऐसा कहा।

इसी प्रकार मोक्ष का अर्थी आत्मा ! वह आत्मराजा की सेवा करे ! ऐसा कहा है। आत्मा का सीधा सेवन करना – ऐसा कहा ! ऐसा कहा नहीं कि कोई गरीब की सेवा करना, उसकी सेवा करे – ऐसा कहा नहीं। राजा के सिवा कोई सेठिया की सेवा करना – ऐसा भी यहाँ कहा नहीं, क्योंकि राजा के पास लक्ष्मी इतनी होती है... इस समय में अभी तो राजा साधारण हो गये हैं, (बाकी तो) पहले के जो राजा होते थे, उसकी करोड़ों की, अरबों की कमाई एक दिन की होती है ! तो पैसा, अर्थात् धूल (है) उसके पास ! ऐसे राजा को सीधा जानना – ऐसा कहा। कोई अमुक को जाने, ऐसा कहा नहीं; धन के अर्थी को राजा को जानना, ऐसा कहा, यह तो दृष्टान्त हुआ।

इस प्रकार मोक्षार्थी को... ! आ...हा...हा... ! गजब बात है, प्रभु ! आ...हा...हा... ! प्रथम में प्रथम **आत्मा को जानना चाहिए,...** शब्द यह पड़े हैं। कौन यह कहते हैं ? मुनि ! किसको कहते हैं ? पञ्चम काल के श्रोता को ! कोई ऐसा कहे कि 'ऐसी बात तो चौथे काल में चले अथवा ऐसी बात तो मुनि के लिये होती है ! यह 'समयसार' मुनि के लिए हैं !' ऐसा कोई कहता है तो उसकी सब बात उड़ा दी ! (कोई कहे कि) 'समयसार' है, यह तो मुनि

के लिये हैं! चौथे काल की बात है! यह (बात तो) पञ्चम काल के साधु पञ्चम काल के श्रोता को – मोक्ष अर्थी हो, उसे पञ्चम काल के मुनि, (पञ्चम काल के) श्रोता को ऐसा कहते हैं!! पहले आत्मा को जान! (लेकिन) 'प्रभु! इतनी सारी बात!' इतनी सारी कोई बात नहीं है! प्रभु अन्दर भगवान विराजता है! सत्चिदानन्द प्रभु! अनन्त परमेश्वर! अनन्त गुण का परमेश्वर! 38 वीं गाथा में कहा। 38 वीं गाथा में वह (बात आयी)। 38 गाथा...! 'अपने परमेश्वर को भूल गया!' सबेरे दातून करते समय सोना निकालकर हाथ में (रखा था, वह) भूल गया! कहाँ है! सोना कहाँ है? यह रहा! ओह! यह रहा! ऐसे आत्मा तो अन्दर है परन्तु राग की एकताबुद्धि में भूल गया। दया, दान, पूजा, भक्ति का राग – इस राग की एकता में आत्मा को भूल गया। आहा...हा...! इस आत्मा को प्रथम जानना चाहिए – ऐसे कहा है। प्रथम जानना चाहिए। मोक्षार्थी को प्रथम आत्मा जानना चाहिए। आ...हा...हा...! पञ्चम काल में – ऐसे कठिन काल में प्रभु! पहले ऐसे करना, यह आप की बात बहुत कठिन पड़ती है। कठिन पड़े या नहीं पड़े, प्रभु! मार्ग तो यह है। कोई पर की अपेक्षा से आत्मा जानने में आये और अनुभव–सम्यग्दर्शन हो – ऐसी चीज है नहीं।

कोई पुण्य–दान किया, भक्ति किया, ऐसा किया, पचास लाख खर्च कर दिया, करोड़ खर्च कर दिये... बनिया इतने सारे तो खर्च करे नहीं... लेकिन कदाचित् करोड़ – दो करोड़ खर्च कर दिया तो उससे कुछ धर्म (हो जाये – ऐसा नहीं है)। और (कोई) ऐसा लोभी हो (तो कहे कि) 'एक तखती हमारी लगा दो कि, हमने इस मकान (मन्दिर) में पाँच करोड़ दिये हैं! हमारी तखती लगाओ!' तखती लगाने में तस्दी लेते हैं!! तस्दी, अर्थात् मेहनत। अपनी तखती लगाने में मेहनत करते हैं कि 'मैंने दस लाख, पचास लाख दिया है(तो) मेरा नाम उसमें लिखो!' उसमें तीन–चार नाम लिखे! फलाना के द्वारा ये फलाना देनेवाला! सही फलाने की...!! सब देखा है न हमने तो! आहा...हा...! यहाँ यह बात नहीं है, नाथ!

**श्रोता :** पैसे दिये हैं तो लिखाते हैं!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** (लेकिन) आत्मा में क्या आया? बहुत मेहनत करे, जिसको

दिये हो वह नहीं (लिखे) तो मित्रों को कहे कि, 'मेरा नाम लिखना! दो–पाँच आदमी को बात करो!' ऐसा मित्रों को कहे!! ऐसा कहकर तस्दी–मेहनत करे! तस्दी–मेहनत करके तखती लगावे। वह भटकने की तस्दी है। यहाँ तो अलग बात है। भभूतमलजी! आहा...हा...!

यहाँ तो प्रभु, परमात्मा (यह फरमाते हैं)। 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहे (– ऐसा) कहो या 'अमृतचन्द्राचार्य' कहे (– ऐसा) कहो या परमात्मा कहे (– ऐसा) कहो, सब एक ही है, क्योंकि आत्मा में पञ्च परमेष्ठी होने की योग्यता है। पञ्च परमेष्ठी (होने की) योग्यता भरी है, आत्मा में पञ्च परमेष्ठी, अर्थात् अरहन्त सिद्ध होने की योग्यता पड़ी है, इसको जानो! आहा...हा...! है (पाठ में)? **और फिर उसी का श्रद्धान करना...** (पहले) जानना, फिर श्रद्धान करना (ऐसा कहते हैं)। जो जानने में आया नहीं, उसकी श्रद्धा कैसी? ज्ञान में वह चीज आयी नहीं और (कहे कि) उसकी श्रद्धा करो! खरगोश के सींग नहीं है (और कहे कि) श्रद्धा करो! परन्तु जानने में आया नहीं (तो) श्रद्धा कैसे करे? सींग है नहीं (तो) जानने में आया नहीं, वैसे ही जो चीज जानने में आयी नहीं, उसकी श्रद्धा कैसी? समझ में आया? पहले जानना चाहिए **और फिर...** (श्रद्धा करनी), ऐसे लिया है।

**और फिर उसी का...** 'उसी का', अर्थात् आत्मा जाना उसका। उसी का, अर्थात् आत्मा का **श्रद्धान करना चाहिए...** उसकी श्रद्धा करनी चाहिए। आहा...हा...! जाननेवाले की श्रद्धा करना। जाननेवाला जानने में आया... जाननेवाला जानने में आया, इस जाननेवाले की श्रद्धा करना। जो जानने में आया है, उसकी श्रद्धा करना। जो चीज जानने में आयी नहीं, उसका कैसे विश्वास आये? किसका विश्वास करना? आहा...हा...!

यहाँ कहा कि **और फिर...** ऐसा जानकर, फिर **उसी का श्रद्धान करना चाहिए...** फिर; अर्थात्, अकेला जानना (ऐसे) नहीं रहना, (बल्कि) जानकर श्रद्धा करना। भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है – ऐसा जानकर उसकी श्रद्धा करना। जानना, फिर श्रद्धान करना। 'तत्त्वार्थसूत्र' में तो पहले सम्यग्दर्शन लिया है। 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्राणि मोक्षमार्गः' वहाँ सम्यग्दर्शन की प्रधानता लेकर, बाद में ज्ञान लिया है। यहाँ (यह कहते हैं कि) जो चीज जानने में नहीं आयी, उसकी श्रद्धा कैसे हो? ज्ञान में आत्मा क्या है? पूर्णानन्द शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द (है) – ऐसे ज्ञान में आया नहीं, ज्ञान में जाना नहीं, ज्ञान में ज्ञेय

हुआ नहीं, उसकी श्रद्धा कैसी? जिस ज्ञान में वह ज्ञेय आया नहीं, (अर्थात्), परज्ञेय छोड़कर स्वज्ञेय आया नहीं और स्वज्ञेय (ज्ञान में) आये बिना, उसकी श्रद्धा कैसी? किसकी श्रद्धा की? समझ में आया? आहा...!

**फिर उसी का...** 'फिर' शब्द लिया है न? जानना, फिर श्रद्धा करना, इस प्रकार 'फिर' (शब्द) लिया है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु, शुद्धघन, विज्ञान पिण्ड – ऐसा अन्दर ज्ञान (हुआ), अनुभव हुआ, स्वज्ञेय का ज्ञान हुआ (और) परज्ञेय का ज्ञान छूट गया, तब फिर उसकी श्रद्धा करना। जो चीज ज्ञान में आयी है, उसकी श्रद्धा करना, आ...हा...हा...! हिन्दी भी सादी भाषा है। बहनों-बेटियों को भी समझ में आये, ऐसा है। बात बहुत अच्छी आयी है! आहा...हा...!

**आत्मा को जानना चाहिए, और फिर...** 'फिर' में (ऐसा कहना है कि) जाना हुआ (है), उसकी श्रद्धा करना (कि) 'ज्ञायकस्वरूप आनन्दमूर्ति मैं हूँ।' यह मैं हूँ – यह भी विकल्प है। जानने में जो आया कि पूर्णानन्द शुद्ध चैतन्य ऐसा है, उसकी प्रतीत करना – यह समकित है। जानने में आयी चीज का फिर श्रद्धान करना, उसका नाम समकित है – ऐसा यहाँ लिया है। ज्ञान पहले लिया है और श्रद्धा बाद में ली है। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन पहले लिया है और ज्ञान बाद में लिया है, क्योंकि वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान में तत्त्वार्थ लेना है न! नव (तत्त्व) लेना है। वहाँ है एकवचन। नव तत्त्व का वचन, एकवचन में है; बहुवचन नहीं। नव का एकवचन है। आत्मा को जानकर, आठ तत्त्व जानने में आये तो एकवचन हुआ; एक ही जानने में आया। यहाँ भी जानने में एक ही आया है। यहाँ भी एक ही आत्मा जानना **और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए...** क्या (श्रद्धान करना चाहिए?) कि **यही आत्मा है,...** ज्ञान में आया है कि यही आत्मा है, आहा...हा...! प्रत्यक्ष हुआ है।

आत्मा में एक 'प्रकाश' नाम का गुण है, इस गुण के कारण आत्मा को जानते हैं तो प्रत्यक्ष हो जाता है। क्या कहा? पीछे (परिशिष्ट में) 47 शक्ति हैं न! 47 शक्ति! उसमें बारहवीं 'प्रकाशशक्ति' है। जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, स्वच्छत्व और प्रकाश – बारहवीं (शक्ति) है। 47 शक्ति हैं, (उसमें)

बारहवीं शक्ति में ऐसा कहा है कि आत्मा में एक प्रकाश नाम का गुण है कि जो गुण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो जाता है। ध्यान के काल में प्रत्यक्ष होता है; परोक्ष रहता नहीं। सम्यग्दर्शन के (काल में) ज्ञान से प्रत्यक्ष हो जाता है। सम्यग्दर्शन में तो प्रतीति है। सम्यग्दर्शन कुछ जानता नहीं, यह तो प्रतीति है परन्तु पहले सारा आत्मा जानने में आया (कि) पूर्णानन्द का नाथ यह पूर्ण है – यह जानना, फिर उसकी श्रद्धा करना। ओ...हो...हो...! **करना चाहिए...** ऐसे लिया है। **फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए...** किसको कहते हैं? पञ्चम काल के श्रोता को कहते हैं। श्रोता साधारण है और श्रोता को यह नहीं रुचेगा – ऐसी दरकार है नहीं।

तेरे में केवलज्ञान लेने की ताकत है। एक समय में केवलज्ञान लेने की ताकत है, तो आत्मा को जानने की ताकत की बात करना, यह कोई बड़ी बात नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! वही आत्मा है। **श्रद्धान करना चाहिए कि 'यही आत्मा है'...** रागरहित (है), यह बात भी ली नहीं। यह नास्ति से बात है। आत्मा रागरहित है, पर्यायरहित है, भेदरहित है – ऐसा नहीं लिया। (यहाँ तो) सीधा आत्मा जाना, उसकी फिर श्रद्धा करनी चाहिए कि **यही आत्मा है,...** (अर्थात्), यह आत्मा! (ऐसा) ज्ञान में जानने में आया। आहा...हा...! गुड़ का मीठापन ख्याल में आया (तो) यह गुड़ है! गुड़ है न गुड़? ख्याल में आया कि मीठापन है तो यह गुड़ है, वैसे ही आत्मा के आनन्द का अनुभव हुआ तो 'यह आत्मा है!' ऐसी श्रद्धा जानने के बाद होती है; जाने बिना श्रद्धा होती नहीं, आहा...हा...! ऐसी बात है! **यही आत्मा है,...** (ऐसी श्रद्धा होने के बाद) क्या करना? श्रद्धा में क्या होता है?

श्रद्धा में क्या होता है? कि – **उसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा...** उसका आचरण करने से कर्मों से छूटा जायेगा – ऐसा श्रद्धा में आता है। आचरण कोई शुभभाव करेगा – ऐसा नहीं। उसका आचरण करने से (छूटा जायेगा) – ऐसा श्रद्धा में आता है। समकित में ऐसा आता है कि उसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा। उसकी विशेष बात आयेगी...! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## प्रवचन–7, गाथा–17-18

'समयसार' 17-18 गाथा। यहाँ तक आया है। **मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए...** यह बात ली है, भाई! चाहे जितने व्यवहार आदि करे, परन्तु उससे आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। आत्मा की प्राप्ति पर से निरपेक्ष है; इसलिए यह सीधी बात ली है। कोई व्यवहार करे, यह करे, अमुक करे, पूजा-भक्ति करे, दया-दान पाले तो आत्मा का ज्ञान हो – ऐसा नहीं है; इसलिए सीधी बात यह ली है (कि) **मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए,...**

**और फिर...** यह शब्द आया है न? संस्कृत में **ततः** शब्द है। अनुभव में प्रतीति करना – ऐसा कहते हैं। आत्मा का अनुभव करके, 'यह आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है' – ऐसी प्रतीति करना – यह श्रद्धा है। **फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए...** ज्ञान बिना, श्रद्धा नहीं होती। जो चीज जैसी है, वैसी ज्ञान में आये बिना, उसकी श्रद्धा-प्रतीति होती नहीं; इसलिए सबसे पहला कर्तव्य हो तो यह है। आहा...हा...! व्यवहार की सब बात छोड़कर सीधी बात की है।

**और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा...** आहा...हा...! यह आत्मा, आनन्द और ज्ञानस्वरूप है – ऐसी ज्ञान में प्रतीति हुई तो इस प्रतीति में ऐसा आया... प्रतीति में ऐसा आया कि इस आत्मा में आचरण करने से, आत्मा का आचरण करने से (अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा)। व्यवहार आचरण करने से (छूटा जायेगा – ऐसा नहीं कहा)। (व्यवहार आचरण बीच में) आता है परन्तु वह जानने योग्य है। आदरणीय तो (स्वयं का आत्मा है)। **इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा...** आहा...हा...!

चैतन्यस्वरूप आनन्दकन्द प्रभु, सकल निरावरण, पूर्ण अखण्ड, उसका ज्ञान करके श्रद्धा में ऐसा आया... श्रद्धा में ऐसा आया! कि इस आत्मा का आचरण करने से कर्मों से छूटा जा सकेगा; दूसरी कोई क्रियाकाण्ड से कर्म से छूटने की विधि नहीं है। आहा...हा...! है? **इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा...**

(अर्थात्), यह आत्मा आनन्दस्वरूप (है), इस आनन्द (स्वरूप का) आचरण करना। सूक्ष्म बात है! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा (है), इस आनन्द का आचरण करना, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करना, यह आत्मा का आचरण है। आहा..हा...! देह की जड़ आदि की क्रिया, यह आत्मा का आचरण है नहीं। अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का परिणाम, यह भी आत्मा का आचरण है नहीं। आहा...हा...! है? **उसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा और फिर...** (अर्थात्), ऐसी प्रतीति ज्ञान से हुई **और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिए...**

आत्मा, आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसका अनुचरण करके आचरण करना चाहिए। उसकी आवश्यक क्रिया (यह है कि) अन्तर में रहना – चिदानन्दस्वरूप में आचरण करना, वह चारित्र है। चारित्र कोई व्रत आदि परिणाम का नाम चारित्र नहीं है, आहा...हा...! कठिन बात आयी!

उसके **....अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए;...** भगवान-आत्मा, शुद्ध चैतन्यघन को दृष्टि में लेकर उसका आचरण (करना चाहिए)। निमित्त का आचरण नहीं, राग का आचरण नहीं; त्रिकाली ज्ञायक का आचरण करने से कर्म से छूटेगा – ऐसी प्रतीति करके अन्तर में अनुभव में आचरण करना। आहा...हा...! ऐसी बात है! यह चारित्र! चारित्र कोई देह की क्रिया या व्रत, नियम, तप की क्रिया, यह कोई चारित्र नहीं।

चारित्र तो ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप भगवान का आचरण (अर्थात्), अन्दर में एकाग्रता होना, (वह चारित्र है)। यह आचरण करने से ही कर्म से छूटेगा; इसके सिवाय दूसरे कोई आचरण से कर्म से नहीं छूटेगा। है? फिर **अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए;...** आहा...हा...! चैतन्य का सम्यक्ज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, फिर उसी में लीन होना चाहिए। अतीन्द्रिय आत्मा में लीन होना चाहिए – यह चारित्र है। आहा...हा...!

**क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप...** साध्य (अर्थात्), यहाँ ध्येय की बात नहीं है। ध्येय तो आत्मा! ध्येय तो आत्मा है, परन्तु साध्य है, वह मोक्ष अवस्था है। दोनों में अन्तर है। समझ में आया? ध्येय (अर्थात्), यह तो पहले कहा कि आत्मा को जानना (फिर) श्रद्धान करना, यह ध्येय है। अब यहाँ (तो यह कहते हैं कि) इस आत्मा का

आचरण करने से साध्य जो मोक्षदशा (है वह), उससे प्राप्त होती है। आत्मा की मोक्षदशा, यह साध्य (है); ध्येय नहीं (ध्येय तो आत्मा है)। ध्येय और साध्य में पूर्व–पश्चिम जितना बड़ा अन्तर है।

ध्येय तो द्रव्यस्वभाव लेना और साध्य (अर्थात्), उसका आचरण करने से साध्य (जो) निष्कर्म अवस्था – सिद्ध अवस्था (प्रगट होती है) यह साध्य है। है? आहा...हा...! **साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप...** आहा...हा...! आत्मा का पूर्ण अभेद(स्वरूप प्रगट) हो जाना, यह साध्य की अवस्था – मोक्ष की अवस्था है। है? **सिद्धि की इसी प्रकार उपपत्ति है,...** (अर्थात्), मुक्ति की इस प्रकार से उत्पत्ति है; दूसरे कोई प्रकार से मुक्ति की उत्पत्ति है नहीं। इस प्रकार पहले उसका निर्णय करना चाहिए। आहा...हा...!

मुक्ति, अर्थात् सिद्धदशा – साध्य। ध्येय नहीं; ध्येय द्रव्य है परन्तु पर्याय में स्वरूप का आचरण करने से साध्य (जो) निष्कर्म अवस्था (है, वह) उससे प्राप्त होती है, आहा...हा...! भाषा बहुत संक्षिप्त, (है), किन्तु भाव बहुत गम्भीर है! आहा...हा...!

**निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप, उसकी सिद्धि की इसी प्रकार उपपत्ति है...** इस प्रकार मुक्ति की उत्पत्ति है। मोक्ष की उत्पत्ति इस प्रकार से है; **अन्यथा अनुपपत्ति है।** अनेकान्त किया। आत्मा, आनन्दस्वरूप ज्ञायकस्वरूप (है), उसको जानकर, श्रद्धा करके, उसका आचरण करना, वह निष्कर्म अवस्था (अर्थात्), सिद्धि का कारण है। निष्कर्म अवस्था(रूप) सिद्धि का यह कारण है; दूसरा कोई कारण है नहीं।

यह सब बाहर का करते हैं न? (तो कहते हैं कि) बाहर का हो, यह जानने योग्य है; अन्दर में आदरने योग्य नहीं। आहा...हा...! पञ्च कल्याणक महोत्सव में जो कोई क्रियाकाण्ड होता है, वह सब जानने योग्य है, आदरने योग्य नहीं। निष्कर्म अवस्था(रूप) सिद्धि की उत्पत्ति, आत्मा का आनन्द का आचरण करने से होती है; अन्यथा उसकी उत्पत्ति होती नहीं।

**(इसी बात को विशेष समझाते हैं –)** विशेष समझाते हैं। **जब आत्मा को, अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ...** क्या कहते हैं? आत्मा में पर्याय में रागादि के अनेक प्रकार के भेद दिखते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि काम,

क्रोध आदि के भेद जो दिखते हैं, इसके साथ **मिश्रितता होने पर...** (अर्थात्), पर्याय में विकार की मिश्रितता होने पर भी, आहा...हा...! **सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता...** (अर्थात्), राग से भिन्न करना, वह भेदज्ञान (है), आहा...हा...! क्रियाकाण्ड का राग बीच में आता है परन्तु उससे भेद करना। आहा...हा...! है?

**अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप...** (अर्थात्) रागादि अनुभव में आते हैं, अन्दर पर्याय में विकार आदि शुभाशुभभाव आते हैं। (उन) **भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी...** (अर्थात्), पर्याय में आनन्द का भी अनुभव और राग का भी अनुभव (है) – ऐसा मिश्रितपना अनुभव में आता है, फिर भी, **सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता से...** अन्दर में राग से भिन्न करने के भेदज्ञान में चतुराई (अर्थात्), प्रवीणता (से) (अर्थात्), 'विकल्प –मात्र पर है और मैं निर्विकल्प आनन्दस्वरूप हूँ' – ऐसे भेदज्ञान में प्रवीणता से। आ...हा...हा...! बात तो 17-18 गाथा (में) यह है।

**– जो यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ –** (अर्थात्), मैं तो इस आनन्द का अनुभव करनेवाला, यह मैं हूँ। अनुभूति में साथ में जो राग आता है, यह मेरी चीज नहीं। उससे भिन्न अपना अनुभव करना – भेदज्ञान करना, यह आत्मा का आचरण है। राग की क्रिया बीच में आती है, उसका भेदज्ञान करना और आत्मा का अनुचरण करना, यह मुक्ति का उपाय है। आहा...हा...!

**(– 'जो यह अनुभूति है)सो ही मैं हूँ' – ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ...** आहा...हा...! रागादि (मैं) नहीं। आनन्द और ज्ञानमूर्ति मैं आत्मा हूँ – ऐसा आत्मा का अनुभव (होना) और राग के भाव से भिन्नपना होने पर, अपने आत्मज्ञान की प्राप्ति (करता) हुआ। वहाँ आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई; राग की नहीं। राग का तो भेद(ज्ञान) करके, आत्मा की प्राप्ति–उत्पत्ति हुई। आ...हा...हा...! सूक्ष्म बात है! हिन्दी में तो आज दूसरा (दिन) है न! कल से तो गुजराती चलेगा। धनकुमार सेठ ने कहा था तो दो व्याख्यान (हिन्दी में) आये। हिन्दी वैसे बहुत कठिन नहीं है, थोड़ा ध्यान रखे तो समझ में आता है।

कहते हैं कि आत्मा की ज्ञान की पर्याय में रागादि की क्रिया मिश्रितपने दिखने पर, राग से भिन्न आत्मज्ञान करके, आत्मज्ञान का अनुचरण करना। बीच में राग आता है, उसका अनुचरण नहीं करना। आहा...हा...! ऐसी बात है!

**ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ, इस आत्मा को जैसा जाना है...** (अर्थात्), आत्मा जैसा है (अर्थात्), शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दकन्द, अनाकुल आनन्द का पूर – ऐसा आत्मा है, (ऐसा जाना)। राग के मिश्रितपने को छोड़कर ऐसे आत्मा का ज्ञान हुआ... **जैसा जाना है, वैसा ही है; इस प्रकार की प्रतीति...** जैसा आत्मा का ज्ञान हुआ, उस प्रकार की प्रतीति तब (हुई)। आत्मा का ज्ञान हुआ, तब प्रतीति (हुई)। एकदम प्रतीति अपने आप (हो जाये) – ऐसा नहीं। जो चीज देखी नहीं, उसकी प्रतीति क्या? जो ख्याल में ही आया नहीं (और कोई कहे कि) विश्वास करो! (लेकिन) किसका करे? राग से भिन्न होकर आत्मा आनन्दस्वरूप है – ऐसे भेदज्ञान में आत्मा आया, उसका आचरण करना, आहा...हा...! है? **जैसा जाना है, वैसा ही है; इस प्रकार की प्रतीति...**

आहा...! **प्रतीति जिसका लक्षण है – ऐसा श्रद्धान उदित होता है...** उसको समकित होता है। आहा...! धर्म की पहली सीढ़ी। आत्मा की पर्याय में जो रागादि हैं, उसका भेद करके, आत्मा का ज्ञान करके प्रतीति करना, तब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, आ...हा...हा...! इतनी सारी शर्तें हैं! गाथा बहुत ऊँची है! **श्रद्धान उदित होता है...** देखो! भाषा ऐसी ली है। राग की–विकल्प की क्रिया से भिन्न आत्मा को जानकर, उसकी श्रद्धा प्रगट होती है। **उदित होता है,** अर्थात् श्रद्धान प्रगट होता है।

(आगे कहते हैं), **तब समस्त अन्य भावों का भेद होने से...** (अर्थात्), तब सब रागादि–विकल्प का कोई भी प्रकार (हो); भगवान का स्मरण, भक्ति, पूजा, व्रत आदि सब का भेद करना। वह कोई (भी) चीज अपने मोक्ष के कारण में है नहीं। आता है, होता है परन्तु उसका भेद करके... **अन्य भावों का भेद होने से...** देखो! आहा...हा...! सूक्ष्म है!

**अन्य भावों का भेद होने से...** (अर्थात्), पुण्य–पाप के विकल्प से आत्मा को भिन्न (करने से)। **अन्य भावों का भेद होने से निःशङ्क स्थिर होने में...** शङ्का बिना – निःसन्देह (रूप से) स्वरूप में स्थिर होने से। क्योंकि अन्य भाव का भेदज्ञान तो हुआ (और) अन्य भाव से भिन्न भगवान में स्थिर होने से, अन्तर में आत्मा के आनन्द में स्थिर होने से। **निःशङ्क स्थिर होने में समर्थ होने से...** क्या काम (हुआ)? राग से अपना आत्मा

भिन्न देखा तो अपने में स्थिर होने का सामर्थ्य प्रगट हुआ। राग से –विकल्प से अपने को भिन्न जाना, तब आत्मा में स्थिर होने की ताकत प्रगट हुई।

जब तक राग को अपना मानते हैं, तब तक मिथ्यादृष्टि में अपने स्वरूप में स्थिर होने की शक्ति–सामर्थ्य प्रगट होती नहीं। आहा...हा...! मार्ग यह है! बाकी सब व्यवहार की अनेक बातें आये। निःशङ्क स्थिर होने से (अर्थात्), राग से भिन्न भगवान देखा तो निःशङ्क आत्मा में स्थिर होने से। शङ्का नहीं है कि यह राग भी कुछ सहायता करेगा। राग–विकल्प आता है, वह मदद करेगा – ऐसी शङ्का छूट गयी। निःशङ्क स्थिर होने से!

अपने स्वरूप में – ज्ञायक भगवान चिदानन्द में निःशङ्क स्थिर होने में समर्थ होने से, **आत्मा का आचरण उदय होता हुआ...** यह आत्मा का आचरण (उदय) हुआ, अर्थात् चारित्र हुआ। आहा...हा...! यह आत्मा का आचरण! लोग सदाचरण कहते हैं, वह लौकिक नीति का सदाचरण है। यह निश्चयसदाचरण है। सदाचरण, अर्थात् सत् आचरण। सत्य आत्मा – सत्चिदानन्द प्रभु! उसको राग से भिन्न करने से अन्दर में स्थिर होने की ताकत प्रगट होती है। आहा...हा...! ऐसी बात है! भभूतमलजी! सूक्ष्म बात है, भाई!

ऐसा प्रगट होने से (इस प्रकार) **आत्मा का आचरण उदय होता हुआ, आत्मा को साधता है।** वह आत्मा को साधता है। बाहर की क्रियाकाण्ड से आत्मा का कोई साधन होता है – ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

**ऐसे साध्य आत्मा की,...** साध्य, अर्थात् मुक्तिदशा! मोक्ष – साध्य! **ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की इस प्रकार उपपत्ति है।** इस प्रकार से उसकी उत्पत्ति है। मोक्ष की दशा की इस प्रकार से उत्पत्ति है; दूसरे प्रकार से मोक्ष की उत्पत्ति है नहीं। आहा...हा...! राग से भिन्न होकर, आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है – ऐसा ज्ञान होकर प्रतीति हुई कि इस आत्मा में आचरण करने से ही मैं कर्म से छूटूँगा। फिर आत्मा का अनुचरण करना, आत्मा का आचरण करना – आत्म-आचरण! राग–दया, दान आदि आत्मा का आचरण नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात है! **सिद्धि की इस प्रकार उपपत्ति है।** मोक्ष की पर्याय की उत्पत्ति इस विधि से होती है; दूसरी विधि है नहीं – यह अनेकान्त है। दूसरी विधि से भी हो और आत्मा की विधि से भी हो, उसको अनेकान्त कहते हैं – ऐसा नहीं; वह तो फूदड़ीवाद है।

अनेकान्त तो यह कहता है कि आत्मा का सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र(से) अनुकरण करने से – आत्मा का आचरण करने से (मोक्ष की पर्याय की उत्पत्ति होती है; अन्य विधि से नहीं)। सदाचरण यह है। सत् ऐसा आत्मा। सत्, अर्थात् त्रिकाल प्रभु! उसका आचरण करने से मुक्ति की उत्पत्ति होती है; अन्यथा उत्पत्ति होती नहीं। आहा...हा...! अब यह मुद्दे की बात आयी है; इसलिए थोड़ी उतावली से ले लिया। विशेष (बात) इसमें है।

**श्रोता :** आज हिन्दी में और कल गुजराती में!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** देखो, अब क्या होता है! पहले यह कहा कि आत्मा की सिद्धि की उत्पत्ति इस विधि से होती है। ऐसा न होने पर दूसरा आचरण करने से (अर्थात्), राग – दया, पूजा और भक्ति आदि का आचरण करने से मुक्ति होती है – ऐसा है नहीं। बीच में आता है – राग आदि आता है परन्तु उसका भेद करने से आत्मा का आचरण होता है। उसके साथ अभेदता रखकर, आत्मा का आचरण होता है और उसको साथ में रखकर मुक्ति की प्राप्ति होती है – ऐसा है नहीं, आहा...हा...! समझ में आया?

**परन्तु...** (अर्थात्), ऐसी बात है तो भी, आहा...! भगवान तो अन्दर विराजते हैं, उसका ज्ञान करने से और प्रतीति करने से और प्रतीति में भी इस आत्मा का आचरण करने से मुक्ति होती है – ऐसी प्रतीति आती है; फिर आत्मा का आचरण करना। दया, दान, व्रत आदि व्यवहार आचरण है, वह मुक्ति का कारण नहीं; वह बन्ध का कारण है। आहा...हा...! भजन, स्तुति आदि सब राग का कारण है। आहा....! समझ में आया? भगवान का भजन, भक्ति और भगवान का गुणगान करना, यह सब विकल्प हैं; उससे भेद करना, यह आत्मा का आचरण है। ये साथ में रखकर आत्मा का आचरण है – ऐसा है नहीं। आहा...हा...! अब यह बात थोड़ी समझने की सूक्ष्म आती है, सुनो!

ऐसा होने पर भी, ऐसा कहा न? **परन्तु...** ऐसा है न? आत्मा का सम्यग्दर्शन, ज्ञानसहित आत्मा का आचरण हो तो मुक्ति की उत्पत्ति होती है – ऐसा है, **परन्तु...** ऐसा क्यों नहीं हुआ? अनादि काल से ऐसा क्यों नहीं हुआ? यह **'परन्तु'** कहकर कहते हैं। समझ में आया?

**ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा...** आ...हा...हा...! ऐसा अनुभूति – आनन्द की अनुभूति(स्वरूप)! है? **ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान....** देखो! 'भगवान' (कहकर) बुलाया!! आहा...हा..! आत्मा को 'भगवान' कहकर बुलाया! (इसी ग्रन्थ की) 72 गाथा में भी 'भगवान' कहा है, बहुत जगह 'भगवान' कहा है! **ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा, आबालगोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी,...** आहा...हा...! अब खूबी थोड़ी यहाँ है!

ऐसा आत्मा, सब प्राणी को अपनी ज्ञानपर्याय में ऐसा आत्मा अनुभव में आता है। ध्यान रखना थोड़ा! **ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा...** है? **आबालगोपाल...** आबाल, अर्थात्, बालक से लेकर वृद्ध.... बालक से लेकर वृद्ध; सब आत्मा को उसकी पर्याय में यह आत्मा अनुभव में आता है! क्या कहा? अज्ञानी को भी उसकी ज्ञान की पर्याय में, पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से, (आत्मा अनुभव में आता है)। है ज्ञान की पर्याय! भले अज्ञानी की है, (यहाँ तो) सबकी बात है। बालक से लेकर वृद्ध – सब जीव को ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा (अनुभव में आ रहा है)। **सबके अनुभव में सदा... 'सबके'** और **'सदा'** दो शब्द पड़े हैं। क्या कहा? आहा...हा...! ऐसा भगवान आत्मा आनन्द की अनुभूतिस्वरूप प्रभु, सबको – सब प्राणी को – सब आत्मा को सदा... आहा...हा...! है?

**सबके... अनुभव में... सदा... स्वयं ही...** 'स्वयं ही' अर्थात्, यह आत्मा जो अनुभूतिस्वरूप है – ऐसा आत्मा... सब प्राणी को... पर्याय में... अनुभव में आता है। आहा...हा...! क्या कहा? यह क्या कहा? रायचन्दभाई! झवेरचन्दभाई! सब प्राणी को ऐसा अनुभव आता है – ऐसा कहते हैं! अज्ञानी को भी उसकी ज्ञान की पर्याय में, पर्याय जो अवस्था है, उसमें स्व-पर प्रकाशक (ज्ञान की पर्याय में स्व-पर प्रकाशक) शक्ति होने से पर्याय, पर को तो जानती है परन्तु अज्ञानी की पर्याय भी (स्व को जानती है)। सबको (कहा इसमें) कोई बाकी नहीं (रहा), उसमें तो अभव्य भी आ गया! आहा...हा...! अभव्य मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय अथवा बालक से वृद्ध, सबको अपनी पर्याय में इस भगवान का अनुभव होता है। **सबको... सदा... स्वयं** – तीन शब्द पड़े हैं। आहा...हा...!

यह मुद्दे की बात आयी! क्योंकि आत्मा की पर्याय का ऐसा स्वभाव है (अर्थात्), स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है।

ज्ञान की पर्याय में – अज्ञानी की पर्याय में भी, सब जीव को सदा... सदा (कहा)! उसकी ज्ञान की पर्याय सदा रहती है। सब जीव को ज्ञान की पर्याय सदा रहती है। इस पर्याय में समस्त जीव को सदा स्वयं आत्मा (अर्थात्), अपनी चीज जो है, वह ज्ञान की पर्याय में अनुभव में आती है। झवेरचन्दभाई! क्या कहा?

**श्रोता :** अनुभूति शब्द, अर्थात् द्रव्य या पर्याय?

**समाधान :** पर्याय में अनुभव में आता है किन्तु उसकी दृष्टि वहाँ नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! पहला पैराग्राफ जल्दी लिया, उसका कारण यह था कि यह दूसरा (पैराग्राफ) एकदम समझ में आये।

**श्रोता :** अनुभूति का अर्थ यहाँ पर्याय लेना या द्रव्य लेना?

**समाधान :** पर्याय... पर्याय में द्रव्य का अनुभव है। पर्याय में द्रव्य का अनुभव है! क्योंकि ज्ञान की पर्याय है, तो ज्ञान की पर्याय का स्व–पर प्रकाशक स्वभाव है; इस कारण से सब जीव को पर्याय में द्रव्य का अनुभव है।

**श्रोता :** अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा...!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पूरा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा, पर्याय में है!

**श्रोता :** अनुभूति त्रिकाल या वर्तमान?

**समाधान :** त्रिकाल! त्रिकाल जो है, वह उसकी पर्याय में (अनुभव में) आता है! आहा...हा...! अनुभूतिस्वरूप भगवान कहा न? **'अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा'** ऐसे कहा न? (अर्थात्), अनुभव में आनेवाला भगवान आत्मा! आहा...हा...! आज सूक्ष्म बात है, भाई! यह पद एकदम ले लिया, आज हिन्दी में पूरा होनेवाला है न? आहा...हा...!

चैतन्य भगवान! अनुभूतिस्वरूप भगवान यहाँ तो (कहा है)। अनुभूति, भगवान को कहते हैं। परन्तु यह अनुभूतिस्वरूप भगवान, पर्याय में जानने में आता है। है?

**आबालगोपाल सबके अनुभव में सदा...** अनुभूति(स्वरूप) अनुभव में सदा **स्वयं ही...** 'ही' शब्द रखा है। अपनी पर्याय में अपना आत्मा ही जानने में आता है। आ...हा...हा...! धीरे से समझना! बापू! यह तो भगवान के घर की बात है! त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमात्मा की यह दिव्यध्वनि है! दिव्यध्वनि में ऐसा आया। 'ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।' भव्य प्राणी होता है, वह संशय का छेद कर देता है। कैसे? आहा...हा...! सब प्राणी को पर्याय में अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा, अनुभव में सदा (आता है)। यहाँ तो पर्याय में अनुभव में आता है (– ऐसा कहा है)! आ...हा...हा...! क्या कहा, समझ में आया?

सब प्राणी को – अज्ञानी को भी... आ...हा...हा...! कसाई जीव को भी, अभव्य जीव को भी... आ...हा...हा...! अनन्त संसारी आत्मा को भी... आहा...हा...! पर्याय की ताकत इतनी है कि ज्ञान की पर्याय में अनुभूतिस्वरूप भगवान **सदा... सर्वदा... सर्व को... स्वयं...** अनुभव में आता है। आहा...हा...! धन्नालालजी! गाथा आपने लिखी है न! हमारे झवेरचन्दभाई ने लिखी है न...! पहले ये थे न....वाले थे। खीमजीभाई! आहा...हा...! शान्ति से सुनने जैसी बात है, बापू!

भगवान आत्मा... अनुभूतिस्वरूप प्रभु अन्दर है, अनुभव में आने योग्य (है)। सदा सर्व जीव को स्वयं – जो आत्मा स्वयं है, वही पर्याय में अनुभव में आता है। आ...हा...हा...! **'स्वयं ही'** ऐसे कहा है। अकेला **'स्वयं'** शब्द नहीं लिया है। स्वयं ही– अकेला आत्मा ही पर्याय में जानने में आता है! आहा...हा...! **आने पर भी...** अब लेना है। पर्याय में आत्मा का अनुभव होने पर भी... आहा...हा...! उसकी नजर वहाँ गयी नहीं है, इसकी नजर वहाँ गयी नहीं है! नजर, पर्याय में – राग में फिरती है। समझ में आया? आहा...हा...! 17-18 गाथा अलौकिक है!! आहा...!

लोग व्यापार करते हैं न? तब ऐसा कहते हैं कि रुपये में कितनी कमाई हुई? सत्रह आने, अठारह आने, सवाया या डेढ़ गुना? ऐसा कहते हैं न? भगवानजीभाई! हमारे यहाँ दुकान थी, वहाँ भी चलता था, बारह महीने में रुपये में अठारह आने पैदा हुए... बारह महीने में व्यापार में अठारह आने (पैदा) हुए। हमारे यहाँ भी ऐसा चलता था। यहाँ तो कुछ ज्यादा

ही चलता है! यह तो वतन की बात है न! 'पालेज' तो गुजरात का गाँव है न! आहा...हा...!

**श्रोता :** यहाँ तो गाथा 31 और 32 डबल है!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** क्या आता है देखो! अभी तो चार दिन बाकी है न! आहा...हा...! 32 वीं गाथा नहीं ली है, 31 और 38 (गाथा) ली है।

यहाँ कहते हैं प्रभु! शान्ति से सुनने जैसा है, प्रभु! यह तो अलौकिक बात है! अन्यत्र कहीं सुनने मिले नहीं – ऐसी बात है! आहा...हा...! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव, मुनियों को समझाते थे, वह मुनि अपनी वाणी से जगत को बताते हैं! सुन तो सही, प्रभु! तेरी पर्याय में इतनी ताकत है! तेरी वर्तमान ज्ञान की पर्याय भले अल्प है तो भी हम कहते हैं कि इतनी ताकत है कि उस पर्याय में द्रव्य ही जानने में आता है! आ...हा...हा...हा...! भगवानजीभाई! पर्याय में भगवान जानने में आता है! पुत्र–पुत्री, पैसा और राग (जानने में नहीं आता) – ऐसा कहते हैं! आहा...हा...!

ऐसा होने पर भी, ऐसा कहा न? **अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी...** ऐसे लिया न? आ...हा...हा...! उसकी दृष्टि उस ओर नहीं है। अनादि से दृष्टि, पर्याय ऊपर और राग ऊपर है। पर्याय में सारा आत्मा जानने की ताकत होने पर भी, पर्याय में स्वयं अनुभव में आता है – ऐसा होने पर भी, उसका लक्ष्य स्वभाव ऊपर नहीं जाने से, उसका लक्ष्य एक समय की अवस्था अथवा राग पर जाने से, अनुभव में आने पर भी, उसको अनुभव में आता नहीं। समझ में आया?

फिर से – आहा...! जोरदार बात है, प्रभु! कान में सुनने मिले, वह भी भाग्यशाली हो उसे मिले, ऐसा है। ऐसी यह बात है, यह कोई साधारण ऐसे–वैसे की बात नहीं है। यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमात्मा की दिव्यध्वनि में बात आयी, (उसके) सन्तों ने आगम रचे और दुनिया को समझाया। आहा...हा...! समझ में आया?

इस भगवान आत्मा की पर्याय में, अर्थात् ज्ञान की दशा में, ज्ञान की दशा का स्वभाव ऐसा है कि सारा अनुभूतिस्वरूप भगवान, उसकी पर्याय में अनुभव में आता है। ऐसा आया न? देखो! 'अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा' यह तो पहले आत्मा को कहा। बाद में 'आबालगोपाल' (कहा)। आबालगोपाल, अर्थात् बालक से वृद्ध – छोटे से बड़े

– बालक, स्त्री, कन्या, वृद्ध – सब भगवान आत्मा हैं ! अन्दर में तो भगवान पूर्णानन्द है। सबको... आहा...हा... ! 'सबके' ऐसा है न ? 'आबालगोपाल' का अर्थ समझे ? बालक से लेकर वृद्ध–समस्त जीव को ! ओ...हो...हो... ! **सबके अनुभव में सदा...** अनुभव में... सबको और सदा... आहा...हा... ! चन्दुभाई ! यहाँ वजन दिया है।

सबको... सदा... स्वयं आत्मा... पर्याय में स्वयं आत्मा ही जानने में आता है – ऐसा कहते हैं ! आहा...हा... ! ऐसा अभी तो सुना भी न हो ! आहा...हा... ! भगवान ! भगवान, भगवान को कहते हैं ! ! आहा...हा... ! प्रभु ! तेरी चीज तो अनुभूति–भगवानस्वरूप है न ! आहा...हा... ! लिखा है न अन्दर ? **अनुभूतिस्वरूप भगवान** कहा है ! किसे ? प्रत्येक को (कहा है)। प्रत्येक आत्मा अन्तर अनुभवस्वरूप भगवान आत्मा (है) ! आ...हा...हा... ! सब भगवान आत्मा (हैं) ! सब जीव को सदा स्वयं अनुभूति (स्वरूप) भगवान आत्मा, पर्याय में अनुभव में आता है। आहा...हा... ! लक्ष्मीचन्दभाई ! ऐसी बातें पैसे में मिले – ऐसा नहीं है।

**श्रोता :** नाईरोबी के अहोभाग्य कि आप की वाणी सुनने मिली !

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आ...हा...हा... ! बापू ! वीतराग त्रिलोक के नाथ सर्वज्ञदेव विराजते हैं, उनके पास से आयी हुई बात है। आहा...हा... ! भगवान, भगवान को कहते हैं ! भगवान, भगवान को कहते हैं – हे भगवान आत्मा ! आ...हा...हा... ! प्रभु ! तू तो अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा है न ! आ...हा...हा... ! तू राग और पुण्यरूप है ही नहीं न, नाथ ! आहा... ! तो देह की क्रिया, वाणी की क्रिया, विषय का संग, स्त्री का संग, शरीर का संग – यह चीज तो बहुत दूर रह गयी ! वह तो तेरे में है ही नहीं। आहा...हा... ! तेरे में रागादि होने पर भी, राग से भिन्न भगवान, राग का ज्ञान करनेवाली पर्याय, राग को जानती है परन्तु पर्याय में अनुभूतिस्वरूप भगवान जानने में आता है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

सब जीव को सारा भगवान अनुभूति प्रभु... सदा... उसकी पर्याय में, अर्थात् वर्तमान दशा में स्वयं अनुभव में आता है। आ...हा...हा... ! ऐसा होने पर भी, (अर्थात्), वस्तु तो ऐसी है, आहा...हा... ! फिर भी... आहा...हा... ! है न ? **अनादि बंध के वश,...** अनादि से राग के वश हो गया है। ऐसे देखे तो (अन्दर में देखे तो) भगवान अनुभव में आता है, परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं करके; राग, पुण्य, दया–दान, काम–क्रोध के अनादि बन्ध के

वश पड़ा हुआ; अबन्धस्वरूप अनुभव में आने पर भी, उस पर दृष्टि नहीं (है) तो 'मैं राग हूँ' – ऐसा मानकर मिथ्यादृष्टि भटकते हैं। आहा...हा...! धीरे से समझना! थोड़ा कठिन पड़े तो रात को पूछना! आहा...हा...! एक पंक्ति में तो कितना भरा है!! आहा...हा...!

**श्रोता :** बिल्कुल प्रयोग की गाथा है, गुरुदेव!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** प्रयोग करना! यही करना है! करना हो तो यही करना है; इसके बिना सब 'एक के बिना शून्य' है। आहा...हा...! बाहर की सब प्रवृत्ति होती हो... हो उसके कारण से, तेरे में तो उस समय में राग होता है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि राग से भिन्न करके, आत्मा का अनुभव करना। ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान, राग के काल में भी, पर्याय में अनुभव में आता है, क्योंकि पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है। ज्ञान की पर्याय का – अवस्था का वर्तमान में स्वभाव ऐसा है कि त्रिकाली को अनुभव में लेती है – ऐसा स्वभाव ही है। आहा...हा...! समझ में आया? थोड़ा सूक्ष्म पड़े... (किन्तु) समझने की बात यह है। मुद्दे की रकम तो यह है।

कोई आदमी कहे न कि 'ब्याज तो बहुत खाया, लेकिन मुद्दे की रकम तो लाओ!' तो कहे, 'रकम है नहीं!' अरे...! तब तो क्या हुआ? पहले तो बारह आना में (पैसे ब्याज पर) देते थे। हमारे वहाँ भी सेठ लोग थे, वे राजा को दो–दो लाख, आठ आना के (ब्याज पर) देते थे। इन दिनों में बढ़ गया। मुझे तो दूसरी बात कहनी है। बीस साल तक ब्याज खाया, बाद में कहा कि 'मुद्दे की रकम लाओ!' सामनेवाला कहे 'मुद्दे की रकम है नहीं!' अरे...रे...! अकेला ब्याज खाकर क्या हुआ, मुद्दे की रकम तो समाप्त हो गयी। आहा...हा...! ऐसे अनादि से दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में रुकने से, मुद्दे की रकम पड़ी रही। ब्याज खाया, रकम पड़ी रही! आहा...हा...! ऐ ई...! ....भाई! एक पंक्ति में तो बहुत भरा है।

अनुभूतिस्वरूप आत्मा, आबालगोपाल सब जीव को (अनुभव में आ रहा है) – ऐसा परमात्मा कहते हैं! सबको... अनुभव में... सदा... स्वयं ही, (ऐसे) शब्द पड़े हैं। अकेला 'स्वयं' शब्द नहीं पड़ा है। स्वयं ही, उसकी ज्ञान की पर्याय में आत्मा ही आता है। आहा...हा...! सब आत्मा को, पर्याय में स्वयं त्रिकाली अनुभूति(स्वरूप) भगवान ही

जानने में आता है, परन्तु लक्ष्य उस तरफ नहीं। अनुभव में आने पर भी, लक्ष्य उस तरफ नहीं (है), आ...हा...हा...! है?

**अनादि बंध के वश...** (अर्थात्), अनादि राग और पुण्य के वश से उसको देखने में रुक गया, उसको करने में रुक गया; भगवान अनुभूतिस्वरूप अनुभव में आने पर भी, लक्ष्य उस तरफ नहीं होने से, राग का लक्ष्य होने से, राग का अनुभव होने से, जानने की चीज जानने में नहीं आयी। आहा...हा...! जिसकी पर्याय है... जिसकी पर्याय है, उसमें पर्यायवान जानने में आता है (किन्तु) उस पर्याय ने उसको जानने में नहीं लिया। जानने में आता है, फिर भी जानने में नहीं लिया और जो जिसमें नहीं – ऐसे राग को जानने में रुक गया। आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म है, प्रभु!

आहा...! 'भगवान' (कहकर) तो बुलाते हैं! आहा...हा...! मुनिवरों, 'भगवान आत्माओं' – ऐसा कहते हैं! तेरे(में) कपड़े, शरीर (इत्यादि) नहीं; तेरे में पुण्य-पाप राग (होता) है, वह भी तू नहीं। तुम तो भगवान आत्मा हो न नाथ! अनुभूति में आने योग्य है न! अरे...! पर्याय में अनुभव तो होता है न! आ...हा...हा...!

**श्रोता :** जमी....!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** जमी...? पर्याय में अनुभूति होती है न! आहा...हा...! अनुभूतिस्वरूप भगवान तो है ही! अनुभूतिस्वरूप भगवान तो है ही, परन्तु तेरी पर्याय में अनुभूतिस्वरूप भगवान (अनुभव में) आने पर भी, तेरा लक्ष्य उस तरफ होता नहीं; तेरा लक्ष्य राग और बन्ध के वश हो जाता है। अबन्धस्वरूप अनुभव में आता है, उस तरफ दृष्टि नहीं करके, बन्धस्वरूप राग में तेरा लक्ष्य है तो अबन्धस्वरूप अनुभव में आता है, उसका अनादर कर देते हैं, आ...हा...हा...! गजब बात है, प्रभु!

**श्रोता :** एक पंक्ति में तो कमाल हो गया!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कमाल है...! कमाल है...!! इसलिए एक पंक्ति उतावली से ली नहीं। सेठ ने कहा था न धनकुमार सेठ ने कि 'हिन्दी में लो!' तो दो घण्टा (हिन्दी में चला)। हिन्दी में यह सार आया! भाई! सार में सार आया है!! आहा...हा...!

आहा...हा...! पार नहीं तेरे (गुणों का)! अनन्त... अनन्त... गुण का नाथ, जिसमें

अनन्त (गुण की) संख्या पड़ी है – ऐसा अनुभूति (स्वरूप) भगवान द्रव्य.... आहा...हा...! सदा... सबको (अनुभव में आता है)। ऐसी बड़ी चीज, अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा, सदा सर्व को स्वयं ही अनुभव में आता है। पर्याय में, स्वयं भगवान है, वही अनुभव में आता है; सबको आता है! आहा...हा...! ऐसा होने पर भी, **अनादि बन्ध के वश पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व के निश्चय से...** आ...हा...हा...! उसको विकल्प–राग उठता है, उसके साथ एकत्वबुद्धि हो गयी है।

ज्ञान में सारी चीज अनुभव में आने पर भी, राग में एकत्वबुद्धि हो गयी है तो अनुभव में आता है, (उसके साथ) अनादि से एकत्वबुद्धि छूट गयी है, आहा...हा...! ऐसा कैसा उपदेश!? परन्तु इसमें हमें क्या करना? ये करोड़ों रुपये का बड़ा धन्धा करना (या ये करना)? दस–दस, बीस–बीस लाख के कपड़े और पचास लाख के कपड़े (लेना)! सारा दिन 'धन्धाखोर' (धन्धा करता रहता है)! 'धन्धाखोर'!

भगवान आत्मा...! कहते हैं कि तेरी पर्याय में – हथेली में अनुभव में आता है – ऐसा कहते हैं! हथेली में तो ऐसे नजर करनी पड़े... आहा...हा...! किन्तु (यहाँ तो) तेरी पर्याय में सारा आत्मा अनुभव में आता है!! भगवान सारा अनुभव में आता है परन्तु तेरा लक्ष्य उस पर नहीं। आहा...हा...! **अनादि बन्ध के वश पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ...** देखो! यहाँ (मूढ़) शब्द कहा! आहा...! एक ओर 'भगवान' कहा, एक ओर 'मूढ़' कहा! आहा...हा...! अन्तर में भगवान को नहीं देखते हैं और राग की दशा में एकत्वबुद्धि है, वे मूढ़ प्राणी हैं।

जानने की चीज जानने में आती है, उसकी तरफ दृष्टि नहीं और जो कुछ उसकी चीज नहीं, उसके साथ एकत्वबुद्धि होने से ज्ञान वहाँ रुक गया है। तेरा ज्ञान वहाँ राग में रुक गया है; इसलिए तेरे ज्ञान में भगवान जानने में आता है, फिर भी राग में रुकने से, भगवान तेरे ख्याल में नहीं आता। आहा...हा...! ...लालजी! बात ऐसी है, भगवान! कभी सुनी न हो ऐसी! बाहर में ही बाहर में... हो... हा... हो... हा...! 'धमाधम चली, ज्ञानमार्ग रह्यो दूर' 'धर्म के नाम से धमाधम चली और यह रहा दूर'! आहा...हा...! मूढ़! एक ओर 'भगवान' कहा और एक ओर 'मूढ़' कहा!

जिस पर्याय में भगवान दिखने में आता है – ऐसा आत्मा तुम नहीं जानते हो और राग के साथ एकत्वबुद्धि हो गयी। बस! एक राग किया तो मानो ओ...हो...हो...! हमने तो बहुत किया! (ऐसा मानता है)। अभी तो यहाँ शुभराग की बात है; अशुभराग के साथ तो एकत्वबुद्धि है, वह तो तीव्र है, परन्तु शुभराग के साथ एकत्वबुद्धि है – ऐसे मूढ़ को, **अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ' – ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता....** अन्तर्दृष्टि करता नहीं और दिखने में आता है, फिर भी (वहाँ) दृष्टि नहीं (है) तो उसको आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता। राग की एकताबुद्धि से अज्ञान उत्पन्न होता है। आहा...हा...!

ऐसे (आत्मज्ञान की) उत्पत्ति नहीं होने से, **उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान, गधे के सींग के श्रद्धान समान है...** अज्ञान के कारण, जैसे गधे के सींग नहीं है तो ऐसी श्रद्धा (नहीं हो सकती), (वैसे) आत्मा जानने में आया नहीं तो श्रद्धा कैसी? आहा...हा...! **गधे के सींग के श्रद्धान समान है; इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता...** ऐसे जीव को समकित नहीं होता। आहा...हा...! **तब समस्त अन्य भावों के भेद से आत्मा में निःशङ्क स्थिर होने की असमर्थता के कारण, आत्मा का आचरण उदित न होने से...** उसको आत्मा की श्रद्धा नहीं होती, आत्मा का ज्ञान नहीं होता (और) आत्मा का आचरण नहीं होता। **इस प्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है।** साध्य जो आत्मा है, उसकी सिद्धि और उत्पत्ति नहीं (होती)। संसार की उत्पत्ति है, (साध्य की) सिद्धि नहीं।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## प्रवचन–8, गाथा–17-18

'समयसार' 17, 18 (गाथा) का अन्तिम पेराग्राफ। हिन्दी में चला था न? (इसलिए) बहनें–लड़कियाँ थोड़ा कम समझे हों तो फिर से स्पष्ट (करने के लिए गुजराती में लेते हैं)।

**परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा...** आ...हा...हा...! कैसा है प्रभु अन्दर? **अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा!** (है)। (अर्थात्), अनुभव हो सकता है – ऐसा यह भगवान आत्मा है। कल हिन्दी में चला था। यह आत्मा अन्दर ऐसा है। (ऐसा) सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि में आया था (और) सन्तों ने उसकी–सिद्धान्त की रचना की है, यह भगवान आत्मा। **अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा –** ऐसा कहकर तो बुलाते हैं। आहा...हा...! हरेक आत्मा को इस प्रकार ही कहा (है)। प्रभु! तुम तो अनुभूतिस्वरूप भगवान हो न। आहा...हा...! **आबालगोपाल** (अर्थात्), बालक से लेकर वृद्ध को **सब को सदाकाल...** स्वयं अर्थात्, **स्वयं ही अनुभव में आने पर भी...** आहा...हा...! गाथा का अर्थ बहुत ऊँचा है। ऐसी बात दूसरी जगह इतने में नहीं।

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनेश्वर की दिव्यध्वनि में आया था। 'कुन्दकुन्दाचार्य' वहाँ (महाविदेह) गये थे, आठ दिन (वहाँ) रहे थे। उसमें से अन्तर का माल जो मक्खन, वह भगवान के पास सुना और कितनी ही चर्चा श्रुतकेवली–मुनियों के साथ की थी। भगवान की दिव्यध्वनि तो समयानुसार होती है; आगे–पीछे नहीं होती, तत्पश्चात् कोई शङ्का–समाधान हो, वह श्रुतकेवलियों के पास समाधान हुआ। (वहाँ से आकर) फिर यह रचना की। आहा...!

**आबालगोपाल...** आबाल, अर्थात् बालक से लेकर और वृद्ध को, **सभी को सदा काल,...** सबको सदा काल **स्वयं ही अनुभव में आने पर भी...** आहा...हा...! क्या कहते हैं? ज्ञान की पर्याय में (अर्थात्), वह वस्तु त्रिकाल है, (उसका) ज्ञानगुण, उसकी वर्तमान अवस्था में, जो यह ज्ञात होता है, वह ज्ञात नहीं होता; वास्तव में तो अपनी पर्याय ज्ञात होती है। यहाँ तो इससे विशेष कहते हैं। यह (ऊपर कहा, वह) तो व्यवहार है। यह सब ज्ञात होता है, जिसकी भूमिका में ज्ञात होता है, जिसकी सत्ता में, जिसके

अस्तित्व में 'यह है' – ऐसा ज्ञात होता है; **वह ज्ञान की पर्याय है।** यह वस्तु उसमें नहीं है। आहा...हा...! जिसके प्रकाश में–सत्ता में, पर्याय में, हों! द्रव्य–गुण की बात नहीं। इस पर्याय में यह सब जो दिखता है, वह यह नहीं दिखता (परन्तु) अपनी पर्याय की सामर्थ्यता उसे जानने की योग्यतावाली है; इसलिए उस पर्याय को जानने से, पर को जानता है – ऐसा कहा जाता है। आहा...!

ऐसा होने पर भी, तदुपरान्त पर्याय में द्रव्य जानने में आता हुआ होने पर भी, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! पर्याय में यह जानने में आता है, (ऐसा) नहीं; वह तो पर्याय जानने में आती है क्योंकि उस चीज को तो ज्ञान की पर्याय छूती नहीं। जैसे, उस परवस्तु में ज्ञान की वर्तमान अवस्था तन्मय होकर नहीं रहती; वह तो भिन्न होकर रहती है; इसलिए उस पर्याय में यह जानने में आती है – ऐसा कहना, वह व्यवहार है परन्तु उस पर्याय में उससे सम्बन्धित जो अपनी शक्ति है, ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य (है), वह जानने में आती है। यह तो पर्याय तक बात रही।

अब, यहाँ विशेष कहते हैं। आहा...हा...! इस पर्याय में आबालगोपाल – सभी को सदा काल अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा (अनुभव में आ रहा है)। अब, द्रव्य का लिया, (वह पहले) पर्याय की बात की।

सूक्ष्म पड़े, बापू! यहाँ ऐसे परदेश में यह बात कहाँ से आवे! आहा...हा...! अनार्य देश। इसमें यहाँ अभी बाहर से कितने ही व्यक्ति आये। 300 (व्यक्ति) आये! आहा...हा...! यह बात तो अलौकिक है, प्रभु! भले तुमको ऐसा लगे कि यह क्या कहते हैं? **प्रभु! भगवान की वाणी अन्दर में से आती है, वह कहते हैं!!** आहा...हा...!

पर्याय में भी यह जानने में नहीं आता, किन्तु पर्याय जानने में आती है परन्तु तदुपरान्त यहाँ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु! तेरी पर्याय में ऐसी ताकत है कि अकेले पर, प्रकाशक(पने) जानते हो, इतनी ताकत नहीं। तेरी पर्याय में पर को प्रकाशित करता है, वह पर के कारण नहीं। स्वयं के कारण वह पर को प्रकाशित करती है, इतनी (ही) पर्याय की सामर्थ्य नहीं, परन्तु इस पर्याय की सामर्थ्य, द्रव्य को भी जानती है – ऐसी सामर्थ्य है। आ...हा...हा...! कल हिन्दी आया था न! यह बहनों–लड़कियों को समझ में नहीं आया

(हो) तो फिर से (लेते हैं), वह तो फिर से आये तो (भी) कोई नया तो आवे ही अन्दर। आहा...हा...!

प्रभु! प्रभु को कहते हैं। ऐसा कहा न? देखो! **अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा –** ऐसा कहा। आ...हा...हा...! अनुभव में (आने) योग्य, अनुभव होनेयोग्य ऐसा भगवान आत्मा! पर्याय में पर प्रकाशित होता है – ऐसा नहीं, क्योंकि पर्याय में पर्याय तन्मय है, पर्याय! पर्याय, पर्याय में तन्मय है, (इसलिए) वह उसे जानता है – ऐसा कहना बराबर है परन्तु पर को जानता है (ऐसा कहने पर) उसके साथ तन्मय नहीं। तन्मय, अर्थात् उसके सम्बन्ध का जुड़ाव नहीं; इसलिए पर को जानने के काल में भी, पर्याय स्वयं को ही जानती है। समझ में आया? आ...हा...हा...! उस पर्याय में तदुपरान्त (अर्थात्), पर प्रकाशक है, यह स्वतः स्वभाव है; तदुपरान्त स्व-प्रकाशक स्वभाव है। स्व–परप्रकाशक स्वभाव।

**स्व–पर प्रकाशक शक्ति हमारी,**
**तातैं वचन भेद भ्रम भारी।**
**ज्ञेयशक्ति दुविधा परगासी,**
**निजरूपा पर रूपा भासी॥46॥**

पर ये भी ज्ञान की पर्याय में.... सूक्ष्म पड़े तो, प्रभु! परन्तु एक बार सुन तो! ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। यह तो कुदरती ही आ पड़े हैं। यहाँ यह परदेश में–अनार्य देश में कहाँ (ऐसा सुनने को मिले)। आहा...हा...!

भगवान आत्मा! इसकी पर्याय की सामर्थ्य, पर को जानने की नहीं, (फिर भी) पर को–पर सम्बन्धी जानने की स्वयं की ताकत है, उसको यह जानता है। तदुपरान्त इस पर्याय में... यह तो पर प्रकाशक की स्वतः सामर्थ्य हुई। पर प्रकाशक की स्वतः सामर्थ्य पर्याय में हुई परन्तु इस पर्याय में स्वतः सामर्थ्य स्वद्रव्य को जानने की भी सामर्थ्य है। समझ में आया? आ...हा...हा...! यह भगवान आत्मा, आबाल–गोपाल.... यहाँ तो द्रव्य लिया न? पहली बात तो पर्याय की थी, यह बात तो आ गयी है परन्तु यहाँ तो अब द्रव्य लिया। जिस पर्याय की सामर्थ्य पर को जानती नहीं, परन्तु पर सम्बन्धी अपनी पर्याय में इतनी सामर्थ्य है, उसको यह जानता है। आ...हा...हा...! इस पर्याय में इतनी ताकत (है कि) पर प्रकाश की

(शक्ति), पर की अपेक्षा बिना–पर को जानने की ताकत, पर की अपेक्षा बिना स्वतः पर्याय में जानने की ताकत है। यह जो पर्याय में स्वतः अनुभूति(स्वरूप) भगवान आत्मा! आ...हा...हा...! है? **सभी को** (अर्थात्), सभी को **सदा काल स्वयं ही...** (अर्थात्), परमात्मा ही पर्याय में अनुभव में आता है। आहा...हा...! यह बात अलौकिक बात है।

एक भाई ने लिखा है न? एक क्षुल्लक थोड़ा सुनने आते थे। बुद्धि बहुत कम थी परन्तु प्रेम बहुत था। वह तो गुजर गये, बाद में उन्होंने थोड़ा ग्रहण किया था। 'पर से खस, स्व में बस, यह थोड़ा रच, तेरे लिए बस!' आहा...हा...! कैसे बैठे...? पर की ओर झुकाववाला अनादि (का) भाव, मानों पर को ही जानता हूँ! पर्याय में भी मानो पर को ही जानता हूँ। भगवान! बात तुझे कठोर लगेगी नाथ! किन्तु वस्तु का स्वरूप प्रभु ऐसा है। आहा...हा...! यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर के श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि, उसका सार यह 'समयसार' है। इसमें यह कहा था। आ...हा...हा...! अरे...! एक ही गाथा बस है न! लक्ष्मीचन्दभाई! कल की यह बात फिर से आयी है। यह गुजराती में आयी, (कल) हिन्दी में थी। बहनों–लड़कियों को समझ नहीं आया हो, (इसलिए) आज गुजराती में लिया। दोपहर में एक–दो बहनें अधिक आती हैं। सबेरे थोड़ा कामकाज होता है न, (इसलिए नहीं आती)!!

आहा...हा...! माताओं, बहनों–लड़कियों सभी भगवान हैं। अन्दर तो भगवानस्वरूप हैं। आ...हा...हा...! बहिन ने (वचनामृत में) कहा नहीं? हम तो सभी को चैतन्य सिद्धस्वरूप देखते हैं। इनके आत्मा को यह चाहे जो मानते हों, लेकिन हमें तो पर्यायबुद्धि चली गयी है; इसलिए इनको पर्यायबुद्धिवाला न देखकर, इनको चैतन्य सिद्ध भगवान आत्मा है, वैसे वे दिखायी देते हैं। आहा...हा...! वह भी पर्याय में पर का जानना होता है। परद्रव्य... शुद्ध चैतन्य भगवान को जानना (होता है), वह भी पर्याय में (होता है)। आहा...हा...!

पर्याय समझ में आती है? अवस्था! वस्तु जो त्रिकाल आत्मा है, (वह) अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु है। अनादि से है (और) अनन्त काल रहेगा। इस वस्तु की उत्पत्ति नहीं, वैसे ही विनाश नहीं; वह उसके स्वभाव की सामर्थ्य से खाली नहीं। उसके स्वभाव की सामर्थ्य से खाली नहीं – ऐसा जो भगवान आत्मा, शरीररूपी मन्दिर में भगवान विराजते

हैं। इसकी पर्याय में पर को जानने की अपेक्षा भी नहीं। पर्याय में स्वयं को जानता है, उसमें पर जानने में आ जाता है – ऐसा कहना व्यवहार है। आहा...हा...! अनुभव में सदाकाल स्वयं आता हुआ भी **अनादि बन्ध के वश...** क्या कहते हैं? है तो ऐसा परन्तु इसकी दृष्टि राग के सम्बन्ध में जुड़ान हुई है। राग के सम्बन्ध में जुड़ान है, अर्थात् राग का बन्ध है; भगवान अबन्धस्वरूप है। आहा...हा...! वस्तु है, वह अबन्धस्वरूप है। अनुभूति (स्वरूप) भगवान (आत्मा) कहा न? किन्तु पर्याय में राग के साथ सम्बन्ध कर (लिया है)। एक समय की पर्याय के साथ, राग के साथ सम्बन्ध (कर लिया है)। सम्बन्ध, यह बन्ध... इस सम्बन्ध के बन्ध के वश, आहा...हा...!

**अनादि बन्ध के वश, पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व के निश्चय से...** आहा...हा...! इस राग को जानने पर, इसकी एकत्वबुद्धि होती है; (इस कारण) इसको द्रव्यस्वभाव जानने में नहीं आता। इसकी पर्याय की सामर्थ्य–पर्याय की ताकत चैतन्य पूर्णानन्द को जानने की ताकत से ही सदा रही है, तथापि उस पर्याय की दृष्टि, द्रव्य के प्रति जाती नहीं और उस पर्याय की दृष्टि, पर्याय के प्रति और राग के प्रति होने से एकत्वबुद्धि (होती है)। आहा...हा...! (उस) एकपने में **'एकत्वपने के निश्चय से मूढ़...'** एक ओर 'भगवान' कहकर बुलाया, आहा...हा...! एक ओर मूढ़ कहकर बतलाया... बतलाया! **निश्चय से मूढ़ जो अज्ञानी, उसको 'यह अनुभूति है, वही मैं हूँ,...'** (अर्थात्), इस जानने में अन्दर अनुभूति-ज्ञान आता है, पर्याय में जानने में ज्ञान आता है, वही मैं हूँ – ऐसी बुद्धि (अर्थात्), **ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता...** आहा...हा...!

आत्मज्ञान, अर्थात् आत्मा (का ज्ञान)। आत्मज्ञान में पर्याय भी नहीं ली। यहाँ तो 'आत्मज्ञान' कहा। संयोग का तो ज्ञान नहीं, राग का तो नहीं, पर्याय का भी नहीं; आत्मज्ञान! द्रव्य जो भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ है, प्रभु! (उसका ज्ञान, वह आत्मज्ञान)। इसमें भेद और विवाद और झगड़ा कहाँ है, प्रभु! आहा...हा...हा...! परमात्मस्वभावरूप से विराजमान (है), प्रभु! किसके साथ तेरा विवाद और झगड़ा हो? नाथ! आहा...हा...!

कहते हैं कि राग के साथ एकत्व से मूढ़–अज्ञानी को 'यह अनुभूति है, वही मैं हूँ'

(अर्थात्), यह ज्ञान जानने में आता है, वही मैं हूँ – ऐसा न होने से – ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। आहा...हा...! जाननेवाला ज्ञान, वह मैं हूँ – ऐसा आत्मज्ञान (उदित नहीं होता)। आत्मा, अर्थात् द्रव्य; पर्याय में द्रव्य का ज्ञान (अर्थात्), आत्मज्ञान उदित नहीं होता। आहा...हा...! है? आ...हा...हा...! **और उसके अभाव से...** ज्ञान में जानने में आता (होने) पर भी, वह पर्याय को उसके सन्मुख नहीं करता; इस कारण जानने में आता हुआ भी, जानता नहीं... जानने में आता हुआ भी, जानता नहीं! आ...हा...हा...!

थोड़ा सूक्ष्म पड़ेगा, प्रभु! किन्तु यह बात कल आ गयी थी। दिमाग में ऐसा लग रहा था कि बहनें–लड़कियाँ कदाचित् कोई हिन्दी न समझती हों तो फिर से लूँ! इसमें तो फिर से लो तो भी भगवान ही भगवान की बात है!! आहा...हा...! भगवान अन्दर देह में बिराजमान है। कैसे जँचे प्रभु! आहा...हा...! एक उड़द की दाल एकरस न हुई हो... 'एकरस', अर्थात् (क्या होता है, यह पता है)? दाल चढ़कर ऐसी पानी में एकमेक न हुई हो तो ढ़ीचणी उठे – किसने ऐसा किया? ऐसी उड़द की दाल! मेल नहीं खाती। ऐसों को यह भगवान आत्मा को समझाना! जेठालालभाई! आहा...हा...!

भगवान! तू ऐसा है, हों! चाहे जिस प्रकार तू दूसरों को एकरूप भले माने परन्तु वे एकरूप नहीं होते। वह वस्तु त्रिकाली है, वह एकरूप नहीं होती, नाथ! आ...हा...हा...! तू भले एकरूप मान...। आहा...हा...! किसी के लड़के को अपने लड़केरूप तू मान, परन्तु वह (तेरा) नहीं होता। आहा...हा...! कुंवर गोद लेते हैं न? गोद... गोद...! बाद में (कहता है) 'हमारा बेटा' तो भी वह कोई वास्तव में इसका बेटा नहीं है। ऐसे तू चाहे जैसा मान प्रभु! परन्तु तेरा आत्मद्रव्य जो अन्दर है, उसको जानने की ताकतवाला ज्ञान है, उसका तो कभी अभाव नहीं होता। तेरी मान्यता में अन्तर पड़ता है। आहा...हा...!

**ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से अज्ञात का श्रद्धान...** जो चीज ही जानने में आयी नहीं (तो उसकी श्रद्धा किस प्रकार हो?) आहा...हा...! अब इसमें बाहर के झगड़े क्या हैं, प्रभु? व्यवहार के झगड़े की (बात को) छोड़कर, एक ओर। इस अन्तर तत्त्व को निहार न! अन्दर भगवान है। आहा...हा...! कहते हैं, **अज्ञात का श्रद्धान...** जो चीज ख्याल में ही (आयी) नहीं, उसका श्रद्धान किस प्रकार हो? गधे के

सींग नहीं, तो (वह चीज) ख्याल में ही नहीं आयी, उसकी प्रतीति किस प्रकार (हो)? जो चीज ज्ञान में – ख्याल में आयी नहीं, उसकी प्रतीति किस प्रकार (हो)? ऐसे ही ज्ञान में आत्मा ख्याल में नहीं आया, उसकी प्रतीति किस प्रकार करेगा? हम आत्मा को मानते हैं – ऐसा भले बोले, किन्तु उसके ज्ञान में आत्मा जानने में नहीं आया; इस कारण उसकी प्रतीति और यथार्थ विश्वास नहीं आया। आ...हा...हा...! यह तो सभी को–जवानों को समझ में आये ऐसा है। युवा है कहाँ, प्रभु! यह युवा भी नहीं, वृद्ध भी नहीं, बालक भी नहीं, स्त्री भी नहीं, पुरुष भी नहीं; वह पर्याय जितना भी नहीं। आ...हा...हा...हा...! महा–सच्चिदानन्द प्रभु! भगवत् मूर्ति अन्दर आनन्द का नाथ! उसको सुना नहीं, प्रभु! तूने... उसने उसकी तरफ लक्ष्य किया नहीं। प्रभु! आहा...हा...!

इस कारण उसके जानने के अभाव से, **अज्ञात का श्रद्धान, गधे के सींग के श्रद्धान के समान होने से...** आहा...हा...! जिस ज्ञान की पर्याय में जानने में आया, फिर भी जानता नहीं, उसे जानता नहीं। उसे जाने बिना की श्रद्धा, गधे के सींग जैसी है। गधे के सींग होते नहीं तो जानने में आते नहीं तो श्रद्धा किसकी? ऐसे भगवान आत्मा, ज्ञान की पर्याय में जानने में आता नहीं तो इसकी श्रद्धा किसकी? आहा...हा...!

कहो, समझ में आया? ऐसी बातें हैं। ऐसा उपदेश! प्रभु! ऐसा सुनने का योग मिला है।

**मुमुक्षु :** लाभ की बात है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आहा...हा...हा...! हमारे तो वहाँ हमेशा चलता है परन्तु यहाँ तो अब आ पड़े हैं! **परन्तु यह बात अन्दर से आयी है!!** आहा...हा...! आहा...हा...! तुम्हारा चार (लोगों) का आग्रह था न! हमारे रायचन्दभाई, एक.... भाई। यहाँ बैठे हैं। दो और दो तुम्हारे लक्ष्मीचन्दभाई और जेठाभाई। चार...

**मुमुक्षु :** नैरोबी में आपका भाव बहुत था।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आहा...हा...हा...! लोगों को उत्साह है, प्रेम है, प्रभु! तेरे घर की बात है; यह कोई पर की नहीं। तीन लोक के नाथ की कही हुई बात है। **प्रभु! क्या कहें? तीन लोक के नाथ को हमने साक्षात् सुना है! यह सुनी हुई अन्दर की बात है, वह बात आती है।** आहा...हा...! आ...हा...हा...! पक्ष के व्यामोह के कारण न जँचे, परन्तु प्रभु! पक्ष का व्यामोह छोड़ दे।

पर्याय में ऐसा भगवान जानने में आने पर भी.... नहीं जाने हुए की श्रद्धा तो गधे के सींग जैसी है। जो चीज ही ख्याल में नहीं आयी, जो वस्तु ही ज्ञान में–ख्याल में नहीं आयी 'उसकी श्रद्धा करो!' परन्तु किस प्रकार श्रद्धा करे? वह चीज ही ख्याल में आयी नहीं, उसकी श्रद्धा किस प्रकार करना? आहा...हा...! इसकी ज्ञान की पर्याय में पर्यायवान प्रभु– अनुभूतिस्वरूप भगवान, ज्ञान में आया नहीं, उसकी श्रद्धा किस प्रकार करना, प्रभु! ज्ञान में चीज आवे कि यह मक्खन है, अथवा यह घी है अथवा यह दूध है, ये ख्याल में आवे, तब तो उसका विश्वास आवे, परन्तु गधे के सींग ख्याल में आते हैं? ख्याल में नहीं आते तो श्रद्धा किसकी? इसी प्रकार भगवान आत्मा, ज्ञान की पर्याय में, वह जानने में नहीं आवे,... त्रिकाल वस्तु भगवानस्वरूप, वह दृष्टि में नहीं आवे और 'श्रद्धा करो!' – ऐसा कहे, वह तो खरगोश के सींग की श्रद्धावत् श्रद्धा है। आहा...हा...! जेठालालभाई!

भाई! ऐसी बातें हैं, प्रभु! थोड़ी कठिन पड़े, परन्तु यहाँ तो 15 दिन तो हुए अब! अब यहाँ तीन दिन हैं। आहा...! आ...हा...हा...! ऐसी बात तो न सुनी हो, उसको कठिन पड़ती है। आहा...हा...! बाहर में ही रुक जाता है, पूरे दिन, धन्धा–पानी, पाप और यह और वह!! भले 5–25 लाख महीने में पैदा होते हों। धूल में इसने किसे पैदा करना, प्रभु! यह आत्मा, तीन लोक का नाथ हाथ न आवे, वहाँ तक तू रंक और भिखारी है! विद्यमान लक्ष्मी हाथ न आवे और अविद्यमान हाथ आवे,... यह बाहर की लक्ष्मी अविद्यमान (है)। वह आत्मा में नहीं है; आत्मा की पर्याय में नहीं; आत्मा के द्रव्य–गुण में भी नहीं। यह विद्यमान लक्ष्मी तो द्रव्य–गुण में है। द्रव्य, अर्थात् वस्तु और उसके गुण (अर्थात्), शक्ति। उनमें विद्यमान चीज अनुभूति (स्वरूप) भगवान हैं। उसकी पर्याय में यदि उसे पहचानने में न आवे तो उसकी श्रद्धा कैसी? खरगोश के सींगवत् श्रद्धा है। हम आत्मा को मानते (हैं) – ऐसा भले कहे, परन्तु वह तो गधे के सींग जैसी श्रद्धा है। आहा...हा...!

कहते हैं, प्रभु! अरे! परमात्मा तुझे 'प्रभु' कहकर कहते हैं! अरे...! तुझे अब शर्म नहीं आती नाथ! आ...हा...हा...! सन्त, भगवान तुझे भगवानरूप से कहें! यह बड़ों का *कहेण* नहीं फिरता नाथ! आहा...! लड़की का पिता... लड़के की सगाई करनी हो और 50–100 व्यक्तियों का सम्बन्ध आया हो (तो) बड़े घर की कन्या हो और (उसे) पसन्द करते हैं, भले सहज ही काली हो या साधारण हो! क्योंकि 5–25 लाख लेकर आयेगी, उसके पिता

की एक ही पुत्री है, पुत्र नहीं, कोई नहीं – ऐसा जानकर उसको पसन्द करता है। आहा...हा...! ये बड़े के पैसे के लक्षण के संदेश स्वीकार करनेवाला, इन तीन लोक के नाथ के संदेश को तू स्वीकार न करे! आहा...हा...! (यहाँ) कहते हैं कि जाने बिना की श्रद्धा, वह गधे के सींग जैसी है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** गुरुदेव! आपका सन्देश हम स्वीकार करते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आहा...हा...! (अन्दर)? **अज्ञात का श्रद्धान, गधे के सींग के श्रद्धान के समान होने से, श्रद्धान भी उदित नहीं होता...** (अर्थात्), उसको सम्यक्त्व नहीं होता। आहा...हा...! अज्ञान की श्रद्धा यह किस प्रकार करेगा? जानने में चीज आयी नहीं, उसकी प्रतीति, उसका विश्वास किस तरह करेगा? इसलिए उसको श्रद्धा–समकित प्रगट नहीं होता। वह वस्तु जानने में आयी नहीं, इस कारण उसकी श्रद्धा–विश्वास उसको आता नहीं। आ...हा...हा...! भाषा तो भाषा! समझ में आया? आहा...हा...!

**समस्त अन्य भावों के भेद से...** इसलिए कहते हैं कि एक तो ज्ञान हुआ नहीं – आत्मज्ञान हुआ नहीं और ज्ञान बिना श्रद्धा भी नहीं हुई, तो अब कहते (हैं) चारित्र भी नहीं होता। आहा... है? **श्रद्धान भी उदित नहीं होता, तब समस्त अन्य भावों के भेद से...** (अर्थात्), सभी विकल्पों की भिन्नता से, **आत्मा में निःशंक स्थिर होने की असमर्थता के कारण...** स्वरूप में निःशंकपने स्थिरता, इसका नाम चारित्र, लेकिन यह श्रद्धा ही जहाँ हुई नहीं, वस्तु ही (जानी) नहीं (तो) जाने बिना की श्रद्धा खोटी और श्रद्धा (हुए) बिना, उसको अन्तर में स्थिर होने में निःशंकता आती नहीं। जब तक श्रद्धा में निःशङ्कता न आये, उस कारण **निशङ्क स्थिर होने की असमर्थता के कारण, आत्मा का आचरण उदित नहीं होने से...** आत्मा का चारित्र, आत्मा का आचरण, आत्म-आचरण (होता नहीं)। आहा...हा...! लोग जो नैतिक सदाचरण कहते हैं –परस्त्री का सेवन न करे, शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, परम्परानुसार पाँच तिथियों में कन्दमूल आदि न खाए कि पाँच तिथियों में स्त्री आदि का सेवन न करे – ऐसा किसी का नैतिक जीवन होता है। यह जीवन है, वह तो लौकिक (नैतिक सदाचरण) है, यह कोई वास्तविक जीवन नहीं। आहा...हा...! इसके आचरण के बिना (अर्थात् कि) प्रभु के आचरण बिना... आहा...हा...! आत्मा का सत्

आचरण... अन्तर में (अभी) श्रद्धा हुई नहीं तो आचरण कहाँ से आये? किसमें स्थिरता हो? जाना नहीं (और) जाना नहीं, उसकी श्रद्धा किस प्रकार (हो)? और श्रद्धा बिना, स्थिरता किस प्रकार? आहा...हा...! कहो! झवेरचन्दभाई! तेरी बात है प्रभु! थोड़ा सुनकर विचार में लेने जैसी है? बापा! आहा...हा...!

आहा...हा...! **निशङ्क स्थिर होने की असमर्थता के कारण, आत्मा का आचरण उदित नहीं होने से...** आत्मा का आचरण, अर्थात् कि ज्ञानस्वरूप में स्थिर होना। ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु – सहजात्मस्वरूप में स्थिर होना, उसका नाम आचरण; कोई क्रियाकाण्ड और राग को करना, वह कोई आचरण नहीं। आनन्द का नाथ प्रभु, ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द प्रभु का जिसको ज्ञान हुआ नहीं, तो ज्ञान बिना श्रद्धा नहीं, तो श्रद्धा बिना आचरण कहाँ से आये? आहा...हा...! थोड़ी बात बहुत कही गयी है, बापू! **असमर्थता के कारण, आत्मा का आचरण उदित नहीं होने, आत्मा को नहीं साध सकता।** लो! यह आत्मा को साधता नहीं, वह राग को साधता है! राग को, पुण्य को और पाप को साधता है, भाई! **इस प्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है।** साध्य जो आत्मा की मुक्ति (उसकी उत्पत्ति नहीं होती)। ध्येय–आत्मा, साध्य–मुक्ति। यह साध्य (आत्मा की) सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति (है)। इस प्रकार उसको सिद्धि की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि आत्मा का ज्ञान नहीं; ज्ञान नहीं तो श्रद्धा नहीं; श्रद्धा बिना चारित्र नहीं (और) चारित्र बिना सिद्धि नहीं। आहा...हा...! कहो। (यह) गुजराती इतना हुआ!

## गाथा–31

अथ निश्चयस्तुतिमाह। तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत् –

**जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।**
**तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।31।।**

य इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः।।31।।

यः खलु निरवधिबन्धपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यास-कौशलोपलब्धान्तःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टम्भबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खण्डशः आकर्षति प्रतीयमानाखण्डैकचिच्छक्तितया भावेन्द्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिवशेन सह सम्विदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासङ्गतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिन्द्रियार्थान्श्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्य-स्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवान्तःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यान्तरेभ्यः परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं सञ्चेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः।।३१।।

---

अब, ( तीर्थंकर-केवली की ) निश्चय स्तुति कहते हैं। उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके स्तुति करते हैं —

**कर इन्द्रिजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।**
**निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को।।31।।**

गाथार्थ : [ यः ] जो [ इन्द्रियाणि ] इन्द्रियों को [ जित्वा ] जीतकर [ ज्ञानस्वभावाधिकं ] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक [ आत्मानम् ] आत्मा को [ जानाति ] जानते हैं [ तं ] उन्हें [ ये निश्चिताः साधवः ] जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं [ ते ] वे, [ खलु ] वास्तव में [ जितेन्द्रियं ] जितेन्द्रिय [ भणंति ] कहते हैं।

टीका : ( जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को - तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं। ) अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश जिसमें समस्त स्वपर का विभाग अस्त हो गया है ( अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता ) ऐसी शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया; सो वह द्रव्येन्द्रियों को जीतना हुआ। भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापारभाव से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं ( ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप बतलाती हैं ) ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा सर्वथा अपने से भिन्न जाना सो यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ। ग्राह्यग्राहकलक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन ( अनुभव ) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं ऐसी, भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए, इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को, अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया; सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ। इस प्रकार जो ( मुनि ) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को ( तीनों को ) जीतकर ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन हैं। ( ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है। ) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? विश्व के ( समस्त पदार्थों के ) ऊपर तिरता हुआ ( उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ ), प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप — ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

( ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का और ज्ञायकस्वरूप स्वयं आत्मा का - दोनों का अनुभव, विषयों की आसक्ति से, एकसा होता था; जब भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया, तब वह ज्ञेयज्ञायक-संकरदोष दूर हुआ ऐसा यहाँ जानना। )

## प्रवचन–8 का शेष , गाथा–31

अब, 31वीं गाथा! 31, हैं न इसमें? लिखा है न? 31वीं (गाथा) लिखा है इसमें। 31, क्या कहते हैं? कि तीर्थंकर भगवान की स्तुति करना, पंच परमेष्ठी की स्तुति करना, वह तो विकल्प और राग है। (यहाँ) **अब तीर्थंकर केवली की निश्चयस्तुति कहते हैं।** आहा...हा...! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी, जिनको एक समय में तीन काल और तीन लोक, पर्याय को जानने पर जानने में आ गये हैं – ऐसे भगवान की स्तुति निश्चय से किसे कहना, यह बात कहते हैं। व्यवहार से भले भगवान ऐसे और तीर्थंकर ऐसे (ऐसा कहे, किन्तु वह) निश्चयस्तुति (नहीं)। (यहाँ) शब्द क्या है? **तीर्थंकरकेवली की निश्चयस्तुति कहते हैं।** कहेंगे आत्मा की (स्तुति) पण्डितजी! शब्द ऐसे हैं – भगवान की निश्चयस्तुति – सच्ची स्तुति किसे किसे कहना? पाठ ऐसा है कि **तीर्थंकर केवली की निश्चयस्तुति कहते हैं।** तीर्थंकर और केवली (की निश्चयस्तुति) अर्थात् कि इस आत्मा की स्तुति, वह तीर्थंकर और केवली की स्तुति है। आहा...हा...! समझ में आया? शब्द तो यह है। **अब तीर्थंकर–केवली की निश्चयस्तुति कहते हैं। उसमें पहले ज्ञेय–ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके स्तुति कहते हैं।** अर्थात्? तीर्थंकर और सर्वज्ञ या पंच परमेष्ठी, वे इस ज्ञान की पर्याय के ज्ञेय-परज्ञेय हैं। ये परज्ञेय और ज्ञान की पर्याय का संकर अर्थात् खिचड़ा था; आहा...हा...! संकर अर्थात् खिचड़ा। परज्ञेय को जानने पर मुझे जानता हूँ – ऐसी जो विपरीत दृष्टि थी, इसका नाम मिथ्यादृष्टि।

इसमें पहले तो ज्ञेय–ज्ञायक संकरदोष (का परिहार करेंगे)। यह सूक्ष्म बात आएगी, प्रभु! तीर्थंकर, तीर्थंकर की वाणी, तीर्थंकर का शरीर, तीर्थंकर का आत्मा (और) स्त्री का शरीर, स्त्री का आत्मा – ऐसे पूरी दुनिया को यहाँ पर में रखा है, इन्हें इन्द्रिय में रखा है। क्या कहा यह? साक्षात् तीर्थंकर, साक्षात् केवली, साक्षात् पंच परमेष्ठी – ये इस आत्मा की अपेक्षा से इन्द्रिय है। आत्मा अनीन्द्रिय है तो ये सभी चीजें इन्द्रिय हैं। आहा...हा...हा...!

तुमने डाली है 31 गाथा। शान्ति से (समझना) बापू! यह तो प्रभु की बातें हैं। यह कोई ऐसे–वैसे की बात नहीं। लड़के बचपन में सीखते हैं न 'चिड़िया लायी चावल का

दाना, चिड़ा लाया मूँग का दाना, दोनों की बनी खिचड़ी, खिचड़ी बाद में कुम्हार को दी और कुम्हार ने दिया घड़ा, और घड़े ने दिया खजूर...।' ऐसी बातें पहले छोटी उम्र में आती थी। ऐसी बातें नहीं यह प्रभु! यह तो तीन लोक के नाथ के कलेजे के अन्दर की बातें हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म पड़े, प्रभु! अनजान मनुष्य को ऐसा लगता है कि यह क्या (बात) करते हैं? बापू! तेरे घर की बात करते हैं, भाई! भगवान! तू पूर्णानन्द का नाथ है, प्रभु! आ...हा...हा...!

तेरे अतिरिक्त शरीर, जड़ इन्द्रिय (अर्थात्) यह जड़–इन्द्रिय और भावेन्द्रिय (अर्थात्) जो एक–एक विषय को जानती है – ऐसी भावेन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय – स्त्री, कुटुम्ब–परिवार, पैसा–लक्ष्मी, अरहन्त, अरहन्त की वाणी – इन सबको यहाँ 'इन्द्रिय' कहा गया है। समझ में आया? यह जड़–इन्द्रिय है, अन्दर भावेन्द्रिय – एक–एक इन्द्रिय एक विषय को जानती है। आँख, रूप को जानती है; कान, शब्द को जानते हैं; नाक, गन्ध को जानता है – ऐसा अन्दर जो भावेन्द्रिय (का) उघाड़ है वह (और जड़) द्रव्येन्द्रिय दो और (तीसरा) इन्द्रिय के विषय, स्त्री, कुटुम्ब–परिवार, तीर्थंकर और तीर्थंकर की वाणी, ये सब इन्द्रिय के विषय हैं। आ...हा...हा...!

इसको यहाँ तीर्थंकर केवली की स्तुति न कहकर, भाषा ऐसी है कि मैं तीर्थंकर केवली की सत्य स्तुति कहूँगा। सच्ची स्तुति में आएगा आत्मा। आहा...हा...हा...! है? **उसमें पहले ज्ञेय–ज्ञायक...** ज्ञायक, अर्थात् आत्मा और ज्ञेय, अर्थात् परचीज – शरीर से लेकर भगवान की वाणी तक सभी ज्ञेय (हैं)। यह ज्ञायक और ज्ञेय, इनका संकर(दोष)... है? ज्ञेय–ज्ञायक का संकर दोष। संकर अर्थात् दो एक हैं; दो का खिचड़ा करता है – मानता है, इसको संकर दोष कहते हैं। इसको दुःख की दशा कहते हैं। आहा...हा...! संकर दोष – दुःखदशा। संकर अर्थात् सुख, दोष अर्थात् दुःख। सुख से विपरीत दुःखदशा। आहा...हा...! तीर्थंकर, केवली, पंच परमेष्ठी... सूक्ष्म बात है, प्रभु! आये... शुभभाव आये। समकित होने के बाद भी, मुनि होने के बाद भी, सच्चे सन्त, दिगम्बर मुनि को, उनके अन्दर तीन कषाय का अभाव होने पर भी, तीर्थंकर भगवान का स्तवन, स्तुति, भक्ति (का) शुभभाव आता है परन्तु वह वास्तविक (स्तुति) नहीं – ऐसा कहते हैं। वास्तविक तो आत्मा की स्तुति करना, वह इन तीर्थंकर–केवली की स्तुति है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** ऐसी सत्य बात अन्यत्र नहीं मिलती।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नहीं सुनी, सत्य बात (है)।

**मुमुक्षु :** गुरुदेव! बाल तीर्थंकर की तो बहुत भक्ति हुई थी? लोग बहुत नाचे।

**समाधान :** वह सब शुभभाव (है)। सूक्ष्म बात है, भगवान! यह आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु! इस भगवान के अतिरिक्त पर में जितना लक्ष्य जाता है, उसे इन्द्रिय में लक्ष्य जाता है – ऐसा कहा जाता है। उसे अतीन्द्रिय ऐसा आत्मा का लक्ष्य नहीं। धीमे से सुनना, प्रभु! यह तो वीतराग के पेट की बातें हैं। सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ वीतराग, महाविदेह में अभी विराजते हैं। उनके समवसरण में 100 इन्द्र आते हैं, बाघ, सिंह, नाग आते हैं। भगवान की वाणी ॐध्वनि निकलती है। ऐसी (शब्दात्मक) वाणी उनकी नहीं होती। 'ओमकार धुनि सुनि अर्थ गणधर विचारे' ॐ...ध्वनि (निकले) होंठ बंद, कण्ठ (हिलता नहीं), उस वाणी में यह आया था। उस वाणी में जो आया, उससें आगम की रचना की। इस आगम की रचना 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने की। इसमें यह आया कि तीर्थंकर और केवली की निश्चयस्तुति किसको कहना? तीर्थंकर और केवली की सच्ची स्तुति किसे कहना? वह अब अन्दर आएगा, देखो!

**जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।**
**तं खलु जिदिंदियं ते भणन्ति जे णिच्छिदा साहू॥31॥**

नीचे हरिगीत

**कर इन्द्रिजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।**
**निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को॥31॥**

**टीका : (जो मुनि)** अथवा समकिती, **द्रव्येन्द्रिय...** यह जड़ (इन्द्रियाँ), **भावेन्द्रियों...** जो इन्द्रियों से एक–एक विषय जानने में आते हैं – ऐसी अन्दर भावेन्द्रिय और **इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ...** वह द्रव्येन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ – **इन तीनों को अपने से अलग करके...** आहा...हा...! जड़ इन्द्रिय; भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय – इसमें भगवान और भगवान की वाणी भी आ गयी। गजब बात है, प्रभु! आहा...हा...! निश्चय से सर्व अन्य द्रव्यों से भिन्न, **तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने**

**आत्मा का अनुभव करते हैं, वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं।** उनको हम यहाँ जितेन्द्रिय कहते हैं। अकेली इन्द्रियों को जीतकर बैठा और शील पाले और विषय सेवन न करे, उसको हम यहाँ जितेन्द्रिय नहीं कहते। आहा...हा...! है?

**अनादि अमर्यादरूप बन्धपर्याय के वश जिसमें समस्त स्व–पर का विभाग अस्त हो गया है।** (अर्थात्) यह आत्मा और यह जड़ इन्द्रियाँ, इन दोनों की भिन्नता जिसको अस्त हो गयी है, दो की (भिन्नता का) ज्ञान जिसे अस्त हो गया है। आहा...! दोनों की भिन्न(पने) का ज्ञान उदित होना चाहिए, उसके स्थान पर वह ज्ञान इसका अस्त हो गया है। आहा...हा...! यह जड़ इन्द्रिय... यह! **शरीर परिणाम को प्राप्त जो द्रव्येन्द्रियाँ...** यह शरीर के परिणाम को प्राप्त हुई यह इन्द्रियाँ – यह जड़ इन्द्रियाँ। **अनादि अमर्यादरूप बन्ध पर्याय के वश जिसमें समस्त स्व–पर का विभाग अस्त हो गया है। अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही हैं कि भेद दिखायी नहीं देता।**

**ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त...** अब इन्द्रिय की व्याख्या करते हैं। इन्द्रियों को जीतना (– ऐसा कहा तो) इसमें इन्द्रियाँ कितनी प्रकार की (है)? कि एक तो जड़ इन्द्रिय है? **शरीर परिणाम को प्राप्त जो द्रव्येन्द्रिय, उसको तो...** यह द्रव्येन्द्रिय, अर्थात् यह जड़; कान, यह आँख, नाक ये सब जड़ के छिद्र हैं। ये सब जड़ के – शरीर के परिणाम हैं। ये सभी पाँच इन्द्रियाँ जड़ का परिणाम हैं। आत्मा का परिणाम इसमें नहीं। आ...हा...हा...! **उनको तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से...** आहा...हा...! इन जड़ इन्द्रियों को निर्मल भेदज्ञान का अभ्यास (करके भिन्न किया)। जड़ से मैं भिन्न हूँ – ऐसा अन्दर अभ्यास (किया)। जड़ से मैं भिन्न हूँ – ऐसा आत्मा का अभ्यास। है? **भेदाभ्यास की प्रवीणता से...** भेदविज्ञान के अभ्यास की प्रवीणता से; अकेले धारणा में भेद लक्ष्य में लिया – ऐसा नहीं, आहा...हा...!

भेदज्ञान की प्रवीणता (अर्थात्) जड़ से अलग आत्मा को जानने की जो प्रवीणता, **उससे, प्राप्त जो अन्तरंग में प्रगट...** अन्तर में अति प्रगट **अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से...** आ...हा...हा...हा...! ऐसी बात है। चाहे जितनी सरल करे लेकिन वस्तु सरल किस (प्रकार) हो? अरब रुपयों को चाहे जितना हल्का करे तो दो

रुपये में क्या अरब आ जाएँ? एक करोड़ में अरब आ जाएँ? अरब की संख्या तो अरब ही रहेगी। ऐसे आत्मा की (स्तुति) जो है, इन्द्रियों से जीतना जिस प्रकार है, उसी प्रकार रहेगा। दूसरा हल्का करने जाएगा तो कुछ नहीं होगा। आहा...हा...!

**अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म....** अन्दर अति सूक्ष्म भगवान प्रगट है। इन जड़ इन्द्रियों से अलग अति सूक्ष्म (है)। आहा...हा...! यह क्या कहते हैं? वह विकल्प से भी जाना जाए – ऐसा नहीं। शुभराग के विकल्प की वृत्ति से भी भगवान जाना जाए – ऐसा नहीं। अति सूक्ष्म (है)! जैसे सांडसी से सर्प को पकड़े, ऐसे सांडसी से मोती को नहीं पकड़ सकते। ऐसे ही आत्मा को स्थूल विकल्प से नहीं पकड़ सकते। आ...हा...हा...! विकल्प – शुभराग, दया–दान–व्रत आदि ऐसे विकल्पों से भगवान पकड़ में नहीं आता। आ...हा...हा...! क्यों? (क्योंकि) अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म प्रभु विराजमान है। आहा...हा...। है? **अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन के बल से...** आहा...हा...! इसके अवलम्बन से द्रव्येन्द्रिय का लक्ष्य छूट गया। आहा...हा...! ऊँची बात नहीं बापू! अभी यह तो सम्यग्दर्शन की बात है। समकित-दर्शन! सम्यग्ज्ञान! शुरुआत की प्रथम भूमिका, उसकी बात है। प्रभु! आहा...!

**चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से...** उसके अवलम्बन के बल से (ऐसा कहा है)। आ...हा...हा...! **सर्वथा अपने से अलग किया...** अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव को पकड़कर, द्रव्येन्द्रिय को अपने बल से अलग किया। आहा...हा...! अलग करने की यह विधि। द्रव्येन्द्रिय को भेद–अभ्यास से (अर्थात्) चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन द्वारा, उसके बल से द्रव्येन्द्रिय को अलग किया। आहा...हा...! सूक्ष्म पड़े (परन्तु) धीमे–धीमे समझना प्रभु! यह बात तो तेरे घर की है! आहा...हा...! यह तो कहाँ से आयी हुई बात है! आहा...हा...! ऐसी बात है, प्रभु! क्या कहें? आहा...हा...!

इन जड़ इन्द्रियों को कैसे जीतना? इसकी पहली व्याख्या की। आहा...हा...! ये जड़ इन्द्रियाँ (है), वे शरीर परिणाम को प्राप्त है। यह शरीर परिणाम है, वह आत्मा का परिणाम नहीं; यह शरीर की अवस्था है – यह आँख, नाक, यह शरीर की अवस्था है। शरीर की अवस्था को प्राप्त द्रव्येन्द्रिय, उनको.... आहा...हा...! **निर्मल भेद–अभ्यास...** विशेषण

दिया। अकेली धारणा का ही अभ्यास करे (कि) अलग है अलग है, तो ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! **निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त...** आहा...हा...! अन्तर में सूक्ष्म.... अन्तर में अतिसूक्ष्म भगवान के पास जाकर द्रव्येन्द्रियों को जीता – ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! है? यह तो तुम्हारा छापा हुआ है न? 'निर्मल भेद–अभ्यास और प्रवीणता...' दो शब्द प्रयोग किये हैं। **निर्मल भेद–अभ्यास की प्रवीणता से...** धीमे से... जड़ इन्द्रियाँ, यह मिट्टी; इनसे चैतन्य अति सूक्ष्म जो द्रव्येन्द्रियों के अवलम्बन से जानने में नहीं आता। आहा...हा...हा...! अन्दर ऐसा अति सूक्ष्म भगवान आत्मा, उसके अवलम्बन के बल से। बाहर के शुभ विकल्प और भगवान की स्तुति और उसके बल से – ऐसा नहीं कहा। आहा...हा...! सूक्ष्म है बापू!

अनन्त काल में अनन्त बार साधु भी हुआ है। यह तो जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी है। ऐसी वाणी अन्यत्र कहीं है नहीं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ 'सीमन्धरस्वामी' भगवान साक्षात् समवसरण में विराजमान है। उनकी दिव्यध्वनि की यह रचना है। दिव्यध्वनि–ओमकार की यह रचना है।

भगवान ऐसा कहते हैं प्रभु! तुझे यदि द्रव्य इन्द्रिय को जीतना हो तो, आहा...हा...! आहा...! निर्मल भेद–अभ्यास (कर)! अकेला राग से अलग... राग से अलग... ऐसा नहीं। निर्मल भेदज्ञान, अर्थात् राग भी अलग! आहा...हा...! सूक्ष्म तो है परन्तु बापू! सत्य तो यह है। सत्य और परमार्थ चीज तो यह है। आहा...! **निर्मल भेद–अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त...** क्या? **अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म...** भगवान अन्दर महासूक्ष्म है, अरूपी है। यह जड़ इन्द्रिय तो रूपी है। अन्दर भगवान अरूपी अतिसूक्ष्म अन्तरंग में पड़ा है। आहा...हा...! भगवत्स्वरूप परमेश्वर परमात्मस्वरूप अन्दर सूक्ष्म है, आहा...हा...! (उन जड़–इन्द्रियों को) अनुभव से, **सर्वथा अपने से अलग किया,...** चैतन्य के अभ्यास के बल से जड़–इन्द्रिय को अलग किया–यह जड़–इन्द्रिय का जीतना कहा जाता है। आँखों को बन्द करके, इस रूप को नहीं देखूँ, कान में कीले डालकर सुनना नहीं, यह कोई इन्द्रिय को जीतना नहीं। समझ में आया? यहाँ तो जड़–इन्द्रिय का जीतना, वह अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से स्वभाव में रहने पर, उसने जीत

ली अर्थात् कि इससे भिन्न पड़ा, उसका नाम द्रव्येन्द्रिय को जीता–ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...!

**सर्वथा अपने से अलग किया...** कोई ऐसा कहे, कथंचित् जड़ से भिन्न और कथंचित् एक है, ऐसा नहीं। 'सर्वथा' शब्द पड़ा है न? सर्वथा अलग – यह जड़–इन्द्रिय और प्रभु अन्दर अतिसूक्ष्म चैतन्य सर्वथा अलग है। यह जड़–इन्द्रिय आत्मा के स्वभाव के अनुभव कराने में कुछ भी मददगार नहीं, कुछ भी सहायक नहीं। कान से सुना, इसलिए अन्दर समझ में आयेगा – ऐसा बिल्कुल नहीं। आहा...हा...! कठोर बात है। इसे अपने से अलग किया। **वह द्रव्येन्द्रियों का जीतना हुआ।** है? वह द्रव्येन्द्रिय का जीतना (हुआ)। अब भावेन्द्रिय का जीतना क्या है? – यह विशेष आयेगा....।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## गाथा–38

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसञ्चेतनं भवतीत्या–वेदयन्नुपसंहरति –

**अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।**
**ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।38।।**

अह–मेकः खलु शुद्धो दर्शन–ज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत्परमाणु–मात्र–मपि।।38।।

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यन्तमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथञ्चनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः, समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः, नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसम्वरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणव्यावहारिकनव–तत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यन्तविविक्तत्वाच्छुद्धः, चिन्मात्रतया सामान्य–विशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः, स्पर्शरसगन्धवर्णनिमित्तसम्वेदनपरिणतत्वेऽपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं सञ्चेतयमानः प्रतपामि।

एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूपसम्पदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किञ्चनाप्यन्य–त्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति, स्वरसत एवापुनः–प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात्।।38।।

---

अब, इस प्रकार दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप परिणत आत्मा को स्वरूप का संचेतन कैसा होता है यह कहते हुए आचार्य इस कथन को समेटते हैं —

**मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।**
**कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!।।38।।**

गाथार्थ : दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि [ खलु ] निश्चय से [ अहम् ] मैं [ एकः ] एक हूँ, [ शुद्धः ] शुद्ध हूँ, [ दर्शनज्ञानमयः ] दर्शनज्ञानमय हूँ, [ सदा अरूपी ] सदा अरूपी हूँ; [ किंचित् अपि अन्यत् ] किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य [ परमाणुमात्रम् अपि ] परमाणुमात्र भी [ मम न अपि अस्ति ] मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

टीका : जो, अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर जो किसी प्रकार से समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई ( पुरुष ) मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे इस न्याय से, अपने परमेश्वर ( सर्व सामर्थ्य के धारक ) आत्मा को भूल गया था उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके ( – उसमें तन्मय होकर ) जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता; इसलिए मैं एक हूँ; नर, नारक आदि जीव के विशेष; अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं उनसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक-स्वभावरूप भाव के द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ; इसलिए मैं शुद्ध हूँ; चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता; इसलिए मैं दर्शनज्ञानमय हूँ; स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण जिसका निमित्त है — ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी, स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ; इसलिए परमार्थ से मैं सदा ही अरूपी हूँ। इस प्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवन्त हूँ। इस प्रकार प्रतापवन्त वर्तते हुए ऐसे मुझे, यद्यपि ( मुझसे ) बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर — पुनः अंकुरित न हो, इस प्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

भावार्थ – आत्मा अनादि काल से मोह के उदय से अज्ञानी था, वह श्री गुरुओं

**के उपदेश से और स्व-काललब्धि से ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ। ऐसा जानने से मोह का समूल नाश हो गया, भावकभाव और ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ, अपने स्वरूप संपदा अनुभव में आयी; तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है? नहीं हो सकता।**

## प्रवचन–9, गाथा–38

('समयसार' 38 वीं गाथा) **अब इस प्रकार दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप परिणत हुए...** 38 (गाथा) में क्या कहते हैं? श्रोता ने जब गुरु के पास सुना, तब उसे दर्शन–ज्ञान और चारित्र (प्रगट) हुआ, यह क्या हुआ? इसका स्वरूप इसने कैसे प्राप्त किया? इसकी बात इसमें हैं। दर्शन–ज्ञानस्वरूप परिणत हुए, आहा...हा...! (अर्थात्) आत्मा (का) सम्यग्दर्शन (और) त्रिकाली चैतन्य का (ज्ञानस्वरूप) परिणमन दर्शन–ज्ञान और चारित्र – तीन रूप परिणत हुए – ऐसे **आत्मा को स्वरूप का संचेतन...** (अर्थात्) स्वरूप का अनुभव कैसा होता है? 'संचेतन' अर्थात् अनुभव। **यह कहते हुए आचार्य इस कथन को समेटते हैं...** 38 गाथा में जीव का अधिकार पूरा करते हैं। 39 वीं से अजीव का अधिकार चलेगा। यह जीव (अधिकार) की अन्तिम गाथा है।

**अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।**
**ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥38॥**

नीचे हरिगीत।

**मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।**
**कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!॥38॥**

38 वीं गाथा, जीव (अधिकार) की अन्तिम (गाथा) है। जीव समझता है, तब उसका क्या परिणमन होता है? वह किससे समझता है? और पहले कैसा था? (वह कहते हैं)। पहले अप्रतिबुद्ध था। यद्यपि अप्रतिबुद्ध 23 गाथा (में) पहले आ गया है – अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। इस प्रकार यहाँ भी शुरुआत से (बात) ली है।

**जो अनादि मोहरूप...** पाठ में तो 'मोहरूप' है, फिर इसका अर्थ 'अज्ञान से' किया है। संस्कृत टीका में 'मोह' है। 'अनादि मोह' अपने स्वरूप को भूलकर राग और द्वेष आदि परचीज (है), उनको जो अपनी मानता (था), वह **अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण...** पागल–पागल था (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! अपनी चीज (है, उसको) भूलकर और जो (इसकी) वस्तु में नहीं ऐसे राग और द्वेष और राग–द्वेष के फल यह संयोग, इनको अपना मानता (हुआ), वह उन्मत्त अर्थात् पागल है। आहा...हा...! है? **उन्मत्तता के कारण...** आ...हा...हा...! (अर्थात्) स्वरूप की जिसको खबर नहीं, चैतन्य की जाति क्या है? और इसमें क्या सम्पदा भरी है? – इसकी जिसे खबर नहीं, ऐसा जो अनादि मोह के कारण उन्मत्त, अर्थात् पागल बना हुआ है, पागल बना हुआ है, आ...हा...हा...!

कोई ऐसा कहता है कि यह 'समयसार' तो मुनि को समझाने के लिए है, यहाँ तो, यहाँ तक आया है। अज्ञानी अनादि का मोह से मूढ़ था। **उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था...** अत्यन्त अप्रतिबुद्ध (कहा है) अर्थात् बिल्कुल–कुछ खबर नहीं; आत्मा क्या? राग क्या? पर क्या? वह अनादि से पर के साथ मिश्रपने से अज्ञानपने–पागलपन से भटकता था, ऐसे प्रतिबुद्ध को (समझाते हैं)। ऐसे अप्रतिबुद्ध को! है? अकेला अप्रतिबुद्ध (ऐसा) नहीं। **अत्यन्त अप्रतिबुद्ध** (कहा है)। इसको यह समझाते हैं। कोई ऐसा कहता था कि यह 'समयसार' तो मुनि के लिए ही है। तो यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि अत्यन्त अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। आहा...हा...! अनादि अज्ञानी – जिसे आत्मा क्या चीज है? और मैं क्या मानता हूँ? इसकी जिसे कोई खबर नहीं, ऐसा **अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था...** अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, उसको यह समझाया है। आहा...हा...!

**और विरक्त गुरु से...** अर्थात् क्या कहते हैं? जो मिथ्यात्व और राग–द्वेष से विरक्त हुए हैं, उन गुरु से समझाया गया है परन्तु अज्ञानी से नहीं। उसी प्रकार धारणा-ज्ञान हो, उससे भी नहीं। आहा...हा...हा...! जानपना धारण किया हो, उनसे भी ये समझा नहीं। विरक्त गुरु! (अर्थात्) जो राग में रक्त था, (उससे) छूटकर–राग से जिसको विरक्तता प्रगट हुई है। आहा...हा...! चैतन्यमूर्ति राग से भिन्न (है, ऐसा) जिसे (आत्मज्ञान) प्रगट हुआ है – ऐसे

विरक्त गुरु से (समझाने में आया)। बहुत गम्भीर भाषा है। समझाने में विरक्त गुरु निमित्त होता है – ऐसा सिद्ध करना है। अज्ञानी निमित्त होता नहीं; अज्ञानी की देशना निमित्तरूप भी नहीं होती। आहा...हा...हा...! विरक्त गुरु – एक बात! दो बातें हुई। एक अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और इसे समझानेवाले विरक्त गुरु हैं, दो बातें हुई। आहा...हा...! उनके पास से यह समझा।

अब, तीसरा बोल,... **निरन्तर समझाये जाने पर...** विरक्त गुरु कोई निवृत्त–फालतू नहीं कि निरन्तर इसे समझाये। पाठ तो ऐसा है। **निरन्तर समझाये जाने पर** – इसका अर्थ यह कि गुरु ने एक बार इससे कहा, दो बार, पाँच बार, दस बार कहा, बारम्बार कहा, (उसके बाद) इसने बारम्बार चिन्तन किया, गुरु की कही हुई बात को निरन्तर चिन्तवन में रहा – इसको गुरु निरन्तर समझाते हैं – ऐसा कहने में आया।

**मुमुक्षु :** शिष्य के ऊपर जवाबदारी आ गयी?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** जवाबदारी वहाँ ही है। इतनी बात (वास्तविक) गुरु बारम्बार कहते थे, एक बार नहीं परन्तु बहुत बार कहते थे, लेकिन निरन्तर नहीं, इतना अन्तर है। गुरु बारम्बार, इसको सत् की बात कहते थे। 'बापू! नाथ! (तू) चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द (है)। तेरे में आनन्द भरा हुआ है – ऐसा तू आत्मा है' – ऐसा गुरु ने एक बार नहीं, किन्तु बहुत बार कहा, वह तो अन्दर आता है, परन्तु यहाँ **निरन्तर समझाये जाने पर** – यह शब्द है। इसका अर्थ (यह) कि समझनेवाले, विचारनेवाले (को) निरन्तर उसकी खटक रहा करती है। गुरु ने जो कहा कि 'भगवान! तेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। राग, विकल्प, शरीर, वाणी से बिल्कुल अलग है – ऐसा गुरु ने दो–चार बार या बारम्बार कहा परन्तु यह समझनेवाला, निरन्तर समझाये जाने पर अर्थात् निरन्तर समझ में आने पर, स्वयं (स्वयं को) निरन्तर उसकी खटक रहा करती है। सुननेवाला ने सुनकर यह इस कान से सुना और निकाल दिया, एक बार सुनकर रखा – ऐसा नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? अन्तिम गाथा है – सार है। 38वीं (गाथा) जीव अधिकार की अन्तिम गाथा (है)।

इसको निरन्तर समझाये जाने पर, आहा...हा...! विरक्त गुरु निरन्तर, फालतू तो नहीं होते। मुनि को छट्ठा–सातवाँ गुणस्थान होता है; (अतः) वह तो क्षण में सातवें और क्षण

में छट्ठे में आते हैं। वाणी तो निरन्तर होती नहीं, तथापि समझनेवाले (को) गुरु की कही हुई बात अन्दर में बारबार खटकती रहती है। रात और दिन आत्मा ज्ञायक... आत्मा ज्ञायक... आत्मा ज्ञायक... (इसी खटक में रहता हुआ)। वह ज्ञान का रसकन्द है, ऐसा अप्रतिबुद्ध को भी गुरु द्वारा समझाने पर, (उसको) भी बारम्बार समझने में यह खटक रहती है। अन्दर आत्मा की समझ की खटक बारम्बार रहती है। एक घण्टा सुनकर निकाल दिया, बाद में दुकान पर 23 घण्टे धन्धे में फँस गया, ऐसा नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! इसको निरन्तर खटक रहा करती है। धन्धा-व्यापार....

**मुमुक्षु :** गुरुदेव! मेरी माँ! मेरी माँ! ऐसी खटक?

**समाधान :** हाँ...यह...यह...! आहा...हा...! मैं कौन हूँ? ऐसा जो गुरु के द्वारा कहा, वह बारम्बार इसे खटक में रहता है। देखो! यह समझने की रीति है। आत्मा को प्राप्त करने की यह विधि। अप्रतिबुद्ध होने पर भी, विरक्त गुरु ने इसको उपदेश दिया, (वह) उसे बारम्बार खटक में रहा करता है। आहा...हा...हा...! (एक) घण्टा सुनकर भूल गया और बाद में 23 घण्टे संसार के कार्य में एकाकार हो गया – ऐसे जीव को समझने की लायकात नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...हा...! थोड़े शब्दों में बहुत भरा है।

**निरन्तर समझाये जाने पर जो किसी प्रकार से...** आ...हा...हा...! अर्थात् **(महाभाग्य से)...** अर्थात् इसकी महा योग्यता से, 'भाग्य' शब्द (से आशय) कोई कर्म नहीं। इसकी पात्रता से **समझकर....** (यह) समझा। आहा...हा...हा...! अनादि का अप्रतिबुद्ध, अनादि का अत्यन्त अज्ञानी, अत्यन्त अज्ञानी (होने) पर भी, गुरु की कही हुई बात की खटक बारम्बार अन्दर अत्यन्त विचार श्रेणी में रखते हुए, 'अन्दर से ज्ञान आया' – समझ हुई। 'अरे...! मैं तो आनन्द हूँ, मैं तो ज्ञान हूँ; मेरी चीज में कोई दूसरी चीज है नहीं।' आहा...हा...! यह सम्यग्दर्शन की, अर्थात् जीव की पहली समझने की रीति की यह प्रक्रिया है। आहा...हा...!

समस्त प्रकार से **सावधान होकर...** समझकर सावधान हुआ। आ...हा...हा...! 'मैं तो आनन्द हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ' – ऐसी खटक अन्दर रहा करती है। उसकी समझ का अनुभव हो गया। समझ में आया? 38 (वीं) गाथा में बहुत गम्भीरता भरी है। आहा...हा...!

एक तो अनादि का मोह और अत्यन्त अप्रतिबुद्ध, इसको विरक्त गुरु ने निरन्तर समझाया; अतः निरन्तर समझ में और सुनने आयी, उस बात की निरन्तर खटक रहा ही करी, आहा...हा...! दूसरे कहीं भी प्रेम न करते हुए इसको आत्मा के प्रति प्रेम का झुकाव अन्दर हो गया। आहा...हा...हा...! बहुत सारभूत गाथा! जीव (अधिकार) की यह अन्तिम गाथा है। आहा...!

'किसी प्रकार से' समझा – ऐसा कहकर, काललब्धि भी इसकी आ गयी है – ऐसा सब कहते हैं। क्रमबद्ध भी आ गयी है। 'किसी प्रकार' से का अर्थ यह सब है। इसकी काललब्धि भी आ गयी है, इसके क्रम में यह आने का काल भी है; अतः किसी प्रकार समझकर सावधान हुआ। जो अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, वह अन्तर में आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप है, उसमें अत्यन्त सावधान हुआ। आ...हा...हा...! जीव को समझने की यह पहली कला और पहली पद्धति यह है। बाद में दूसरी बात – व्रत और चारित्र (ये) सब बाद में; पहले यह है।

(अब दृष्टान्त देते हैं) **सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो...** सुबह दाँतुन करते हुए, किसी के सोने के दाँत आदि होते हैं न? वह निकालकर और इस प्रकार हाथ में रखे हों और एक ओर हाथ में दाँतुन (होवे); एक ओर मुट्ठी में हाथ में सोना रखा हो और एक ओर दाँतुन करता हो (बाद में) भूल गया कि सोना कहाँ है? था मुट्ठी में, रखा हुआ मुट्ठी में; था नजदीक में और था इसके पास में। आहा...हा...! मुट्ठी में –ऐसी भाषा है न? कहीं अलमारी में रखा है कि ऐसा नहीं रखा है। नहीं तो यहाँ तो कितने ही दाँतुन करते हैं तो मकान के ऊपर होता है न, क्या कहते हैं? (मुमुक्षु) टोड़ा। टोड़ा.... टोड़ा तुम्हारा तो नाम भूल जाते हैं, वह टोड़ा में रखकर दाँतुन करते हैं। दाँतुन करते समय वह सोना होता है, उसको एक तरफ ऊपर कहीं रखे, यह यहाँ नहीं लिया। यहाँ तो मुट्ठी में रखा है। आ...हा...हा...! एक मुट्ठी में इस प्रकार सोना और एक हाथ से इस प्रकार दाँतुन करता है। आ...हा...!

**मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो...** मुफ्त का अपने यहाँ नहीं कहते? कि लड़का काँख में (हो) और भूल गया हो। लड़का काँख में हो और (ढूँढे कि) कहाँ गया?

कहाँ गया? यही है, किन्तु यह रहा। ऐसी बात करता है कि नहीं? लड़का काँख में और भूल जाता है। ऐसे ही मुट्ठी में रखा हुआ सोना, स्वयं का रखा हुआ, स्वयं भूल गया। आहा...हा...! है? **मुट्ठी में रखा हुआ** है न? रखा किसने? स्वयं ने। आहा...हा...! शब्द में गम्भीरता है। सोना स्वयं ने मुट्ठी में रखा, वह भूल गया था। **वह फिर स्मरण करके...** फिर स्मरण करके, आहा...हा...! अरे...! यह रहा। यह सोना यहाँ मेरे हाथ में है। याद करके वह सुवर्ण को देखे।

**उस सुवर्ण को देखे – इस न्याय से...** मुट्ठी में रखे हुए सुवर्ण को फिर से देखे इस न्याय से। यह न्याय! यह तो दृष्टान्त हुआ **अपने परमेश्वर...** आहा...हा...हा...! अपना परमेश्वर पूर्ण सामर्थ्य का धनी (है)। आ...हा...हा...! जिसको समझने के लिए पर की कोई अपेक्षा नहीं, पर की किसी मदद की जरूरत नहीं। आहा...हा...! ऐसा अपना परमेश्वर – परम सामर्थ्यवाला। कहा न? 'अपना परमेश्वर!' ऐसा कहा न? वीतराग सर्वज्ञदेव, ऐसा नहीं। 'अपना परमेश्वर! आहा...हा...! पूर्ण सामर्थ्य का धनी, पूर्ण बल का धनी, उसको भूल गया था। आहा...हा...!

**....आत्मा को भूल गया था; उसे जानकर,....** भूल गया था, उसे जानकर... स्वयं भूला था और स्वयं ने जाना – ऐसा कहकर, यह कहते हैं कि कर्म ने भूलाया और गुरु ने समझाया; इसलिए समझ गया – ऐसा नहीं है। स्वयं, स्वयं से भूला था; स्वयं, स्वयं से समझ गया। आहा...हा...! ऐसे शब्द अन्दर पड़े हैं।

**अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था; उसे जानकर, उसका श्रद्धान करके....** पहले जानने की बात ली है। अन्दर जानने में आया, अरे...! यह चैतन्य ज्ञानमूर्ति, राग और विकल्प और बाहर की वस्तु से तो भिन्न है। जिसकी सत्ता में पूर्ण परमेश्वरता भरी है। जिसकी सत्ता में राग आदि (और) पामर जीव का (पामरता का) तो अभाव है। राग आदि अथवा पर अजीव–जीव, पर जीव–पर अजीव इन सबसे खाली है। आहा...हा...! ऐसे **आत्मा को भूल गया था; उसे जानकर...** उसे जानकर (ऐसा कहा है)। देव को, गुरु को जानकर – ऐसा नहीं कहा। उसी प्रकार शास्त्र को जानकर – ऐसा भी नहीं कहा। आ...हा...हा...!

**मुमुक्षु :** गुरुदेव! हमें तो आपकी वाणी मिलने के बाद यह परिवर्तन हुआ – ऐसा लगता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह सीधा जाने, तब निमित्त कहा जाए, वजुभाई! ऐसा है। वह इससे (स्वयं से) जाने, तब वाणी को निमित्त कहा जाता है। निमित्त से जानने में आता है – ऐसा इसका स्वरूप नहीं है। क्यों? (क्योंकि) स्वयं सामर्थ्यवाला परमेश्वर कहा है न? पूर्ण सामर्थ्यवाला है, पूर्ण शक्तिवाला है। इसे पर की कोई अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा कहा न? **अपने परमेश्वर को...** परम ईश्वर! आ...हा...हा...! परम (अर्थात्) पूर्ण ताकत को धरनेवाला भगवान आत्मा, वह स्वयं अपने को भूल गया था, वह स्वयं अपने को जानता है। गुरु पर समझाने का निमित्त आया। समझाने में निमित्त कहा परन्तु (शिष्य) समझे, तब उनको निमित्त कहा जाता है। आहा...!

यों तो भगवान की वाणी तो समवसरण में अनन्त बार सुनी है। महाविदेहक्षेत्र में अनन्त बार जन्मा है। अनादि काल से अनन्त भव किये। अढ़ाई द्वीप में एक कण बाकी नहीं कि जिसमें अनन्त बार जन्म न हुआ हो। अरे...! अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्य द्वीप–समुद्र में भी एक कण बाकी नहीं, जहाँ कि अनन्त बार तिर्यंचरूप जन्म लेकर मरा न हो। अढ़ाई द्वीप में, अढ़ाई द्वीप और सभी क्षेत्र में अनन्त बार जन्मा और मरा है। महाविदेहक्षेत्र में भी, जहाँ तीर्थंकर का कभी भी विरह नहीं; साक्षात् परमात्मा विराजते हैं, उनकी हाजिरी में भी वहाँ गया परन्तु वहाँ ध्यान नहीं दिया। अपना ही ध्यान नहीं दिया। वह ऐसा कहते हैं, ऐसा कहते हैं – ऐसा कहकर सुना वही रखा। वहीं का वहीं रखा। आहा...हा...! अन्तर में उतारने के लिए जो साक्षात् (परिणमन) चाहिए, वह नहीं किया।

इसलिए कहते हैं कि अपने परमेश्वर को जानकर, आहा...हा...! अपना सामर्थ्यवाला भगवान (है)। वह तो बहुत बार कहा था, 'भगवान आत्मा' सभी को कहा है। सभी आत्माएँ अन्दर भगवानस्वरूप ही हैं परन्तु पर्याय में भूलकर पामर, नरक और निगोद में भटकता है। इस मिथ्यात्व के कारण / मिथ्यात्व ऐसी सूक्ष्म चीज है कि जिसके कारण साधु होकर नौवें ग्रैवेयक जाए, तथापि मिथ्यात्व टलता नहीं। अन्दर आत्मा की ज्ञानदशा बिना –

**मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,**
**पे निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥**

आहा...हा...! इसका अर्थ यह हुआ कि पाँच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण (का) व्यवहार, वह सब दुःख है, आस्रव है, दुःख है। ऐसा मुनिव्रत धारण (करने पर) भी आत्मज्ञान बिना सुख प्राप्त नहीं किया। उसका अर्थ यह कि यह सब दुःख है। आहा...हा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान! इस प्रकार ऐसे देश में ऐसी अन्तरंग की बातें! सुनना कठिन लगे। आहा...हा...! अनन्त बार शुभभाव की क्रिया करके, मुनि के पंच महाव्रत धारण करके, अनन्त बार नवमीं ग्रैवेयक के अनन्त पुद्गलपरावर्तन भव किए हैं। नौवीं ग्रैवेयक है। चौदह ब्रह्माण्ड पुरुष के आकार हैं, उसमें इसने ग्रीवा–गर्दन है, वहाँ पूर्व में अनन्त भव किये हैं। यह अनन्त बार नग्न मुनि हुआ, आत्मज्ञान बिना 28 मूलगुण पाले, आहा...हा...! ऐसी क्रियाकाण्ड से अनन्त भव किये। वहाँ से निकलकर मनुष्य हो, वहाँ से निकलकर तिर्यंच हो, वहाँ से निकलकर नरक में जाए। आहा...हा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं, अपने परमेश्वर को जानकर... आहा...हा...! इसने आत्मज्ञान किया। दूसरा ज्ञान भले न हो। आहा...हा...! परन्तु यह आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है, उसका इसने ज्ञान करके और **उसका श्रद्धान करके...** ज्ञान करके श्रद्धान (किया)। चीज क्या है? इसका ज्ञान अन्दर हुआ, तब श्रद्धा हुई कि यह आत्मा परमेश्वर है। भगवान परिपूर्णस्वरूप है। आ...हा...हा...! निवृत्त कब हो?

**उसका श्रद्धान करके और उसका आचरण करके...** देखो! कैसा लिया है? अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, उसने सम्यग्दर्शन, (ज्ञान) चारित्र को प्राप्त किया। एक साथ तीन को प्राप्त किया – ऐसा कहते हैं।

**मुमुक्षु :** एकसाथ?

**समाधान :** एकसाथ! अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था। अन्दर आत्मा की ताकत है। एक क्षण में केवलज्ञान लेने की ताकत है। तो (यहाँ) कहते हैं कि, वह अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, उसने भी ज्ञान प्राप्त करके, श्रद्धा करके, **उसका आचरण करके...** देखा? आचरण– आत्मा का आचरण। आत्मा में एकाग्रता की लीनता, यह आत्मा का आचरण (है)। पंच

महाव्रत की क्रिया आदि वह आत्मा का आचरण नहीं। आहा...हा...! बारह व्रत, पंच महाव्रत, भगवान की भक्ति और पूजा, ये कोई आत्म–आचरण नहीं। आ...हा...हा...! यह सब बाहर में जो चलता है, ये सब धमाल–धमाल, वह कोई आत्म–आचरण नहीं; (मात्र) शुभभाव है। अशुभ से बचने के लिए वह आता है। है... होता है... तथापि वह आत्म–आचरण नहीं। आत्म–आचरण तो पुण्य और पाप के भाव से भिन्न शुद्धस्वरूप परमात्मा स्वयं है, इस शुद्ध (स्वरूप में) लीनता, उसका नाम आत्म–आचरण है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** यह करना या नहीं करना?

**समाधान :** क्या करना? करना या नहीं करना (यह) नहीं, उसके काल में होना हो वह होता है, करता नहीं। सूक्ष्म बात है। यह सब बाहर का जो (होता) है, (वह) इसके क्रमबद्ध के काल में उन परमाणु की पर्याय उस प्रकार होने की होती है, (वह) वहाँ होती है। आत्मा उसका वास्तव में तो साक्षी और जाननेवाला है; कर्ता नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात है। लाखों रुपये–करोड़ों रुपये खर्च करे, मन्दिर बनवाये, वह कोई आत्म–आचरण नहीं। आहा...हा...! अरे! पंच महाव्रत पालन करे, वह आत्म–आचरण नहीं; आहा...हा...! आत्म–आचरण तो अन्दर राग से रहित वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा (है), अन्दर उस वीतरागता का आचरण, राग बिना का वीतरागता का अन्दर आचरण (करे), उसको यहाँ आत्मा का आचरण कहा जाता है। आहा...हा...हा...!

यह 38 वीं गाथ तो ऐसी है! जीव (अधिकार) की यह अन्तिम गाथा है। जीव अप्रतिबुद्ध था, वह जीव पूरा समझ गया, उसका यह जोड़ है। आहा...हा...! (स्वयं) समझ सकता है, समझने की ताकत है, पूर्ण बलवान है। अप्रतिबुद्ध था, फिर भी पूर्ण बलवान है और गुरु ने जैसे ही समझाया, वैसे स्वयं अपने अन्दर उतर गया। आ...हा...हा...हा...! अन्तर भगवान चैतन्य की ज्योति! चैतन्य का समुद्र! आनन्द का सागर भरा है। आ...हा...हा...! क्षेत्र भले शरीरप्रमाण चौड़ा (हो), तथापि भाव अन्दर अनन्त है। भाव अनन्त है। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता... अनन्त प्रभुता! एक–एक गुण में अनन्त प्रभुता, ऐसे अनन्त गुण – ऐसा जो यह भगवान

आत्मा! आ...हा...हा...! इसमें कहते हैं, आचरण में लिपट गया – वह निश्चय व्रत (है)। वह पंच महाव्रत आदि व्यवहार व्रत, वह तो विकल्प (है), पुण्यबन्ध का कारण (है)। यह निश्चय व्रत। स्वरूप में लीन हो गया। ज्ञान और दर्शन जो हुआ, उसमें लिपट गया और एकाकार हो गया। आ...हा...हा...!

थोड़ा सूक्ष्म है, भगवान! उसमें यह परदेश! अफ्रीका तो अनार्य देश जैसा देश! उसमें यह बात! समझना कठिन लगे, लेकिन अनादर नहीं करना। कठिन पड़े अर्थात् 'ऐसी (बात) हमारे नहीं होती, हमारे तो पहले अमुक होता है' – ऐसा नहीं करना। पहले यह ही हो। इस बिना जन्म–मरण का अन्त कभी भी आनेवाला नहीं। आहा...हा...! चौरासी लाख के अवतार! आहा...हा...! 'एक रे दिवस ऐसा आयेगा, मानो जन्मा ही नहीं था?' आहा...हा...! बड़ा मालिया और बड़े 5–5 करोड़ के मकान (छोड़कर) चद्दर तानकर सो रहा, चद्दर तानकर सो रहा... सगे-सम्बन्धी सब टकटक देख रहे हैं। अर...र...र...! 20 वर्ष का जवान चला गया है। स्त्री दो वर्ष की परिणीता हो, वह टकटक देखे और सुबक-सुबककर रोवे... उससे क्या हो? ऐसी स्थिति अनन्त बार हुई है। एक बार नहीं, किन्तु प्रत्येक प्राणी को स्त्री के भी (अनन्त अवतार हुए)। हीजड़ापने, हीजड़ा अर्थात् यह नपुंसक, नपुंसक (होते) हैं न? वैसे पुरुष जैसे दिखायी देते हैं (परन्तु) अन्दर नपुंसक! आहा...हा...!

एक गृहस्थ की पुत्री (ने दूसरे) गृहस्थ के वहाँ शादी की। यह बात बनी हुई है, नाम नहीं बताते। वहाँ वह लड़का निकला नपुंसक–हीजड़ा। आहा...हा...! कितने वर्ष का सम्बन्ध। 25–30 वर्ष का एक–दूसरे का सम्बन्ध, ऐसा विचारकर लड़के को कन्या दी। वह लड़का नपुंसक निकला, हीजड़ा! आहा...हा...! जिसकी इन्द्रिय थोड़ा भी काम नहीं करती। ऐसे अवतार भी धारण किये, प्रभु! आहा...हा...! ऐसे अनन्त अवतार किये हैं, परन्तु तेरा परमेश्वर पूर्ण सामर्थ्यवाला है। आहा...हा...! उसको देख, उसकी श्रद्धा (कर), उसका आचरण कर! आ...हा...हा...हा...! यहाँ तो 38 वीं गाथा का साराँश यह लिया है। जीव को समझाया तो जीव समझकर आचरण को प्राप्त हुआ। आहा...हा...!

**उसका श्रद्धान करके और उसका आचरण करके उसमें तन्मय होकर....**

अतीन्द्रिय आनन्द(स्वरूप) भगवान! उसमें तन्मय होकर, आ...हा...हा...! धन्य अवतार! जिसने अवतार सफल किया। जिसके जन्म–मरण का अन्त आया। यहाँ वह बात की है। आहा...हा...! ऐसे जीव को लिया है। वह जीव पा गया – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! न पाये ऐसी ताकत (नहीं)। इसमें पाये ऐसी ताकत भरी है।

'मात्र इसकी 'नजरने आलसे से अे नयणे न नीरख्या हरि!' 'नयणने आलसे रे नीरख्या न नयणो हरि'। हरि–आत्मा। 'पंचाध्यायी' में 'हरि' का अर्थ किया है। पंचाध्यायी है न? पण्डितजी! उसमें 'हरि' का अर्थ किया है। हरि अर्थात् अज्ञान और राग–द्वेष को हरे, वह हरि। ऐसा भगवान वह हरि है। प्रत्येक आत्मा हरि है। आ...हा...हा...! 'पंचाध्यायी' में है। अज्ञान और राग–द्वेष को हरनेवाला और ज्ञान एवं वीतरागता प्रगट करनेवाला – ऐसा वह परमेश्वर ताकतवाला है। जिसको राग और पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। आ...हा...हा...! परजीव के साथ तो कोई सम्बन्ध नहीं।

यह कहा था न? आत्मा (में) जो पर्याय (अर्थात्) अवस्था है; द्रव्य–गुण तो त्रिकाल है – द्रव्य और गुण वह त्रिकाल है, परन्तु वर्तमान पर्याय–अवस्था है, उसमें स्त्री, कुटुम्ब–परिवार, लक्ष्मी, इज्जत है ही नहीं। वह तो उनमें है। यहाँ कहाँ थी? पर्याय में नहीं। इसकी पर्याय में (भी) नहीं। आहा...हा...! और उन्हें 'मेरा' मानकर मूर्ख चार गति में भटक रहा है। जो इसकी पर्याय में नहीं; इसके द्रव्य-गुण में तो नहीं–द्रव्य त्रिकाली, गुण त्रिकाली, उसमें तो नहीं, परन्तु इसकी वर्तमान दशा में, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार नहीं है। बराबर है? भगवानजीभाई! लड़का–(फड़का) कोई नहीं पर्याय में? इसकी पर्याय में हो तो राग–द्वेष और अज्ञान (है)। मिथ्यात्व और राग–द्वेष – तीन इसकी पर्याय में है; बाकी दूसरी कोई चीज इसकी पर्याय में नहीं। आहा...हा...! ....भाई! ऐसा है, भगवान! आहा...हा...! प्रभु! इसका द्रव्य तो त्रिकाल है, गुण ध्रुव त्रिकाल है, वर्तमान अवस्था जो पर्याय है, (जो) बदलती है, उस पर्याय में तीन काल में, तीन लोक में स्त्री, कुटुम्ब–परिवार, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत, इसकी पर्याय में नहीं। आहा...हा...! वह (उल्टा) मानता है – वह मिथ्यात्व और राग–द्वेष इसकी पर्याय में है। तो इसको मिथ्यात्व और राग–द्वेष दूर करना है।

पर का त्याग और ग्रहण, यह आत्मा में है ही नहीं। यह क्या कहा? आत्मा में अनन्त गुण हैं, उसमें एक ऐसा गुण है कि 'त्याग–उपादान शून्यत्व शक्ति।' पर का त्याग और पर

का ग्रहण – इनसे भगवान शून्य है। अज्ञानी का आत्मा भी इससे शून्य है। आ...हा...हा...! कब विचार किया है इसने! जो परवस्तु है – स्त्री, कुटुम्ब–परिवार, इज्जत, पत्नी, लड़का, मकान, अलमारी, गहने, कोई चीज इसकी पर्याय में है ही नहीं। इसकी पर्याय में 'वह मेरे हैं, मैं इनका हूँ' – ऐसा मिथ्यात्व और राग–द्वेषभाव है। आहा...हा...! उनको यहाँ टाला है – ऐसा कहते हैं। पर्याय में जो राग–द्वेष और मिथ्यात्व था, वह द्रव्यबुद्धि, ज्ञायक (स्वरूप की) बुद्धि करके इनको दूर किया है।

इसलिए, आ...हा...हा...! **जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ....** आहा...हा...! 'सम्यक् प्रकार से' शब्द क्यों लिया है? कि ग्यारह अंग को जानने में वह बात इसको आयी थी, किन्तु अन्दर में नहीं गया था। आहा...हा...! समझ में आया? ग्यारह अंग का ज्ञान (अर्थात्) एक अंग में 18,000 पद, एक पद में 51 करोड़ से अधिक श्लोक, ऐसा–ऐसा आचारांग...! दुगने, ठाणांग दुगने। दुगने–दुगने (करते जाओ अर्थात्) 18000, 36,000, 72,000 ऐसे डबल। ऐसे ग्यारह अंग का जाननपना किया, तथापि 'सम्यक् प्रकार से' आत्मा को नहीं जाना। आ...हा...हा...! अतः यहाँ शब्द लिया है कि 'सम्यक् प्रकार से।' (अर्थात्) जैसा इसका स्वरूप है, उस प्रकार श्रद्धा–ज्ञान और आचरण किया। आ...हा...हा...!

सम्यक् अर्थात् जैसा सत्य है, जैसा वह सतस्वरूप प्रभु है, इस प्रकार ज्ञान, श्रद्धा और आचरण किया, तब उसने दर्शन–ज्ञान–चारित्र को प्राप्त किया; तब उसने आत्मा के आचरण को प्राप्त किया। आहा...हा...!

**सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ...** 'एक' शब्द क्यों लिया? देखा? 'एक आत्माराम हुआ' (अर्थात्) गुण–गुणी का भेद भी अब नहीं रहा। आ...हा...हा...! परवस्तु तो नहीं, राग–द्वेष और मिथ्यात्व तो नहीं, परन्तु गुण–गुणी का भेद नहीं। 'एक आत्माराम!' आ...हा...हा...! बहुत सारभूत वस्तु आयी है। गाथा बहुत सारभूत है। एकरूप आत्मा, त्रिकाल आनन्द का नाथ द्रव्यस्वरूप प्रभु! वह द्रव्यरूप–एकरूप द्रव्यरूप हुआ। उसको यह आनन्द और (यह) आत्मा – ऐसा भेद भी लक्ष्य में रहा नहीं। आहा...हा...! तब वह मोक्षमार्ग को पाया, तब उसकी अल्प काल में मुक्ति होनेवाली है, संसार का परिभ्रमण मिटनेवाला है। आहा...हा...!

**सम्यक् प्रकार से आत्माराम हुआ...** आत्माराम हुआ। आहा...हा...! 'निजपद में रमें, उसे राम कहते हैं।' निजपद में रमे उसे 'राम' कहते हैं। उसे आत्माराम कहते हैं। यों तो 'आत्माराम' नाम तो कई के होते हैं, वह आत्माराम नहीं। निज आत्मा में.... आहा...हा....! एक ही द्रव्य में रमणता (होने पर) एक आत्माराम हुआ, द्वैतपना नहीं रहा। आहा...हा...! आत्मा और ज्ञान – ऐसे दो प्रकार भी लक्ष्य में नहीं रहे। दृष्टि में अकेला आत्माराम (आया)! आहा...हा...! सूक्ष्म बात है प्रभु! परन्तु बात सत्य है। यह करने पर ही छुटकारा है; नहीं तो यह जन्म–मरण के (फेरे नहीं मिटेंगे), आहा...हा...!

अभी तो एक (प्रसंग बना)। 'सोनगढ़' में अस्पताल में एक डॉक्टर था। वह बैठा था, उसमें एक नागिन निकली, उसको मालूम नहीं कि यह नीचे नागिन (है) इसका पैर नागिन के ऊपर आया। इसको उसने डसा (और) वहीं का वहीं मर गया। नागिन को सुरक्षित रखा। नागिन के ऊपर पैर पड़ा, अन्धकार का समय (था)। डॉक्टर बहुत होशियार था। पैर पड़ा इसलिए (नागिन ने डसा और) तुरन्त... देह छूट गया। उस नागिन को लोगों ने (बचाया) उपचार किया। आर्य लोग हैं वास्तव में! इसलिए ऐसा हुआ कि भाई (पैर) आ गया परन्तु अब इसे मार डालना ये ठीक नहीं, अपने को शोभता नहीं, इसलिए पैर का दबाव हुआ था, (उसका उपचार करके) नागिन को बचा लिया। वह तो यह पर्याय उसकी उस काल में होने की थी, वह हुई है। आहा...हा...! समझ में आया? किसी ने उसे बचाया है या (डॉक्टर) नागिन के कारण मरा है – ऐसा नहीं। देह छूटने के समय का काल ही था। आहा...हा...! और उस नागिन के वहाँ बचने का समय ही था। सोनगढ़ के पास है न? क्या कहते हैं?

**मुमुक्षु :** जिथरी हॉस्पीटल? टी.बी. का हॉस्पीटल!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** जिथरी, बड़ा हॉस्पीटल! टी.बी. का हॉस्पीटल है न।

**मुमुक्षु :** डॉक्टर भी मर जाता है, गुरुदेव?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** डॉक्टर मर गया। वह डॉक्टर कहता है, डॉक्टर लाओ। आहा...हा...! काटा और साथ ही वह मर गया और नागिन जीवित रही। डॉक्टर मर गया, तुरंत मर गया। नागिन का जहर (चढ़ गया) पैर आया न (इसलिए) डंक मारा पैर में। उड़ गया... समाप्त।

'भावनगर' का एक डॉक्टर, हेमन्तकुमार। पाटनी का रिश्तेदार। पाटनी था न पाटनी? प्रभाशंकर पाटनी, उसका रिश्तेदार। अस्पताल का बड़ा डॉक्टर! सर्जन! वह किसी का ऑपरेशन कर रहा था। उसने एकदम कहा – 'मुझे कुछ हो रहा है' यह मुझे हो रहा है (ऐसा कहा और) वहाँ कुर्सी पर बैठा, डॉक्टर उड़ गया। आहा...हा...! डॉक्टर भी क्या करे? डॉक्टर किसे बचाये? अपने को बचा सकता नहीं। जिस समय देह छूटने का प्रभु! वह समय नक्की (निश्चित) है। उस समय देह छूट जाना है। बड़े हास्पीटल का सर्जन हो या महीने की लाख रुपये की वेतनवाला हो। बड़े–बड़े डॉक्टर हो, आहा...हा...! जिसके लाख–लाख रुपये का वेतन हो (उसकी भी) एक क्षण में देह छूटनेवाली है। आहा...हा...! समय आया, देह छूट जाए एकदम से। एक आत्माराम नित्य ध्रुव है, उसको पकड़। इसको पकड़ और इसका ज्ञान और इसकी श्रद्धा कर और इसका आचरण कर। महाव्रतों का आचरण कर, वह इसमें नहीं कहा। आहा...हा..! वह बीच में आ जाते हैं, परन्तु आचरण आत्मा का कर। आहा...हा...!

आत्मा तो स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, नपुंसक नहीं, तिर्यंच नहीं, मनुष्य नहीं, देव नहीं, नारकी नहीं, कीड़ा नहीं – ये सब जड़ के लक्षण हैं। भगवान आत्मा.... आ...हा...हा...! पूर्णानन्द के नाथ को अन्दर पहचानकर श्रद्धा की, आचरण किया (और) आत्माराम हुआ। जो रागराम था, आत्मा में हराम था, राग में कुशल था। दुनिया के समझदार कहलाते हैं न? दुनिया के समझदार... वह दुनिया के समझदार। दुनिया में गहरे जानेवाले हैं! गहरे भटकने जानेवाले हैं! आ...हा...हा..! वहाँ दुनिया की समझदारी थोड़ी भी काम आये ऐसा नहीं। आहा...हा...! कठिन काम है। जेठालालभाई! यह तो सत्य बात है, भाई! कान में पड़नी चाहिए। ऐसी बात है, बापा! उसे जाना है! आहा...हा...! आहा...हा...! ऐसी बात कहाँ है?

(यहाँ) कहते हैं कि यह **आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ...** देखा? आत्माराम हुआ ऐसा (मैं) अनुभव करता हूँ। **मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि : मैं तो चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ...** मैं तो चैतन्य, ज्योतिरूप आत्मा हूँ! आहा...हा...! उसमें सभी गुण साथ में आ गये। चैतन्यमात्र ज्योति में अविनाभाव में अनन्त गुण साथ हैं,

वे आ गये परन्तु चैतन्य की प्रधानता–असाधारण स्वभाव है; (इसलिए ऐसा कहा कि) मैं तो चैतन्यमात्र ज्योति हूँ। आहा...हा...! राग नहीं, विकल्प नहीं, अल्पज्ञता नहीं। अल्पज्ञता नहीं, राग नहीं, राग का फल पुण्य नहीं, पुण्य का फल यह बाहर की धूल, वह मैं नहीं। आ...हा...हा...! मैं तो एक चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ **कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;...** आहा...हा...! कितनी बात रखी है! जो मेरे ही अनुभव से, 'मेरे ही अनुभव से'! आहा...हा...! किसी गुरु, देव और शास्त्र से नहीं। आहा...हा...! मेरे ही अनुभव से... आहा...हा...! मैं चैतन्य ज्योति हूँ, जो मेरे ही अनुभव से... है न? **मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;...** मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है! आहा...हा...! गाथा बहुत अलौकिक! **मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;...** आहा...हा...!

अब कहते हैं कि मैं कैसा भिन्न हूँ? किससे (भिन्न हूँ)? मैं तो चैतन्यमात्र ज्योति हूँ, लेकिन किससे भिन्न हूँ? – इसका ज्ञान कराते हैं। **चिन्मात्र आकार के कारण...** (अर्थात्) मैं तो ज्ञानमात्र आकारवाला चैतन्यस्वरूप (हूँ), इसके कारण **क्रमरूप तथा अक्रमरूप...** क्रमरूप अर्थात? गति क्रमरूप है; एक के बाद एक गति (आती है), वह क्रमरूप है और अक्रमरूप अर्थात? योग और लेश्या और ज्ञान अक्रम (अर्थात्) एक साथ है। अक्रम अर्थात् पर्याय अक्रम करे, वह बात यहाँ नहीं। पर्याय तो क्रमबद्ध ही है। यह अक्रम अर्थात? क्रम अर्थात् कि गति एक के बाद एक (आये) वह क्रमरूप (कहा जाता है) वह भी मैं नहीं और अक्रम अर्थात् योग, लेश्या, कषाय और ज्ञान एक साथ होते हैं, वह भी पर्याय (है) परन्तु इतना भी मैं नहीं।

यह क्रमबद्ध के सामने अक्रमबद्ध आया! वह क्रमबद्ध के सामने अक्रम नहीं। वह तो अक्रम (भी) क्रम से ही है। क्या कहा? एक के बाद एक गति है, वह क्रम से ही है, लेकिन क्रम से (गति होने) के काल में, योग, लेश्या, कषाय, राग आदि एक साथ है, है तो पर्याय में, है तो क्रमबद्ध में आनेवाले, लेकिन एक साथ है, इनको अक्रम कहते हैं। एक साथ हैं, इसलिए अक्रम कहते हैं और गति एक साथ नहीं तो उसको क्रम कहते हैं। समझ में आया? क्रम–अक्रम में ऐसा नहीं कि क्रमबद्ध है और अक्रमबद्ध भी है, ऐसा नहीं। आहा...हा...! अक्रम अर्थात् एकसाथ योग, लेश्या, कषाय, एक साथ होती (है) इस

कारण इनको अक्रम कहा जाता है और एक के बाद एक गति होती है, उसको क्रम कहा जाता है। वह क्रमरूप और अक्रमरूप, वह मैं नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

**मैं समस्त क्रमरूप...** मेरे भगवान आत्मा का चैतन्य आकार (होने के) कारण मैं समस्त क्रमरूप गति (आदि से भेदरूप नहीं होता) (क्रमरूप अर्थात्) एक के बाद एक गति होती है। वह–क्रोध के बाद मान, मान के बाद लोभ, वह सब क्रम कहलाता है। लेकिन एक साथ क्रोध, लेश्या और योग (होते हैं), वह अक्रम कहलाता है। इसमें कुछ समझ में आता है। क्रमवर्ती इसमें कुछ बदलता नहीं। क्रमबद्ध जो है, वह तो क्रमबद्ध ही है। यह अक्रम कहा है, वह भी क्रमबद्ध में है परन्तु एक साथ है; इसलिए अक्रम कहा है। योग है, लेश्या है, राग है, इन्द्रिय है, भावेन्द्रिय है, वह सब एक साथ है। एक साथ है, इसलिए अक्रम कहा। परन्तु है तो क्रमबद्ध में ही आया हुआ। आहा...हा...! समझ में आया इसमें? सब क्रमबद्ध कहलाता है, इसलिए यह अक्रम आया न? क्रमबद्ध! समय–समय में क्रमबद्ध होता है; उल्टा-सीधा नहीं होता – तो यह अक्रम आया न? परन्तु इस अक्रम की व्याख्या दूसरी है। एक साथ योग और लेश्या आदि हैं, इस कारण अक्रम कहा और गति एक के बाद एक (होती है) – मनुष्य गति (बाद में) देव, देवगति (बाद में) नारकी... वह गति एक समय में दो नहीं होती, इसलिए वह गति एक के बाद एक होती है, इसलिए उसे क्रम कहते हैं और योग और लेश्या एकसाथ होते हैं, उसे अक्रम कहते हैं। हैं तो दोनों क्रम–क्रमबद्ध उत्पन्न होते हैं। झवेरचन्दभाई! अक्रम आया? अक्रम में क्रमबद्ध मिथ्या पड़ जाएगा – ऐसा नहीं। इस अक्रम (का) ऐसा अर्थ नहीं। अक्रम का अर्थ – एक साथ ज्ञान की पर्याय, योग की पर्याय, राग की पर्याय एक साथ है, उसे अक्रम कहते हैं और गति एक साथ नहीं होती; नरक के समय मनुष्य नहीं, मनुष्य के समय देव नहीं, अतः 'क्रम' (कही जाती है)।

**समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान....** है? **व्यावहारिक भावों से भेद नहीं होता...** आहा...हा...! ऐसे क्रमरूप और अक्रम(रूप) भावों से भेदरूप नहीं होता, मैं तो अभेद हूँ। भले एक साथ योग और लेश्या (हो) (और) गति (एक के बाद एक) हो (तो भी) मैं तो अभेद एकाकार हूँ। ऐसे भेद से मैं भेद(रूप) नहीं होता।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## प्रवचन–10, गाथा–38

('समयसार' 38 वीं गाथा चल रही है)। अनन्त–अनन्त ज्ञान आदि सम्पदा से भरा हुआ पदार्थ है। इस देह से भिन्न, देह को जाननेवाला, (तथापि) देहरूप नहीं। (जब) देहरूप नहीं तो दूसरी चीजरूप तो यह है (ही) नहीं। वह तो ज्ञानानन्द सहजानन्दस्वरूप है। आहा...हा...! ऐसा जो ज्ञानानन्दस्वभाव, उसको भूलकर, अनादि से राग और द्वेष, पुण्य और पाप (के) ऐसे भाव करके, चौरासी के अवतार आत्मा कर रहा है। वह दुःखी है; इसकी उसे खबर नहीं, क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् – कायम रहनेवाला ज्ञान और आनन्द, वह इसका त्रिकाली स्वभाव है। उसकी इसे खबर नहीं। बाहर की खबर में – चतुराई (के) समुद्र में डूब गया है। बाहर में पुण्य और पाप और उसके फल में (मिली) यह धूल 5–25 करोड़, अरब या दो अरब (रुपये) मिले, वह धूल और पत्नी–बच्चों में रुक गया, परन्तु मैं कौन हूँ? मेरी वस्तु में क्या है? मैं कितनी सम्पदावाला हूँ? मेरे में कितनी ऋद्धि और समृद्धि है? उसका इसने एक समय भी कभी भी विचार किया नहीं। आ...हा...हा...! अनादि से इसने यह विचार किया नहीं, बाकी सब बाहर का (करना माना है।) मैं करूँ... मैं करूँ... ऐसा अज्ञान में माना है। सूक्ष्म बात है, प्रभु!

पर देह में आत्मा.... सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वरदेव, जिनको तीन काल का ज्ञान है (वह) वर्तमान में विराजते हैं – महाविदेह में 'सीमन्धर' प्रभु विराजते हैं। तीन काल, तीन लोक का ज्ञान है। (ऐसे) बीस तीर्थंकर विराजते हैं। उनके श्रीमुख से जो दिव्यध्वनि आयी, दिव्य अर्थात् प्रधान वाणी; उसकी रचना इसमें हुई है। क्योंकि 'कुन्दकुन्दाचार्य' जो मुनि थे, वह संवत् 49 में वहाँ गये थे। बात कैसे मानी जाए? वहाँ आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर यह सब रचना की है। इसमें 38 वीं गाथा (में) जीव की पूर्णता कैसे हो? और अपूर्णता में वह कैसा मान रहा है? – वह बात भगवान के श्रीमुख से निकली हुई है, वह बात यहाँ कही गयी है। अपने एक बात (हो) गयी है। (अब) एक दूसरी बात है। यहाँ से लेना है।

**नर, नारक आदि जीव के विशेष...** है अन्दर? आहा...! यह मनुष्यपना,

नारकीपना... नीचे है, देव और तिर्यंच – यह तिरछे (प्राणी)। यह मनुष्य ऐसे ऊँचे हैं और तिर्यंच (ऐसे आड़े हैं)। कषाय की वक्रता बहुत की – क्रोध, मान, माया, लोभ, राग; उसमें ये रहे, (उस कारण) वह तिर्यंच होते हैं। तिर्यंच अर्थात् तिरछा, जिनका शरीर आड़ा (है)। सिंह, बाघ, छिपकली, गाय, घोड़ा (इनके) ऐसा आड़ा शरीर होता है। मनुष्य ऐसे सीधे हैं। ऐसे भव भी अनन्त बार किये और तिर्यंच के भी अनन्त अवतार किये। अरे...! स्वर्ग के भी अनन्त अवतार किये, प्रभु! परन्तु इस देह में भगवान सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध कौन है? उसकी कभी भी उसने नजर की नहीं!! उसकी सम्भाल कभी की नहीं। वह यहाँ कहते हैं।

**नर...** नर अर्थात् मनुष्यदेह। **नारकी...** नीचे नरक है। एक मनुष्य को मारे तो राज में उसकी व्यवस्था एकबार फाँसी देने की होती है परन्तु 25 व्यक्तियों का खून किया हो तो अभी उसको 25 (खून) का फल देने की वर्तमान शासन में क्या व्यवस्था है? इस कुदरत में इसकी व्यवस्था है। नरक एक (क्षेत्र) है, नरक! नारकी! उसमें जितने इसने पाप किये, उतने ही प्रमाण में दुःख (भोगने का) जो स्थान है, उस स्थान को नरक–स्थान कहते हैं। नीचे नरक–स्थान है। वहाँ भी जीव अनन्त बार गया है। यह नर, नारकी, मनुष्य... मनुष्य का भव अनन्त बार हुआ है। अरबोंपति अनन्त बार हुआ।

अभी एक बार बात नहीं की थी? गोवा में एक (शान्तिलाल खुशाल) थे। हमारे पास आते थे, उनके पास दो अरब चालीस (करोड़) – अढ़ाई अरब रुपये थे। अढ़ाई अरब रुपये! क्या करे? 60 लाख का मकान था, एक बँगला 40 लाख का, 10–10 लाख के दो। स्त्री को कहीं कुछ.... क्या कहते हैं? (मुमुक्षु : हेमरेज) हेमरेज, हेमरेज हुआ और बम्बई आये। बम्बई में वहाँ 3–4 दिन रहे और अब बाई को हेमरेज असाध्य था। उसमें उसके अन्दर एकदम हुआ! आया.... 61 वर्ष की उम्र थी। अढ़ाई अरब रुपये थे। 60 लाख के तो तीन मकान थे... धूल में। यह मुझे दर्द है... कहा 'डॉक्टर को बुलाओ', जब डाक्टर आता है, तब भाईसाहब देह छोड़कर अवस्था पूरी हो गई, प्रभु! ये सब पड़ा रहा और जो परिणाम ममता के किये थे, उस ममता के परिणाम के फलरूप चार गति में भ्रमण करने को चला गया! आहा...हा...! ऐसा मनुष्य का भव मिला, उसमें यदि आत्मा

का कुछ नहीं किया तो इसके अवतार का अन्त कभी भी आये ऐसा नहीं। वह यहाँ कहते हैं। (ऐसे) मनुष्य के भव अनन्त किये, नारकी के किये, देव (के किये), तिर्यंच के किये। वह **नर, नारक आदि...** है न? **जीव के विशेष...** (अर्थात्) जीव की विशेष अवस्थाएँ। सामान्य जो त्रिकाल (स्वरूप) है, उसकी खबर बिना (अनेक भव किये)। जरा सूक्ष्म बात है, प्रभु! जीव की विशेष अवस्थाएँ – मनुष्यपना, तिर्यंचपना, नारकीपना, देवपना – ऐसे विशेष जीव को अनन्त बार हो गये, परन्तु इसको अन्दर आत्मा विशेष रहित (सामान्य स्वरूप) अलग है, (उसका ज्ञान नहीं किया)। जिसकी सत्ता में – जिसके अस्तित्व में यह ज्ञात होता है, यह जाननेवाला, जानने में आता है, उससे अलग है। जाननेवाला जिसकी सत्ता में – जिसकी मौजूदगी में यह सब जो ज्ञात होता है, उनसे वह जाननेवाला (अलग है)... ज्ञात होनेवाली वस्तु से वह अलग है। ऐसा इसने विशेष(रूप) मनुष्यपना आदि अनन्त बार मिला। वह कहते हैं।

**नर, नरक आदि जीव के विशेष....** वे अनन्त बार मिले। **अजीव...** (अर्थात्) यह जड़ शरीर, यह वाणी, यह मिट्टी–धूल है। कहीं कील लगे तो कहीं, क्या कील जंगवाला, लोग कहते हैं, बोलते हैं – 'मेरी मिट्टी पकनेवाली है, पानी छूने नहीं देना।' तब ऐसा बोलता है 'मेरी मिट्टी पकनेवाली है' ऐसी यह मिट्टी है, यह तो मिट्टी है। भगवान तो अन्दर मिट्टी को जाननेवाला चैतन्य भिन्न है। आहा...हा...! ऐसा जानने का कार्य इसने कभी किया नहीं। आहा...हा...! बाकी तो अरबों के अरबों (मिले) – ऐसा पैसावाला अनन्त बार हुआ; सौ बार माँगे और एक बार ग्रास मिले – ऐसा भिखारी अनन्त बार हुआ। ये सब विशेष दशाएँ हैं। इन विशेषों में पूरा त्रिकाली तत्त्व आता नहीं – ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! इन विशेषों से अन्दर आत्मा अलग है। कैसे बैठे? कभी भी विचार ही नहीं किया हो। आहा...हा...! शरीर, पैसा, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा, कीर्ति, मकान, धूल, वह सब अजीव है। वे अजीव 'आत्मा' नहीं। अजीव में आत्मा नहीं; अजीव, जीव में नहीं; जीव, अजीवरूप हुआ नहीं। अजीव, जीवरूप हुआ नहीं। अजीव, अजीवरूप रहा है। वह अजीव विशेष है।

**पुण्य...** दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का पुण्य अनन्त बार किया है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है प्रभु! इसने शुभभाव विशेषरूप से अनन्त बार मनुष्य में, स्वर्ग में, तिर्यंच में

भी अनन्त बार पुण्य किया है, परन्तु वह पुण्य कोई आत्मा नहीं; पुण्य तो एक शुभभाव है, वह तो विकार है। विकार से प्रभु अन्दर भिन्न वस्तु है। आहा...हा...! यह पुण्य (हुआ), **पाप...** हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, परिग्रह, आहा...हा...! ऐसा जो पाप, वह भी अनन्त बार किया है। यह वस्तु पैसा आदि जो कुछ भी मिलता है, वह पूर्व के पुण्य के कारण (मिलता) है परन्तु मिली हुई चीज है, वह पाप है। वास्तव में भगवान जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ ने सिद्धान्त में उसे – (परिग्रह को) पाप कहा है। मिला है पुण्य से, परन्तु वह वस्तु पाप है। उस पाप से भी आत्मा भिन्न है। आ...हा...हा...! वह पाप एक विशेष दशा है। भगवान ध्रुव चिदानन्द प्रभु, जिसकी आदि नहीं, अन्त नहीं – ऐसी नित्य चीज (है), वह सब विशेषभाव है, इनसे अलग है। आहा...हा...! पुण्य–पाप से अलग है? कैसे बैठे?

है? **आस्रव...** वह शुभ और अशुभभाव दोनों आस्रव है। आस्रव अर्थात् जैसे नाव में छिद्र हो और नाव में पानी आए; इस प्रकार भगवान में पुण्य और पाप के भाव हैं, वह आस्रव है। इनसे नया आवरण आता है, (इसलिए उससे) धर्म नहीं, लाभ नहीं। नये आवरण आये, उसे आस्रव कहते हैं। उसका भी सेवन अनन्त बार किया है। आहा...हा...! **संवर...** थोड़ी सूक्ष्म बात है प्रभु! संवर अनन्त बार किया नहीं, परन्तु संवर भाव आता है, वह पर्याय है। संवर अर्थात् पुण्य–पापरहित भाव, वह अनन्त बार किये नहीं, तथापि वह आता है, वह विशेष दशा है। आत्मा इस विशेष से भिन्न अन्दर अलग है। आहा...हा...! यह कैसे बैठे? कभी भी सुनने को नहीं मिला या करने को नहीं मिला। आहा...हा...!

यहाँ तो 72 वर्ष से यह बात चलती है। इस शरीर के 91 हुए। शरीर के 91 वर्ष हुए। दुकान में भी मैं तो यही पढ़ता। 'पालेज' में बड़ी दुकान है 'भडूच' और 'बडौदा' के बीच 'पालेज' है, वहाँ दुकान है। पैसा है, 40 लाख रुपये हैं। 4 लाख की कमाई है, 67 वर्ष पहले मैं वहाँ दुकान चलाता था, लेकिन बाद में **पूर्व के संस्कार थे, (उस कारण) कोई रुचा नहीं, कहीं पर रुचा नहीं।**' और भगवान आत्मा अलग कौन है? उसके लिए मुझे तो अब दीक्षा लेनी है। पिताजी स्थानकवासी थे न! पिताजी स्थानकवासी थे। उसमें जन्मा था। उसमें दीक्षा ली, परन्तु उसमें तत्त्व की मूल बात सुनने को नहीं मिली थी। आहा...हा...!

संवर! (अर्थात्) पुण्य और पाप के भाव से रहित दशा, वह भी विशेष अवस्था

(है), इससे प्रभु अन्दर भिन्न है; सामान्य ध्रुव है। आ...हा...हा...! कैसे बैठे? कहाँ गरज (है)? संवर से भिन्न आत्मा (कहा)। पण्डितजी! पुण्य और पाप के भाव नहीं करके, धर्मदशा की, संवरदशा की, फिर भी वह दशा है, वह अवस्था है; वह त्रिकाली वस्तु नहीं। आहा...हा...! (यह) संवर कहा।

**निर्जरा....** वह कर्म की निर्जरा। आत्मा में शुद्ध (स्वरूप) का भान होने पर (द्रव्यकर्म का खिर जाना, उसे निर्जरा कहते हैं) सच्चिदानन्द (प्रभु), उसकी अनन्त सम्पदा अन्दर है। (परन्तु) नजर किये बिना निधान नजर में आया नहीं। इसकी अन्दर नजर किये बिना निधान नजर में आया नहीं। निर्जरा हुई, एक समय की निर्जरा हुई परन्तु उसकी उस निर्जरा में पूरा आत्मा नहीं आता। आहा...हा...! यह तो बहुत सूक्ष्म बात, बापू...। वह (निर्जरा) धर्मी को होती है, परन्तु धर्मी की दशा (दृष्टि) उस संवर–निर्जरा पर नहीं होती। क्या कहा यह? अन्दर संवर और निर्जरा धर्म हुआ, पुण्य और पाप भाव से भिन्न पड़कर निर्मल अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, (वह निर्जरा हुई)। प्रभु अतीन्द्रिय आनन्दमय है। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। आहा...हा...! जैसे शकरकन्द है, वह मिठास का पिण्ड है, वैसे ही यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। उनमें संवर और निर्जरा तो विशेष है। धर्मी की संवर–निर्जरा की (विशेष पर्याय) पर भी दृष्टि नहीं। आहा...हा...! गजब बात है! क्योंकि वह विशेष दशा है।

सामान्य त्रिकाली ध्रुव! जैसे सोना एकरूप त्रिकाल है, उसके कुण्डल, कड़ा (आदि) विशेष अवस्थाएँ हैं। उस अवस्था जितना सोना नहीं। वेसे ही यह संवर, निर्जरा (विशेष दशा है) और आस्रव – पाप और पुण्य तो विकार है; संवर और निर्जरा वह विकारी दशा है, तथापि उस दशा जितना आत्मा नहीं। आहा...हा...! वह तो एक समय की दशा है। ऐसा सूक्ष्म है, प्रभु! आहा...हा...! अन्दर देहदेवल में चैतन्य अनन्त सम्पदा से भरा हुआ भण्डार भगवान है।

कहते हैं कि वह संवर–निर्जरा जो धर्म हुआ, उस धर्म की दशा से भी (आत्मा भिन्न है)। (धर्मदशा), वह पर्याय है, अवस्था है; वस्तु–द्रव्य इनसे अलग चीज है। आहा...हा...! अभी तो शरीर से भिन्न मानने में पसीना आता है। आहा...हा...! शरीर से अलग! यहाँ तो

कहते हैं कि संवर–निर्जरा की पर्याय से (अलग है)। (क्योंकि) वह विशेष है। विशेष अर्थात्? एक समय की अवस्था है और वस्तु त्रिकाल ध्रुव है। उस सम्यग्दृष्टि की दृष्टि, संवर–निर्जरा होने पर भी, उसके ऊपर नजर नहीं। आ...हा...हा...! यह क्या कहते यह?

भगवन्त! संवर–निर्जरा, वह धर्मदशा है। (उसमें तो) उसमें तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। यह जो राग का स्वाद है, वह तो दुःख का स्वाद है। राजा, महाराजा, देव, करोड़ाधिपति या अरबपति सभी दुःखी प्राणी हैं। वह सब राग में रंगे हुए हैं। राग में रंगे हुए वे दुःख में रंगे हुए हैं। उनको सुख का अंश–गन्ध नहीं। उस दुःख से पार (रहा हुआ) आत्मा का ज्ञान जिसको हुआ, उसे ज्ञान में जो आनन्द आया, उस आनन्द की अवस्था पर भी धर्मी की दृष्टि नहीं; धर्मी की दृष्टि त्रिकाल ज्ञायक के ऊपर है क्योंकि पर्याय है वह तो पलटती... पलटती... बदलती अवस्था है। नहीं बदलनेवाला (तो) ध्रुव भगवान अन्दर चिदानन्द अन्दर प्रभु (है)। आहा...हा...! कठिन लगता है (किन्तु) वस्तु यह है।

है? संवर और निर्जरा। निर्जरा अर्थात्? 'नि' विशेष झरना। अशुद्धता का टलना, कर्म का गलना और शुद्धता – पवित्रता का प्रगट होना, उसको निर्जरा कहते हैं परन्तु वह निर्जरा विशेष दशा है; त्रिकाल द्रव्य नहीं। आहा...हा...! वह... वह... वह... वह... यह... यह... यह... यह... यह... ऐसा ध्रुव आत्मा जो अनादि–अनन्त (है), वह इस संवर, निर्जरा में नहीं आता। आहा... और संवर–निर्जरा की पर्याय जिसे प्रगट हुई, उसकी भी दृष्टि ध्रुव द्रव्य पर होती है। आ...हा...हा...! ऐसी बातें हैं, प्रभु! अभी तो संवर–निर्जरा को ठिकाना नहीं; आस्रव और बन्ध में पड़ा है, फिर भी यहाँ कहते हैं धर्म जिसे प्रगट हुआ, संवर–निर्जरा प्रगट हुए, परन्तु वह दशा विशेष है; वह सामान्य त्रिकाल चीज नहीं। जो ध्रुवस्वरूप चिदानन्द प्रभु है – कायम रहनेवाला (अर्थात्) यह... यह... यह... यह... है... है... है... है... है... अनादि–अनन्त है... है... है... ऐसा जो सामान्य तत्त्व, उसकी दृष्टि करने पर (संवर–निर्जरा होते हैं)। (उस) संवर और निर्जरा की दृष्टि – पर्यायदृष्टि भी छूट जाती है। अर...र...र...! कहो, निहालभाई! इसमें धूल में कभी भी सुना है वहाँ? एक घण्टा, ऐसे फोटो (रखा) हो (उसकी) पूजा की, थोड़ा साधारण–सा शुभभाव किया और बाद में करता है, 23 घण्टे पाप। ...आत्मा किसी का बहनोई नहीं और किसी का साला भी नहीं।

आत्मा, निर्जरा और संवररूप भी नहीं न, प्रभु! एक बार सुन न नाथ! प्रभु! 'तुम्हें' 'प्रभु' कहकर तो मुनिवर बुलाते हैं। आ...हा...हा...! सन्त ऐसा कहते हैं, प्रभु! भगवान! एक बार तेरी बात सुन प्रभु! आ...हा...हा...! तूने तेरे घर की बातें सुनी नहीं, नाथ! बाहर की बातों में उलझकर कर भ्रम से बहिरात्मा में भटक रहा है। आहा...हा...!

अन्तर में प्रभु – पुण्य और पाप, आस्रव और बन्ध, ये राग–द्वेष बन्ध (है), इनसे तो अलग है परन्तु संवर और निर्जरा – धर्मदशा जिसे अनन्त काल में हुई नहीं, ऐसी अन्तर दशा हुई परन्तु वह दशा है – अवस्था है, वह त्रिकाली चीज नहीं; इसलिए धर्मी जीव की संवर–निर्जरा (की) पर्याय ऊपर दृष्टि नहीं; उसकी दृष्टि द्रव्य ऊपर – वस्तु पर होती है। अनन्त गुण का निधान सच्चिदानन्द प्रभु! चैतन्य के प्रकार के नूर के पूर से भरा हुआ। अरे...रे...! कहाँ है वह...? उसके ऊपर (जिसकी दृष्टि है), उसे धर्मी कहते हैं। (उसे) समकिती और धर्म की पहली शुरुआत (कहते हैं)। धर्म की पहली शुरुआत! त्रिकाल द्रव्य ऊपर दृष्टि पड़ना, वह धर्म की शुरुआत है। आहा...हा...!

प्रभु! मार्ग कठिन है, बापू! दुनिया में सभी को जानते हैं। समझ में आया? पूरी दुनिया देखी है। कलकत्ता, दिल्ली, चारों तरफ बहुत घूमे हैं। दुकान का माल लेने जाते, लेकिन सब जगह घूमे हैं। छोटी उम्र में – 18 वर्ष की उम्र से। अभी तो 90 हो गये। आहा...हा...!

प्रभु! यहाँ कहते हैं कि पुण्य और पाप के (भाव) दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, परिग्रह के भाव, वह तो पाप और पुण्य दोनों विकार हैं। आहा...हा...! वह आत्मा नहीं, परन्तु संवर और निर्जरा, (वह भी त्रिकाल आत्मा नहीं)। भगवान! एक बार सुन तो सही प्रभु! रुचे, नहीं रुचे, वह अलग बात है, परन्तु एक बार सुन, प्रभु! तेरी प्रभुता अन्दर अनन्त गुणी भरी है। उस प्रभुता की दृष्टि में – अन्दर धर्म की दृष्टि प्रगट हुई, आत्मा की शान्ति प्रगटी। वस्तु पर दृष्टि आने से (शान्ति प्रगटी।) वस्तु उसे कहते हैं जिसमें अनन्त गुण बसते हैं। वस्तु (अर्थात्) बसते हैं। वस्तु में अनन्त गुण बसे हुए हैं। वास्तु होता है, वह मकान में लिया जाता है; वास्तु कोई नीम या पीपल में नहीं लिया जाता। इस प्रकार यह वस्तु भगवान (स्वरूप है) उसमें अनन्त गुण बसे हुए हैं, इसमें वास्तु लेना है।आहा...हा...! इसने कभी भी एक समयमात्र वास्तु लिया नहीं। बाकी बाहर

के 2–5 करोड़ के मकान बनाकर, 25–50 लाख खर्च करके बड़ा वास्तु लिया और बड़े–बड़े कार्यकर्ताओं को बुलाकर, वह... मानो वह खुश–खुश हो गया, ओ...हो...हो...! मानो क्या किया!....प्रभु! हमारे पास तो यह है, बापा!

यहाँ तो 90 वर्ष हुए, पूरी जिन्दगी इसी में गयी है। पाँच वर्ष व्यापार किया था। बड़ी दुकान चलती है, 'पालेज' में। 'भडूच' और 'बड़ोदरा' के बीच 'पालेज' है। पैसा 40 लाख है। 4 लाख की आमदनी है। अभी वह दुकान हमारी ही है। 4 लाख की कमाई है। 40 लाख रुपये हैं। धूल में धूल है। आहा... 67 वर्ष हुए छोड़े। धूल को छोड़े! प्रभु अन्दर भिन्न है, आहा...हा...!

यहाँ तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव ऐसा फरमाते हैं कि जिसे वह द्रव्य / वस्तु है, उसका ज्ञान होकर धर्म हुआ है; जो अनन्त काल (में) हुआ नहीं – ऐसी धर्म की दशा (में) अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद (आया है)। इस राग का स्वाद, वह संसार (में) भटकने का स्वाद है। अतीन्द्रिय (आनन्द का) स्वाद आया, उसको यहाँ संवर और निर्जरा कहते हैं, तथापि धर्मी की दृष्टि संवर और निर्जरा पर्याय है, (उसके) ऊपर नहीं; उसकी नजर अन्दर द्रव्य ऊपर है। आ...हा...हा...!

सूक्ष्म बात है, भगवान! यह किस प्रकार का उपदेश। (जैसा) है वैसा है, बापा! सभी को जानते हैं। बहुत... बहुत... लाखों का परिचय हुआ है। 'काठियावाड़'में सब देखा है और फिर इस नये अफ्रीका में आने का मन हुआ, ये लक्ष्मीचन्दभाई और ये सब आये न! अन्न-जल है (तो) आये। आहा...हा...! भगवान अन्दर विराजते हैं। जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा महाविदेह में वर्तमान में विराजते हैं। उनके मुख से निकली हुई यह वाणी है। उसकी रचना 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने सुनकर–आठ दिन सुनकर की है। आठ दिन वहाँ गये थे।

आहा...! यहाँ ऐसा कहते हैं – धर्म दशा जिसे प्रगट होती है, उस दशा पर भी उसकी दृष्टि नहीं। आ...हा...हा...! भगवान! बात बहुत सूक्ष्म है। अभी तो बाहर से छूटना कठिन! निहालभाई! (किसी के) बेटा नहीं, कुछ नहीं तो भी उपाधियों का पार नहीं। वह आनेवाला था न भाई पूनमचन्द! आया नहीं? कहता था कि मैं आता हूँ। उसके पास पाँच-छह करोड़

रुपये हैं। उसके पास पाँच-छह करोड़ हैं.... धूल... धूल... ! उसमें उलझ गया, उलझ गया। यह तत्त्व क्या है? (इसकी कोई खबर नहीं।) आहा...हा... ! प्रभु ! तू दुःखी है भाई ! तुझे पता नहीं, दुःख की दशा किसे कहना? उसकी तुझे खबर नहीं। आहा...हा... ! ये पुण्य और पाप के भाव, इनको भी परमात्मा, दुःख और आकुलता कहते हैं, प्रभु ! इनसे अनाकुल और आनन्दस्वरूप प्रभु भिन्न है। उसने कभी भी देखने–जानने के लिए नजर नहीं की, नाथ ! आहा...हा... !

यहाँ तो अन्दर सभी को भगवान दिखते हैं। यह देह देवल भिन्न है, वह राग अलग है, अन्दर भगवान (अलग) है। मुनिराज तो भगवान कहकर बुलाते हैं। आ...हा..हा...हा... ! भगवान आत्मा ! 72 गाथा में आता है। इसके बाद यह 72 वीं गाथा पढ़ेंगे। यह तो 38 वीं पढ़ रहे हैं। बाद में 72 वीं (गाथा) लिखी है। इन लोगों ने झवेरचन्दभाई और लक्ष्मीचन्दभाई सबने मिलकर (लिखी है) कि यह पढ़ना। इसमें तो ऐसा लिखा है कि, भगवान आत्मा, वह शुभ और अशुभभाव (से अलग है)। ये दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव पुण्य का (भाव है) और काम–क्रोध (और) कमाने का, पैसा खर्च करने का पैसा संग्रह करने का, और ब्याज उपजाने का (भाव) वह पाप भाव (है)। आहा...हा... ! भगवान ! तुम (इन) पाप और पुण्य से भिन्न हो, प्रभु ! ऐसा मुनिराज कहते हैं। आहा... हा... ! मुनिराज 72 गाथा में (ऐसा कहते हैं) हे नाथ ! प्रभु ! पुण्य और पाप के भाव, वह अशुचि है। इसमें है – 72 गाथा में होगा। 72 गाथा में होगा। देखो, इसमें ! इस 38 के तुरन्त बाद 72 गाथा है। इसमें 72 गाथा में है।

पुण्य और पाप के भाव, दोनों अशुचि है, मलिन है। भगवान आत्मा.... इसमें भगवान आत्मा लिखा है। है निहालभाई? 'मुनिराज' 'भगवान' कहकर बुलाते हैं। आ...हा...हा... ! भगवान आत्मा ! इन पुण्य और पाप की अशुचि – मेल से अन्दर निर्मलानन्द भिन्न है। प्रभु ! तुमने कभी भी नजर नहीं की। 'प्रभु ! तुमने कभी भी सुनकर प्रेम किया नहीं। जगत के प्रेम की प्रीति में रुकने से इस तरफ का द्वेष हो गया है। 'आनन्दघनजी' कहते हैं, श्वेताम्बर में 'आनन्दघनजी' हुए, वह कहते हैं कि 'द्वेष–अरोचकभाव।' जिसको राग का प्रेम है, उसे आत्मा के प्रति द्वेष है क्योंकि वह रुचता नहीं, इसलिए उसे द्वेष है। आ...हा...हा...हा... ! किस प्रकार का उपदेश आया !

हमारे वहाँ तो 45 वर्ष से यह चलता है। 45 वर्ष की आयु में वहाँ गये हैं और (बाद में) 45 हुए अर्थात् 90 हुए। (वहाँ) तो बड़े–बड़े वकील भी आते हैं, बड़े डॉक्टर आते हैं, जहाँ जाते हैं वहाँ, राजा-महाराजा भी व्याख्यान में आते हैं! भावनगर दरबार! (उनके) करोड़ों की आमदनी है, करोड़ों की। वे आये थे। उनसे कहा था 'दरबार बड़े भिखारी हो'! कैसे (भिखारी है)? अन्तर में अनन्त आनन्द, ज्ञान आदि लक्ष्मी पड़ी है, इस लक्ष्मी की दरकार (नहीं), उसकी महिमा करता नहीं और इस धूल लक्ष्मी–करोड़ रुपये और दो करोड़ और पाँच करोड़ की बारह महीने में उपज आये (उसको माँगते हैं) वह भिखारी है। माँगता है... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ...! हमारे कहाँ महाराजा को मक्खन लगाना था (या) पैसा लेना था। वैसे व्यक्ति नरम था, गुजर गया बेचारा। 'कृष्णकुमार' था। 'सत्य बात, महाराज!' ऐसा कहता था। कृष्ण कुमार दरबार था (वह) गुजर गया। लड़का है (तो) लड़का आया था। भावनगर से व्याख्यान में आये। लेकिन इस धूल में कुछ नहीं, ये तो नहीं, परन्तु यहाँ तो संवर–निर्जरा में आत्मा नहीं – ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! (क्योंकि) एक समय की पर्याय है।

है? **संवर, निर्जरा, बन्ध...** बन्ध (अर्थात्) राग और द्वेष का भावबन्ध, वह पर्याय है – अवस्था है। **मोक्षस्वरूप...** अरे...! मोक्ष! आ...हा...हा...! प्रभु! गाथा ऐसी आ गई है। इस आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ – ऐसा मोक्ष। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु है! सच्चिदानन्द प्रभु है। सत्, त्रिकाल, चिदानन्द, आनन्दकन्द अन्दर है। इसकी नजर वहाँ गई नहीं। नजर गये बिना निधान कैसे दिखे? वह मोक्षस्वरूप है, वह भी पर्याय है – (ऐसा) कहते हैं। आ...हा...हा...! समझ में आया?

है? **मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व...** ये सब व्यावहारिक नव तत्त्व हैं। आहा...हा...हा...! यह तुम्हारे संसार के व्यवहार की बात नहीं। अन्तर के भेद के नव तत्त्व की पर्याय पड़े, उसको भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव 'व्यवहार' कहते हैं। आहा...हा...! हमारा व्यवहार अच्छा चलता है, हम अच्छे ठिकाने लड़की का विवाह करते हैं, लड़का का अच्छे ठिकाने विवाह करते हैं... हमारा व्यवहार (ऐसा)। उस धूल की बात यहाँ नहीं। वह तो सब नरक–निगोद में जाने के रास्ते हैं। यह तो नवतत्त्व जो हैं और (उसमें भी) यह

मोक्षतत्त्व जो है... आहा...हा...! जिसमें परमात्मा, पर्याय में मुक्त होता है, अर्थात् अवस्था में अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ मिलता है, अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण स्वाद आता है, इसका नाम मोक्ष। वह मोक्ष भी पर्याय है। अर...र...र...! ऐसा मार्ग है।

**मोक्षस्वरूप,...** है? **जो व्यवहारिक नव तत्त्वों...** ये व्यवहारिक नव तत्त्व हैं। आ...हा...हा...! कहो, समझ में आया इसमें? जेठालालभाई! लक्ष्मीचन्दभाई! क्या कहा यह? यह नव तत्त्व हैं, वह व्यवहार है। जीव की विशेष दशा नारकी आदि, अजीव आदि, पुण्य–पाप, आस्रव (अर्थात्) नया आवरण आए, वह आस्रव; बन्ध (अर्थात्) राग–द्वेष; मोक्ष (अर्थात्) पूर्ण दशा। आत्मा की पूर्ण निर्मल दशा, जिसको मोक्ष कहते हैं, उसको भी यहाँ व्यवहार ही कहा गया है क्योंकि मोक्ष, वह पर्याय है – अवस्था है; त्रिकाली द्रव्य इनसे पृथक् है। मोक्ष एक वेष है। चैतन्यतत्त्व का मोक्ष एक भेष है। आ...हा...हा...! 'समयसार' में सब आता है। पुण्य–पाप इसका एक वेश–भेष है। वह इसका कोई तत्त्व नहीं। इसी प्रकार संवर–निर्जरा और मोक्ष भी एक भेष है – अवस्था है।

ये व्यवहारिक नव तत्त्व... आ...हा...हा...! **उनसे, टंकोत्कीर्ण...** (अर्थात्) शाश्वत्। यह नव(तत्त्व) है, यह तो पर्याय है, अवस्था हुई। परन्तु पर्याय किसे कहना? अभी इसे समझते नहीं। पर्याय–अवस्था जो हुई, उससे **टंकोत्कीर्ण, एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ...** आहा... धर्मी ऐसा जानते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? धर्म की पहली सीढ़ीवाला, धर्म की पहली श्रेणीवाला ऐसा समझता है कि यह नव तत्त्व, जो व्यवहारिक तत्त्व है... आहा...हा...! उनसे (मैं) अत्यन्त पृथक् हूँ। है? **टंकोत्कीर्ण...** अर्थात् शाश्वत्। (मैं) शाश्वत् वस्तु हूँ। **एक ज्ञायकस्वभाव...** एकरूप जानन... जानन... जानन... जानन.... जानन.... चैतन्य प्रकाश का पूर। चैतन्य प्रकाश का नूर – ऐसा जो मैं भगवान आत्मा **ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ...** (व्यवहारिक) नव(तत्त्वों से) अत्यन्त भिन्न हूँ। थोड़ी कठिन बात आयी।

जीव के विशेष नारकी, मनुष्य, देव, धुड, कीड़ा, बकरा आदि तिर्यंच वह विशेष अवस्था है। अजीव (अर्थात्) जड़ शरीर आदि, शुभभाव वह पुण्य, अशुभभाव वह पाप, दोनों होकर आस्रव। वह राग में अटका है, वह बन्ध और बन्धरहित होकर आत्मा की पूर्ण

मोक्षदशा, वह मोक्ष। वे नव तत्त्व पर्यायें हैं, इसलिए मैं इनसे अत्यन्त भिन्न हूँ – ऐसा सम्यक्त्वी – धर्म की शुरुआतवाला, धर्म की पहली श्रेणीवाला ऐसा समझता है और अनुभव करता है। आहा...हा...! गजब बात है! धर्म की पहली श्रेणीवाला, निहालभाई! (ऐसा अनुभव करता है)। यह थोड़ी देर पूजा करके कर दिया, कर दिया (स्वाहा) ऐसा नहीं होता, यहाँ (ऐसा) कहते हैं। बाद में चारों ओर होली सुलगे। आहा...हा...!

यह तो नव तत्त्वों के जो भेद पड़े, (उनसे भिन्न है)। जीव के विशेष भेद (अर्थात्) नारकी, मनुष्य आदि, इनसे अत्यन्त पृथक्; अजीव से अत्यन्त पृथक्; पुण्य के परिणाम, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, दान इन शुभभावों से पृथक्; हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग से पृथक्; क्रोध, मान, माया, लोभ, राग से पृथक्; और भिन्न हुआ (थोड़ा) संवर (उनसे भिन्न), आ...हा...हा...! भिन्न हुआ जो संवर और निर्जरा धर्म की दशा, (उनसे पृथक्) संवर (अर्थात्) धर्म की शुरुआत; निर्जरा (अर्थात्) धर्म की बुद्धि; मोक्ष (अर्थात्) धर्म की पूर्णता – ये तीनों दशाएँ हैं। इन दशाओं से भी मेरी चीज भिन्न है। आ...हा...हा...!

यहाँ तो काठियावाड़ में से आ पड़े हैं, बापू! नहीं तो यह बात वहाँ तो हमारे 45 वर्षों से चलती है, लाखों व्यक्ति सुनते हैं। कलकत्ता, दिल्ली, सभी जगह गये, सभी जगह यह चलता है। आहा...हा...! जहाँ–जहाँ जाते हैं, वहाँ राजा–महाराजा आते हैं। सभी सुनने आते हैं, एक बार – दो बार तो आते ही हैं। क्या है यह? कहते हैं यह क्या? लेकिन बेचारे फँस गये (हों), उसको यह बात कहाँ (समझ में आये)?

(यहाँ कहते हैं) नव तत्त्व जो है,... आ...हा...हा...! उन नौ में जीवतत्त्व अभी नहीं लेना। जीव के विशेष भाव जो हैं, वे नौ में लेना। नारकी, मनुष्य, देव, नारकी (लेना)। वह संवर और निर्जरा भी भेष है – अवस्था है। मोक्ष भी एक भेष – अवस्था है। भगवान त्रिकाली ध्रुव एक समय की अवस्था में आता नहीं और एक समय की अवस्था जितना नहीं। आ...हा...हा...! समझ में आया? प्रभु जो (आता) हो, वही आवे और दूसरा क्या आवे? ये चाहे जैसे सरल करने जाए तो कोई (सरल) हो नहीं, बापा!

भगवन्त! आहा....हा...! प्रभु तेरी प्रभुता अन्दर अनन्त गुणी है। उस द्रव्य की प्रभुता (अनन्त गुणी है) द्रव्य अर्थात् वस्तु। द्रव्य अर्थात् यह पैसा नहीं। द्रव्य अर्थात् अन्दर

वस्तु–त्रिकाली आत्मा। उस द्रव्य की दृष्टि की अपेक्षा से नव तत्त्वों का भेद विशेष (है), इनसे वह भिन्न है। आहा...हा...! उसको इस प्रकार अनुभव करे और इस प्रकार जाने, तब उसे सम्यग्दर्शन, उसे धर्म की पहली शुरुआत कहा जाता है। चारित्र तो बाद में कहाँ रह गया बापा! आहा...हा...! समझ में आया? नव तत्त्व में तो बहुत आया, भाई!

**एक ज्ञायकस्वभाव...** एक ज्ञायकस्वभाव। वह सब तो पर्यायें हैं – अवस्थाएँ हैं – एक समय की स्थितिवाली दशाएँ हैं। मैं अन्दर त्रिकाल द्रव्य शाश्वत् वस्तु हूँ। वह शाश्वत् वस्तु मेरी दृष्टि का विषय है। धर्मी की दृष्टि का विषय–ध्येय–दृष्टि का ध्येय... आहा...हा...! पूर्ण वस्तु है। दृष्टि का ध्येय यह नव(तत्त्व की) पर्यायें, वह उसका विषय नहीं। आहा...हा...!

सुनने में कठिन पड़े। किसी ने पढ़ा नहीं। यह 'समयसार' पढ़ा है? निहालभाई! पढ़ा हो तो (भी) कहाँ यह खबर (थी), भान भी कभी नहीं था। सत्य बात है न, भाई! करोड़ों रुपये हैं; लड़का नहीं। चार–पाँच करोड़ रुपये हैं, हो गया–उसी में फँस गया। निहाल का अनिहाल हो गया वहाँ। निहाल तो यह आत्मा, इन नव तत्त्वों के विशेष भेदों से भी भिन्न है, उसे अन्दर जाने, तब वह 'निहाल' और समकित दृष्टि कहा जाता है। आ...हा...हा...! भाषा, प्रभु! भाषा तो सादी है, भाषा कोई संस्कृत और व्याकरण और ऐसी कोई बड़ी–बड़ी नहीं, परन्तु अब वस्तु तो जैसी है, वैसी है। आहा...हा...! किसी के लिए कोई वस्तु बदल जाए ऐसा नहीं कि इसके लिए यह! अजान के लिए दूसरी और जान(कार) के लिए दूसरी। पण्डितों के लिए दूसरी और मूर्ख के लिए दूसरी – ऐसा कुछ नहीं। वस्तु तो जो है, वही है अन्दर। आहा...हा...!

सच्चिदानन्द प्रभु! इन नव तत्त्वों से ज्ञायक भिन्न – ऐसा **मैं शुद्ध हूँ...** आहा...हा...! है? धर्मी ऐसा जानते हैं (कि) ऐसा मैं शुद्ध हूँ। आ...हा...हा...! दो पंक्ति में इतना भरा है।

**चिन्मात्र होने से,...** अब अस्ति कहते हैं। तब क्या है? वह तो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान... जैसे पानी का पूर होता है, वैसे यह ज्ञान का पूर है, प्रभु! आ...हा...हा...! इसकी नजर वहाँ गई नहीं। वह जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला.... जाननेवाला.... जाननेवाला... इस प्रकार ध्रुवरूप उसका (पूर चलता है)। पानी का पूर ऐसे चलता है, ध्रुव का पूर ऐसे चलता है। ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... आ...हा...हा...!

किस प्रकार की बात, बापा! भगवान (बात तो) यह है, बापू! मानों न मानो, यह जगत् तो स्वतन्त्र है। परमात्मा त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में जो आया, (उसे) मुनि आड़तिया होकर, भगवान सर्वज्ञ का माल जगत के पास जाहिर करते हैं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा साक्षात् विराजते हैं। समवसरण में विराजते हैं। आहा...हा...! बेन हैं (वह) वहाँ से आये हैं। बेन है न? (चम्पाबेन को) नौ भव का ज्ञान है। नौ भव का ज्ञान है। असंख्य अरब वर्ष का जातिस्मरण है, वे वहाँ थे, वहाँ से आये हैं। वह सब बात जानते हैं। आ...हा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि है कौन तब वह? नव तत्त्व से भिन्न, नव की पर्याय – अवस्था – दशा से भिन्न, वह भिन्न क्या है? (तो कहते हैं) वह **चिन्मात्र होने से...** आहा...! (अर्थात्) वह तो ज्ञानमात्र वस्तु है। ध्रुव ज्ञान – ध्रुव वस्तु है। नित्य वस्तु है। त्रिकाल ध्रुव ज्ञायक अनादि–अनन्त (है)। 'है' उसकी आदि नहीं होती, 'है' उसका भविष्य में नाश नहीं होता, 'है' वह अपने स्वभाव से खाली नहीं होता। समझ में आया? जो चीज है, 'है' **सत्ता...** सत्ता (है) वह किसी से उत्पन्न नहीं होती, किसी से नाश नहीं और वह वर्तमान में अपनी अनन्त सम्पदा का स्वभाव, उससे वह खाली नहीं होती, उसे यहाँ वस्तु और आत्मा और तत्त्व कहते हैं। आ...हा...हा...! ऐसा उपदेश किस प्रकार का यह? बापू! यह बात दूसरी है भाई! अभी जगत् की चाल चलती है, उससे यह अलग प्रकार है। जगत् चलता है (कहीं) और यह बात रह गयी है (कहीं)। आहा....हा....!

**चिन्मात्र होने से सामान्य – विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता...** क्या कहते हैं? मैं तो एक जाननेवाला – विशेष (उपयोगात्मक) और देखनेवाला – सामान्य (उपयोगात्मक स्वरूप हूँ)। मेरा स्वरूप दर्शन और ज्ञान (स्वरूप है)। दर्शन किसी चीज को भेद करके नहीं देखता, (इसलिए सामान्य उपयोगात्मक है)। ज्ञान प्रत्येक को भेद करके देखता है, इसलिए विशेष (उपयोगात्मक है)। (पहले जो) नव विशेष (कहे वे) अलग और यह ज्ञान विशेष अलग। यहाँ ज्ञान विशेष (कहा वह) ध्रुव (है) और (पहले) नव तत्त्व (कहे) वे पर्याय विशेष (है), वे अनित्य और अध्रुव (है), आहा...हा...! क्या याद रहे इसमें! सुनने घर से नहीं आये (तो वह पूछे) 'क्या सुनकर

आये?' (तब सुननेवाला कहे) 'कौन जाने, क्या कुछ कहते थे, ऐसा है और वैसा है।' अरे प्रभु! अरे...रे...!

निजघर के ज्ञान बिना प्रभु! तू चौरासी के अवतार में भटक मरा बापू! आहा... मुनिवरों के तेरी दया आती है, करुणा आती है, करुणा से इसे 'भगवान' बुलाकर जगाते हैं। जाग रे! जाग, नाथ! प्रभु! ऐसा अवसर तुझे कब मिलेगा? आ...हा...हा...! मनुष्य भव मिला तो पंचेन्द्रिय (दशा) मिली; वीतराग की वाणी कान में पड़ी! 'भगवान! कब ऐसा योग मिलेगा?' एक बार जाग तो सही, भाई! और 'जागकर देख तो...' आ...हा...हा...! 'जगत दिखता नहीं।' जगत जगत में रहा, मैं तो चैतन्यमूर्ति हूँ। चैतन्यमूर्ति त्रिकाल ज्ञानस्वभाव से भरा हुआ ध्रुव चैतन्य हूँ। आहा...हा...!

वह कहते हैं देखो! **चिन्मात्र होने से सामान्य...** सामान्य अर्थात् दर्शन। यह सम्यक्त्व की बात नहीं। (दर्शन अर्थात्) दर्शन का विषय ऐसा है कि किसी को (भी) भेद किये बिना देखे। पूरी दुनिया की सत्ता है, उस सत्ता को भेद किये बिना देखे, उसे 'सामान्य' कहते हैं। यह सामान्य (की व्याख्या हुई) और विशेष (अर्थात्) ज्ञान। (ज्ञान) प्रत्येक चीज को भिन्न करके (जानता है)। यह जीव है, यह अजीव है, यह गुण है, यह पर्याय है, यह विकार है, यह अविकार है – ऐसा भेद करके जो जाने, उसे 'विशेष' ज्ञान कहते हैं? (पहले कहे वे) नव तत्त्व का विशेष अलग और यह विशेष अलग। आहा...हा...! समझ में आया?

'समझ में आया कुछ?' ऐसा कहते हैं न? समझ में आ जाए तब तो निहाल हो जाए परन्तु 'कुछ' अर्थात् किस पद्धति से कहते हैं, किस प्रकार कहते हैं, उस कला को लक्ष्य में ले तो 'कुछ समझा' ऐसा कहा जाए। बाकी समझे तब तो निहाल हो जाए। आहा...हा...! समझे तब तो इसको केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहे। दूज प्रगटे तो उसकी पूनम हुए बिना न रहे। इसी प्रकार अन्तर की दूज–आत्मज्ञान हो, नव तत्त्व के भेद से–विशेष से... भिन्न देखे, माने, जाने, अनुभवे, उसे केवलज्ञान और मोक्ष हुए बिना नहीं रहे। दूज उदित हुई, उसे पूनम हुए बिना नहीं रहे।

इस प्रकार ऐसा जो आत्मा, दर्शन–सामान्य को देखनेवाला, ज्ञान से जाननेवाला

(ऐसा) **सामान्य–विशेष उपयोगात्मकता का...** उपयोग अर्थात् वह तो जानने–देखने के व्यापारवाला है। इस जानने–देखने के व्यापारवाला है, इस धूल के व्यापारवाला नहीं। धूल अर्थात् यह कपड़े का व्यापार, सोने का व्यापार, जरी का व्यापार, हीरे का व्यापार, ये सब धूल के व्यापार हैं। आहा...हा...! यहाँ तो ज्ञान उपयोगपने के कारण (ऐसा कहा है) जानना–देखना वह उपयोग (अर्थात्) अन्दर व्यापार है, उसरूप का **उल्लंघन नहीं करता,...** (अर्थात्) ज्ञान और दर्शन जो स्वभाव (है), त्रिकाल जिसका स्वरूप है, उसे कभी भी उल्लंघन नहीं करता। उसका उल्लंघन करके पर्याय में कभी नहीं आता। आ...हा...हा...!

अब ऐसा उपदेश! जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा वहाँ परमार्थ हो रहे अभी समवसरण में (अभी) महाविदेह क्षेत्र में (विराजमान) हैं। आहा...हा...! यह उनकी वाणी है। वह सुनी हुई वाणी, वह मुनियों ने (आगम में) रची और जगत को आड़तिया रूप से प्रस्तुत करते हैं। प्रभु! एक बार सुन। आ...हा...हा...! अरे...! तुमने बहुत पाप किये, बापू! संसार के–पाप के–पुण्य के बड़े पोटले बाँधे, परन्तु एक बार तुमने यह नव तत्त्व के विशेष से अलग द्रव्य है, उसे तुमने एक समय (के लिए) भी देखा और जाना नहीं। आ...हा...हा...! और इसे जाने बिना और देखे बिना तेरे मरण और जन्म–मरण का अन्त आये – ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! हैं?

**सामान्य–विशेष उपयोगात्मक का उल्लंघन नहीं करता इसलिए मैं दर्शन ज्ञानमय हूँ...** मैं दर्शन और ज्ञानमय हूँ। नव तत्त्व की पर्यायमय नहीं। सूक्ष्म पड़ता है बापू! हमारे वहाँ तो इससे सूक्ष्म आता है। सुननेवाले बड़े-बड़े वकील हैं, 97 वर्ष वाले 'रामजी' वकील बड़े हैं, वे प्रतिदिन सुनने बैठे होते हैं। वहाँ तो हमेशा सवेरे, दोपहर व्याख्यान चलता है। ऐसी बातें तो वहाँ हजारों बार हो गयी हैं। आ...हा...हा...! इस देश में तो पहले पहले आये हैं। कहाँ (यह) अनार्यदेश! (और कहाँ वह देश) आहा...! परन्तु यह बात तो परमात्मा के घर की है, भाई!

(यहाँ) यह कहते हैं (कि) मैं तो दर्शनज्ञानमय हूँ, विशेष दूसरे शब्द है। (वह) विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## प्रवचन–11, गाथा–14 (दादर मन्दिर)

यह एक समयसार सिद्धान्त-सिद्ध हुई वस्तु को बतलानेवाला है। वस्तु सिद्ध है, जिस प्रकार (है), उसे बतलानेवाले सर्वज्ञ भगवान, जिन्हें एक समय में तीन काल, तीन लोक का ज्ञान था।

आत्मा तो ध्रुव में है। अबद्धस्पृष्ट और त्रिकाल है, उसमें है। उसकी पर्याय में नहीं तो फिर गृहस्थाश्रम में आत्मा कहाँ से आया? आहा...हा...! समझ में आया? कहते हैं कि वे ऊपर रहते हैं। यह शुद्धस्वभाव सर्वस्व में प्रकाशमान है। ऐसे शुद्धस्वभाव को मोहरहित होकर जगत अनुभव करो। जगत अर्थात जगत के प्राणियों। काठियावाड़ अनुभव करो अर्थात् काठियावाड़ के जीव। काठियावाड़ क्या है? ऐसे जगत के जीव, यह भगवान पूर्णानन्द का नाथ अन्दर विराजता है और यह जो रागादि भाव (हैं वे) अन्दर प्रवेश नहीं होते, प्रवेश नहीं होते, इसलिए इसे बिगाड़ नहीं करते। इसलिए ऐसी चीज नित्यानन्द का अनुभव करो कि जिससे तुम्हारे जन्म-मरण का अन्त आ जाये। यहाँ तो यह बात है बापू!

यहाँ कोई पैसा मिले, दान मिले तो बड़ा राजा हो, देव हो... सब धूल है। सुलगते दावानल के अवतार हैं। यह देव का अवतार भी... आहा...हा...! जैसे लकड़ी की अग्नि या कण्डे की अग्नि जैसे जलाती है, वैसे चन्दन की अग्नि भी जलाती है। चन्दन, चन्दन... वह भी अग्नि हो तो वह जलाती है। वैसे ही देव के सुख भी दुःखरूपी–जला डाले ऐसे हैं। आत्मा की शान्ति को जलाकर राख करें ऐसे हैं, देव के सुख, हों! ये चन्दन की अग्नि है, उनमें भी शान्ति कहीं नहीं है। आहा..हा...!

शान्ति तो प्रभु आत्मा में है। सहजानन्द की मूर्ति प्रभु स्वाभाविक आनन्द है, स्वाभाविक जिसका ज्ञान है – ऐसे आत्मा का अनुभव करने से बद्धस्पृष्टभाव ऊपर तिरते

रहते हैं। इसलिए उसका (आत्मा का) अनुभव हो सकता है। समझ में आया? आहा...हा...! अब इसका दृष्टान्त देते हैं। दृष्टान्त देकर जरा बात स्पष्ट करते हैं।

**जैसे कमलिनी-पत्र....** कमलिनी की यह बेल होती है न? कमल की। उस बेल का पत्र जल में डूबा हुआ हो। कमलिनी का पत्र ऐसा होता है कि जिसकी रोम कोरे होते हैं, रोम जिसके कोरे, लूखे होते हैं। पत्र-पत्ता, उसे जब पानी में ऐसे देखो तो कहते हैं कि **जल से स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है....** दिखता है, वह पत्ता रोमवाला, रूखी रोमवाला होता है परन्तु पानी की... ऐसा देखो तो अंश भी उसे स्पर्श नहीं हुआ है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा, राग और कर्म के सम्बन्ध से व्यवहार के वर्तमाननय से देखो तो है, परन्तु उसके द्रव्यस्वभाव से देखो... आहा...हा...! है? **आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर...** आहा...हा...! उसका स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है। आहा...हा...! उस ज्ञान और आनन्द के स्वभाव के समीप जाकर देखने से वह राग और कर्म का सम्बन्ध झूठा है। उस स्वभाव को पर का सम्बन्ध है ही नहीं। द्रव्य जो है वस्तु, वह तो मुक्तस्वरूप है। आहा...हा...! समझ में आया?

जिसका ज्ञानरस है, आहा...हा...! जिसका अतीन्द्रिय शान्तरस है, ध्रुव है, अविनाशी है, अचल है - ऐसे रस के स्वभाव से देखो तो राग और कर्म का सम्बन्ध झूठा है। आहा...हा...! यह बापू! बातें नहीं हैं। इसकी दृष्टि बदलने पर, पर्याय के प्रति की दृष्टि बदलने पर, इसकी दृष्टि में द्रव्यस्वभाव आता है, उसे देखने पर उस वस्तु को राग का सम्बन्ध आदि सब झूठा है। समझ में आया? यह स्त्री-पुत्र और धूल आदि का सम्बन्ध तो कहीं है ही नहीं; वे तो इसे भूतार्थ में नहीं डाला। पर्यायनय से भूतार्थ में इन्हें नहीं डाला। वह हैं ही कहाँ सम्बन्ध? पर्याय में कहाँ आये? यह तो पर्याय में है, उसकी बात है।

**मुमुक्षु :** वे बाहर हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वे तो बाहर हैं। बँगला और .... स्वरूपचन्दभाई! यह पुत्र और बँगला कहाँ होगा? आत्मा की जो अवस्था है; वस्तु में तो नहीं परन्तु उसकी अवस्था जो है, उसमें भी वह चीज नहीं है।

यहाँ तो अवस्था में राग, कर्म का सम्बन्ध इतना, ऐसा व्यवहारसम्बन्ध है। वह सम्बन्ध भी व्यवहारनय से देखने पर सत्य है। है; नहीं है – ऐसा नहीं है परन्तु जब भगवान आत्मा के स्वभाव के समीप जाकर... आहा...हा...! उस कमल का कोरा स्वभाव, कमल के पत्ते का कोरा स्वभाव, उसे देखने पर इस पानी को वह कमल स्पर्शा ही नहीं है। आहा...हा...! गजब बात भाई! यह धमाधम, और यह मुम्बई, वापस मोहनगरी, किन्तु तो भी लोग सुनने को... 50-60 जवान हों, 50-60 सुनने को... (आते हैं।)

अरे भगवान! बापू! तेरे घर की बातें, नाथ, अरे! ऐसी बात कहाँ मिले? प्रभु! ऐ! तू कौन है? कितना है? कहाँ है? कैसे है? वह कैसे प्राप्त होता है, उसकी बात यहाँ चलती है। दूसरा तो तू पाया, अनन्त बार चौरासी के अवतार में भटका। आहा...हा...! भाई आये हैं? तुम्हारे भाई नहीं आये? यही कहता हूँ। वहाँ पूछा तो कहे, नहीं आता। आज आये लगते हैं। कहो समझ में आया? आहा...हा...!

आज तो रविवार है न? रवि अर्थात् सूर्य। भगवान चैतन्य के अनन्त... एक ज्ञान का गुण उसे सूर्य की उपमा कहें तो ऐसे अनन्त गुणवाला प्रभु, वह अनन्त सूर्य का पिण्ड प्रभु है। आहा...हा...! चिमनभाई! दो-पाँच-दस सूर्य नहीं। जिसकी एक ज्ञानकिरण-एक समय का सूर्य समान तीन काल-तीन लोक को प्रकाशित करे – ऐसा उसका एक गुण तो अनन्त लोकालोक को प्रकाशित करे, उससे अनन्तगुने हों तो भी... ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों का, अरे! चैतन्यसागर अन्दर पड़ा है। चैतन्य सूर्यस्वभाव को देखते, उसका अनुभव करते, व्यवहार झूठा है। व्यवहार में रहता नहीं। आहा...हा...! उसके जन्म-मरण टल जाते हैं, उसे जन्म और मरण नहीं रहते, वे अनावतारी हो जाता है। भटकनेवाला अवतारी है, वह कलंक है। आहा..हा...! यह पाँचवीं अंगुली होती है न? वह काट डालने जैसी होती है, वरना लटका करती है, बाधा करती है। इसी प्रकार रागादि के भव का कारण को काट डालने जैसा है। समझ में आया? आहा...हा...!

कहते हैं कि चैतन्य के स्वभाव के समीप जाकर... समीप शब्द से आत्मा जो स्व-भाव, स्व-भाव, अपना भाव – ध्रुवभाव, सामान्य भाव, उसके समीप में अनन्त काल में एक समय भी गया नहीं था और लालिमा के पीछे श्वेत गोला, नारियल का श्वेत गोला मीठा, श्वेत और मीठा, उसे श्रीफल कहते हैं, उस छाल को नहीं, काँचली को नहीं, लाल छाल

को नहीं। खोपरापाक बनावे तब निकाल देते हैं न?

इसी प्रकार इसमें यह शरीर, ऊपर की छाल है; ये आठ कर्म के रजकण, वह काँचली है और पुण्य-पाप के भाव, वे काँचली की ओर की लाल छाल-मैल है। उस ओर का यह मैल है। इस लाल छाल के पीछे जो सफेद गोला है; इसी प्रकार पुण्य और पाप के विकल्प के पीछे अन्दर शुद्ध; श्वेत अर्थात् शुद्ध; मीठा अर्थात् आनन्द, शुद्ध आनन्द का कन्द है, उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। आहा...हा...! वहाँ नजर डालना। छाल से हटाकर, काँचली से हटाकर, लाल छिलके अर्थात् पुण्य-पाप के भाव से हटाकर, उन्हें उल्लंघकर, अस्तिरूप से पर्याय में है, उन्हें उल्लंघकर; जिसमें नहीं उसमें नजर करना। आहा...हा...! उसका-स्वभाव (का) अनुभव करने पर, वे बद्धस्पृष्ट आदि (भाव) झूठे हैं। आहा...हा...! समझ में आया? यह तो सादी भाषा है, प्रभु! हमारे चिमनभाई तो कहते हैं... सादी दूसरी नहीं होती – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

बापू! तुझे दरकार नहीं। आत्मा क्या कैसे है और कैसे समझना – इसकी दरकार नहीं। आहा...हा...! अभी समझने की दरकार, हों! पाने की बाद में। यह समझने की दरकार, उसके लक्षण अलग प्रकार के होते हैं। उसे 'लागी लगन हमारी जिनराज सुजस सून्यौ में....' उसकी लगन चैतन्य कौन है? क्या है? उसकी जिज्ञासा के इसे अन्दर में धोध बहते हैं। आहा...हा...! पूरी दुनिया में रहता दिखे तो भी वह उसमें रहता नहीं। अन्दर... अन्दर... अन्दर... अन्दर... आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

कहते हैं, यह भगवान आत्मा, इसका... आत्मा ऐसा कह दिया। आत्मस्वभाव के समीप–ऐसा लिया है। तीन लोक का नाथ आत्मा, जिसकी ध्रुवता के ध्यान में अनुभव हो, तब वह असत्यवस्तु रहती नहीं। आहा...हा...! ...पहले ऐसा कहा था न? चैतन्य अकेला प्रकाशमान, चैतन्य अकेला प्रकाशमान। आहा...हा...! मैं एक चैतन्य ज्योतिस्वरूप, एक मैं ज्योतिस्वरूप, यह अनुभव करनेवाला और अनुभव करनेवाला – ऐसा भी जहाँ भेद नहीं ऐसी चीज वह मैं हूँ, (वहाँ) असत्यार्थ उड़ जाता है। ये रागादिभाव मेरी दृष्टि में; और अनुभव होने पर, वे मेरी पर्याय में भी यह भेद नहीं रहता। आहा...हा...! देखो इसका नाम धर्म! यह दुनिया बाहर जो दया पालूँ, यह करूँ, परोपकार करो, पाँच-पच्चीस हजार दान में

दो और धर्म होगा... धूल में भी धर्म नहीं है। सुन न! तेरे करोड़ों और अरबों दे तो भी धर्म नहीं है। वे तो जड़ हैं। जड़ का स्वामी होकर दे, वह तो मिथ्यात्व भ्रम है। समझ में आया? यहाँ तो अलग बात है भाई! दुनिया से निराली है।

कहते हैं, यह अबद्धस्पृष्टभाव... बद्धस्पृष्टभाव कायम नहीं रहनेवाला होने से, अबद्धस्पृष्ट कायम रहनेवाला होने से, कायम का अनुभव हो सकता है। समझ में आया? कठिन पड़े परन्तु भाव तो यह है। भाषा तो जैसी है, वैसी इसकी सादी आती है परन्तु इसकी दरकार करना चाहिए न, बापू! आहा...हा...! अरे रे! मृत्यु होगी, कहाँ जायेगा? आँधी का तिनका उड़कर कहाँ पड़ेगा? आँधी, आँधी उड़ती है न? उसमें तिनका उड़े, वह जाकर कहाँ पड़ेगा? इसी प्रकार जिसे आत्मा का भान नहीं और मिथ्यात्व में पड़े हैं, मिथ्यात्व की आँधी में जाकर चौरासी के अवतार में कहाँ जायेंगे? भाई! इसकी कोई वहाँ मौसी बा नहीं बैठी है कि यहाँ आ।

ऐसा चैतन्यस्वरूप भगवान शरणभूत है अन्दर, कि जहाँ अन्दर जाने पर आनन्द आता है, जहाँ अन्दर जाने पर असत्वस्तु फूँ... होकर उड़ जाती है, कहते हैं। आहा...हा...! राग और द्वेष और भेद; जो आत्मा आनन्द के नाथ को अनुभव करने पर, ऐसे ध्रुवधाम के अनुसार दशा करने पर अभूतार्थ के सभी भाव वहाँ नहीं रहते। क्योंकि नित्य वस्तु ध्रुव में उन भेदों का अन्तर प्रवेश (नहीं है)। समझ में आया? आहा...हा...!

यह चैतन्य लक्षण से राग से भिन्न है। जिस आत्मद्रव्य में अनन्त जो ज्ञानादि गुण हैं। जैसे आत्मा अविनाशी त्रिकाल है, वैसे इसकी शक्तियाँ, स्वभाव अविनाशी अनन्त है। उसमें यह चैतन्य लक्षण व्याप्त है। आहा...हा...! और वह व्यापने से गुण में टिक रहा है। सूक्ष्म बात है भगवान! और उस चैतन्य की वर्तमान पर्याय / अवस्था, वर्तमान से निवृत्त होने से नयी दशा को ग्रहण करके निवृत्त होती है – ऐसा उस पर्याय अर्थात् उसकी अवस्था का स्वभाव है। ऐसे जो अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों का समुदाय, उसे आत्मा कहते हैं। उस आत्मा की दृष्टि हो, उसे अनुभव होता है। उसे सम्यग्दृष्टि और सत्य के पन्थ में पड़ा (आया) ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? यह बात तो हो गयी। अब इस बन्ध के लक्षण की आज बात है। है दूसरा पैराग्राफ।

अब बन्ध के स्वलक्षण के विषय में कहा जाता है। भगवान! तू आत्मा राग से रहित अबन्धस्वरूप (है)। उसे अन्दर चैतन्य के स्वभाव से जानना, अनुभव करना, यह उसकी चीज है; उसमें उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में 'यह पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है' – ऐसे प्रतीति होती है। आहा...हा...!

अरे! जगत में जैसे लक्ष्मी चली जाये, पिता मर जाये, फिर बाद के लड़कों में विवाद होता है। लक्ष्मी जाये, बाप मरे; वैसे भरत में तीन लोक के नाथ का विरह पड़ा और ज्ञान की दशा भी घटी – केवलज्ञान नहीं होता, उसमें यह सब सम्प्रदाय के विवाद उठे। कोई कहता है व्यवहार से निश्चय होता है; कोई कहता है उपादान से निमित्त में होता है; कोई क्रमबद्ध नहीं; उल्टी-सीधी दशा होती है (ऐसा कहता है)। यह सब... आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** पिता गये...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बापू! तीन लोक के नाथ का विरह पड़ा... इसलिए था। यह मुनि आठ दिन वहाँ रहे, बापू! यह वस्तु सत्य है, तीन काल में सत्य है, हों! वहाँ पूर्व में आठ दिन रहे, वहाँ के लोगों ने कुन्दकुन्दाचार्य के दर्शन किये। आहा...हा...! वहाँ से आकर यहाँ शास्त्र की रचना की। उन भगवान के सन्देश की यह वाणी है, प्रभु! आहा...हा...! यह वाणी कान में पड़ना भी पूर्व के पुण्य के योग के बिना नहीं मिलती। बाकी तो सब बहुत किया – राग और द्वेष, दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा, आहा...हा...! उसके फलरूप से तो संसार फला है। शुभभाव है, वह भी संसार को देता है। आहा...हा...! भाई आये लगते हैं। यह सब समझने जैसा है। इस धूल में, पैसे-वैसे में कुछ नहीं। कहो, समझ में आया? आहा...हा...! कहते हैं उन प्रभु ने यहाँ आकर शास्त्र रचे, उनमें का यह शास्त्र है।

भगवान! एक बार सुन न प्रभु! आहा...हा...! बन्ध का स्व लक्षण... चैतन्य की बात तो हो गयी। इस बन्ध का स्व, उसका लक्षण तो आत्मद्रव्य से भिन्न रागादि हैं। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु ऐसा जो जीव का स्वरूप, ऐसा जो जीवद्रव्य का स्वभाव जिनस्वरूप वीतराग स्वरूप है – ऐसा जीवद्रव्य से यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के विकल्प जो हैं, वे आत्मा के साथ असाधारण हैं अर्थात् आत्मा में हैं नहीं। आहा...हा...! असाधारण ऐसे रागादि हैं। आहा...हा...!

जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि का भव मिले, जिस भाव से चक्रवर्ती का पद मिले, भगवान तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव की भक्ति के काल में जो भक्ति में तन्मय होकर करे, वह भी एक राग है। वह राग इस बन्ध का स्वरूप है। आहा...हा...! इस राग से आत्मा का कल्याण हो – ऐसा तीन काल में है नहीं। आहा...हा...! चिमनभाई! ऐसी बात है भगवान! आहा...हा...! प्रभु परमात्मा का अभी विरह, केवलज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की अस्ति नहीं और विरोध के, प्रतीति के, श्रद्धा के भाव बहुत विरुद्ध हो गये। ऐसी श्रद्धा को सुनने से लोगों को ऐसा होता है अर...र! ऐसी राग की भक्ति की क्रिया से भी धर्म नहीं?

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अब तो देखो न जवान सुनते हैं न। पचास-साठ प्रतिशत तो जवान बैठे हैं। आहा...हा...! भाई! आत्मा की बात है प्रभु! युवा और वृद्ध तो जड़ की दशा है, नाथ! तू तो अन्दर विराजमान, राग से भिन्न प्रभु तेरी समृद्धि अन्दर है। इन पुण्य और पाप के विकल्प से भिन्न तेरी आनन्द की समृद्धि अन्दर है उसकी नजर तूने कभी नहीं की और नजर कैसे करना–इसकी पद्धति भी तूने नहीं जानी। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं प्रभु! एक बार सुन न, नाथ! यहाँ तो भगवानरूप से आत्मा को बुलाते हैं, हों! आहा...हा...! इसकी माँ इसकी लोरियाँ गावे, गाना गाकर लड़के को सुलाती है। गीत गाकर सुलाती है, गीत गावे तो ही सोता है, गाली दे तो नहीं सोता। देखना हो तो देख लो एक बार। दो चार गाली देकर (कहे) 'मारा रोया सो जा' वह नहीं सोयेगा क्योंकि अव्यक्तरूप से भी उसे पालने के झूले में उसकी महिमा प्रिय लगती है, उसकी माँ उसे सुलाने के लिये उसके गीत गाती है। (यहाँ) तीन लोक के नाथ और सन्त इसे जगाने के लिये इसके गीत गाते हैं। जाग रे नाथ जाग! चैतन्य अब सोना नहीं पोसाता। राग में एकत्वबुद्धि तुझे अब नहीं हो सकती, भाई! आहा...हा...! यह बन्ध का स्वरूप है। आहा...हा...! माणिकचन्दभाई! आहा...हा...! अरे रे! ऐसे पंचम काल में अवतार! साक्षात् परमात्मा विराजते हैं, उनका विरह पड़ा। उसमें यह विरुद्ध श्रद्धाओं के भेद पड़ गये। एक यह माने, एक यह माने और एक ऐसा माने। आहा...हा...! यह बात सर्वज्ञ की परम्परा में, दिगम्बर सन्तों के हृदय में थी, वह बात बाहर निकल गयी। समझ में आया?

कहते हैं कि बन्ध का स्वरूप... स्वलक्षण – ऐसा कहा है न? बन्ध का स्व (अर्थात्) उसका अपना लक्षण। आत्मद्रव्य (अर्थात्) भगवान आत्मा तो अबन्धस्वरूप है, प्रभु! उससे असाधारण, उससे अत्यन्त भिन्न ऐसे रागादि हैं। आहा...हा...! 'सोलहकारणभावना भाये तीर्थंकर पद पाये' ऐसा कुछ आता है न? पूजा में आता है। परन्तु हे भगवान! हे प्रभु! तू सुन, भाई! यहाँ जगत को परमात्मा की पुकार है। सन्त दिगम्बर महामुनि, भगवान के स्वरूप से विराजते हैं-पंच परमेष्ठी में विराजते हैं। वे कहते हैं कि आत्मद्रव्य से मेलरहित (अर्थात्) नहीं स्पर्शित, ऐसे राग और द्वेष, वह बन्ध का लक्षण है। आहा...हा...! समझ में आया?

यह शास्त्र बनाने का विकल्प, शास्त्र सुनने का विकल्प, शास्त्र कहने का विकल्प... भगवान! यह तो वीतराग का घर है, भाई! यह राग का लक्षण है, वह बन्ध का लक्षण है। भगवान आत्मा में इस विकल्प और राग का तो अभाव है। इसलिए कहा कि आत्मद्रव्य से असाधारण अर्थात् उसमें नहीं रहनेवाले, ऐसे भिन्न पुण्य और पाप के भाव, वह बन्ध का लक्षण है। आहा...हा...! जिसे दुनिया धर्म और धर्म का साधन मानती है।

....होवे वहाँ तो उसकी टेव (आदत) ऐसी होती है कि मानो चक्रवर्ती की रानी हुई तो भी सबेरे उठकर ताक में रोटी रखे। ऐ माँ-बाप! रोटी देना। यह दाँतन ले जाओ – ऐसी उसे टेव। इसी प्रकार यह तीन लोक का नाथ अनन्त आनन्द... चक्रवर्ती के राज्य जब मिले, तब कफ छोड़े वैसे छोड़ दे – ऐसी इसमें ताकत है। जैसे कफ छोड़े, फिर से ग्रहण करने का भाव नहीं होता; ऐसा जो भगवान... आहा...हा...! एक राग जरा हो, स्त्री का जरा लड़के का ऐसा... छोटे लड़के का ऐसा, ऐसा... क्या करना है? क्या है? कहाँ जाना है तुझे? आहा...हा...! ऐसी अन्दर लगनी की वृत्ति बताता है, मानो मैं पूरा इसमें प्रविष्ट हो गया होऊँ।

यहाँ कहते हैं एक बार त्रिकाल नाथ को देख न! उसमें यह कोई चीज प्रविष्ट नहीं है इसका अनुभव करने से यह सब भिन्न है, उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है।

गाथा–320

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंध–मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।320।।

दृष्टिः यथैव ज्ञान–मकारकं तथाऽवेदकं चैव।
जानाति च बन्ध–मोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव।।320।।

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यन्तविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्सन्धुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिण्डवत्स्वयमौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्, किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणो–ऽत्यन्तविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च, किन्तु केवलं ज्ञान–मात्रस्वभावत्वात्कर्मबन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति।।320।।

---

अब प्रश्न होता है कि – (ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है) यह कैसे है? इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :–

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को।।३२०।।

गाथार्थ : [यथा एव दृष्टिः] जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थों को करता-भोगता नहीं है, किन्तु देखता ही है), [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानम्] ज्ञान [अकारकं] अकारक [अवेदकं च एव] तथा अवेदक है, [च] और [बंधमोक्षं] बन्ध, मोक्ष, [कर्मोदयं] कर्मोदय [निर्जरा च एव] तथा निर्जरा को [जानाति] जानता ही है।

टीका : जैसे इस जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (–भोगने) में असमर्थ होने से, दृश्य पदार्थ को न तो करता है और न भोगता है–यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने, *संधु-क्षण की भाँति, अपने को (–नेत्र को) अग्नि का कर्तृत्व (जलाना), और लोहे के गोले की भाँति अपने को (नेत्र को) अग्नि का

* संधुक्षण=संधूकरण; अग्नि जलानेवाला पदार्थ; अग्नि को चेतानेवाली वस्तु।

अनुभव दुर्निवार होना चाहिए (अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए और नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता भोक्ता नहीं है) – किन्तु केवल दर्शनमात्रस्वभाववाला होने से वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है; इसी प्रकार ज्ञान भी, स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से, कर्म को न तो करता है और ने वेदता (भोगता) है, किन्तु केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला (–जानने का स्वभाववाला) होने से कर्म के बन्ध को तथा मोक्ष को और कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है।

भावार्थ : ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भाँति दूर से जानना है; इसलिए ज्ञान के कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है। यहाँ कोई पूछता है कि – ''ऐसा तो केवलज्ञान है। और शेष तो जब तक मोहकर्म का उदय है तब तक सुखदुःख–रागादिरूप परिणमन होता ही है, तथा जब तक दर्शनावरण, ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय का उदय है तब तक अदर्शन, अज्ञान तथा असमर्थता होती ही है; तब फिर केवलज्ञान होने से पूर्व ज्ञातादृष्टापन कैसे कहा जा सकता है?''

उसका समाधान :– पहले से ही यह कहा जा रहा है कि जो स्वतन्त्रयतया करता-भोगता है, वह परमार्थ से कर्ता-भोक्ता कहलाता है। इसलिए जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हुआ, वहाँ परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव हो जाता है और तब जीव ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया किसी का कर्ता-भोक्ता नहीं होता, तथा अपनी निर्बलता से कर्म के उदय की बलवत्ता से जो कार्य होता है, वह परमार्थदृष्टि से उसका कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता। और उस कार्य के निमित्त से कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो भी उसे यहाँ बन्ध में नहीं गिना जाता। मिथ्यात्व है, वही संसार है। मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है। समुद्र में एक बूँद की गिनती ही क्या है?

और इतना विशेष जानना चाहिए कि – केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्रात्मस्वरूप ही हैं और श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के अवलम्बन से आत्मा को ऐसा ही अनुभव करते हैं; प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है। इसलिए श्रुतज्ञानी को ज्ञान-श्रद्रान की अपेक्षा से ज्ञाता-दृष्टापन ही है और चारित्र की अपेक्षा से प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है, उतना

**घात है और उसे नष्ट करने का उद्यम भी है। जब कर्म का अभाव हो जायेगा, तब साक्षात् यथाख्यातचारित्र प्रगट होगा और तब केवलज्ञान प्रगट होगा। यहाँ सम्यग्दृष्टि को जो ज्ञानी कहा जाता है, सो वह मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा से कहा जाता है। यदि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा लें तो सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेष की अपेक्षा लें तो जब तक किंचित्मात्र भी अज्ञान है, तब तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता – जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों में भावों को वर्णन करते हुए, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इसलिए यहाँ जो ज्ञानी-अज्ञानीपन कहा है, वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा से ही जानना चाहिए।**

## प्रवचन–12, गाथा–320 (दादर मन्दिर)

सूक्ष्म विषय है। अनादि का अभ्यास नहीं, इसलिए इसे गहन और कठिन लगता है परन्तु वस्तु तो इसके घर की है। .... सत्, सत् है, सत् सर्वत्र है, सत् सरल है परन्तु इसका अभ्यास नहीं और वर्तमान सुनने में मुख्य बात प्रयोजनभूत ऊँची आवे, इसलिए इसे कठिन और गहन लगती है।

अपने अधिकार यहाँ आया है कि यह आत्मा जो वस्तु है, इसमें दो प्रकार हैं। एक त्रिकाली ध्रुवपना और एक वर्तमान पर्याय – उत्पाद-व्यय-पर्याय – अवस्थापना। क्षण-क्षण की अवस्था बदले, उसे पर्याय कहते हैं और त्रिकाली बदले नहीं और कायम एकरूप रहे, उसे ध्रुव कहते हैं। भाषा तो... अभ्यास करना पड़ेगा। आहा...हा...!

कहते हैं कि देहादि, वाणी आदि पर है, उनके साथ आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। अपनी-आत्मा की जो अस्ति, उसका अस्तित्व, द्रव्य और गुणरूप है, और पर्यायरूप अस्तित्व है। शास्त्र में ऐसा आता है कि द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्, यह सत् का विस्तार है (प्रवचनसार की) 107 गाथा है। परवस्तु पररूप रही; यहाँ तो अपने को आत्मा में उतारना है। द्रव्य अर्थात् अनन्त गुण का पिण्ड जो वस्तु है, वह सत् है और उसके ज्ञान-दर्शन आनन्द आदि शक्तियाँ हैं, स्वभाव है, गुण है, वे भी सत् हैं परन्तु जैसे द्रव्य अविनाशी सत् है, वैसे गुण जो त्रिकाली शक्तियाँ, (वे) भी अविनाशी सत् है। अब उसमें पर्याय–जो

बदलती दशा, वह है तो सत्, परन्तु उसकी अवधि एक समय की है। पलटती दशा है, उस पलटती दशा को पर्याय कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि जो वस्तु है, वह परमस्वभावभाव ध्रुव है। आहा...हा...! भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें, एक समय का ज्ञान भी तीन काल-तीन लोक को जाने, तथापि उस एक समय के ज्ञान की सामर्थ्य, उससे अनन्त गुना लोक और अलोक हो तो भी जाने, वैसी उसकी एक समय की ज्ञान की पर्याय की ताकत है। ऐसे जो सर्वज्ञ भगवान, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए। अग्नि किसे नहीं जलाये? वैसे ही ज्ञान की पर्याय किसे न जाने? सब जाने, होवे उतना जाने, न होवे वह भी यदि अनन्त हो तो भी जाने - ऐसी आत्मा के ज्ञान की एक समय की पर्याय की ताकत है। ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा को इच्छा बिना वाणी निकली, उसमें यह आया कि त्रिकाली चीज निष्क्रिय है। आहा...हा...! निष्क्रिय अर्थात्? रागबन्ध के कारणरूप मिथ्यात्व और राग, इस परिणति क्रिया से रहित वस्तु है और मोक्ष के कारणरूप जो निर्मल आनन्द की दशा, पूर्ण आनन्द का मोक्ष, उसे प्राप्त करने की अपूर्ण आनन्द की दशा, वह भी क्रिया है, वह ध्रुव में नहीं है। समझ में आया?

**इसलिए ऐसा जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिकभाव ध्येयरूप है।** आहा...हा...! सारांश यहाँ लेना है। धर्मी को ध्येय कौन? धर्मी को क्या किस चीज लक्ष्य में लेनेयोग्य है? कि त्रिकाली चीज, वह धर्मी को लक्ष्य में लेनेयोग्य है। समझ में आया? आहा...हा...! अरे! इसकी चीज क्या है? उसमें क्या भण्डार है? आहा...हा...! अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान और अनन्त शान्ति, ऐसे स्वभाव का सागर आत्मा है। ऐसा जो आत्मा शुद्ध ध्रुव पारिणामिकभाव, वह ध्येयरूप है। मोक्ष की पर्याय, मोक्ष का कारण जो मोक्ष का मार्ग (ऐसी) मोक्षमार्ग की पर्याय जो ध्रुव के आश्रय से प्रगट हुई, ध्रुव के ध्येय से (प्रगट हुई) परन्तु वह पर्याय पलटती / नाशवान है और त्रिकाली चीज, वह ध्रुव और अविनाशी है। आहा...हा...!

इसलिए योगीन्द्रदेव ने भी कहा है कि

**ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।**
**जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउँ भणेइ॥68॥**

जिनवर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, सभा के बीच इन्द्रों और गणधरों की उपस्थिति में ऐसा फरमाते थे। ऐसा योगीन्द्रदेव कहते हैं, जिनवर ऐसा कहते हैं कि हे योगी! परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं... आहा...हा...! भगवान जो त्रिकाली ध्रुव चीज है, वह पर्याय में नहीं आती। समझ में आया?

जिनवर ऐसा कहते हैं, त्रिलोकनाथ – जिन्हें सौ इन्द्र तलिया चाटे, इन्द्र जिनके समक्ष सभा में पिल्ले की तरह सुने। आहा...हा...! ऐसे जिनवर ऐसा कहते हैं कि जिसे हम जीव कहते हैं, नित्यानन्द प्रभु ध्रुव जीव; वह जीव, पर्याय में नहीं आता। आहा...हा...! उपजता नहीं अर्थात् पर्यायरूप नहीं होता। आहा...हा...!

भाई! यह तो पाताल कुएँ का पेट है। कभी सुना नहीं, जमा नहीं। बाहर ही बाहर में यह करना, यह करना, यह छोड़ना या ध्यान कर लिया। अभी आया तो कहे ध्यान करता हूँ। किसका धूल का ध्यान? चीज क्या है, वह दृष्टि हुई नहीं और दृष्टि में वह चीज ऐसी है – ऐसा ज्ञान हुआ नहीं तो जिसमें स्थिर होना है, वह ज्ञान हुआ नहीं तो करे किस प्रकार? ध्यान करे ॐ... ॐ.... ॐ.... अब लाख ॐ... ॐ... कर न, वह तो विकल्प है।

यहाँ तो कहते हैं कि स्वरूप जो त्रिकाल है, उसका जो ध्यान, उसमें जीव आता नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! है? योगीन्द्रदेव परमात्मप्रकाश में ऐसा फरमाते हैं कि जिनवरदेव सभा में इन्द्रों और गणधरों के बीच ऐसा कहते थे कि हे योगी! योगी अर्थात् अन्दर आत्मा स्वरूप का जुड़ान करे उसे योगी कहते हैं। त्रिकाली चीज में ज्ञान की पर्याय को जोड़े, वह पर्याय की अवस्था है। परन्तु एक समय की अवस्था, वह त्रिकाली दल नहीं है; त्रिकाली तो भिन्न है। त्रिकाली दल एक समय में नहीं आता – ऐसा भगवान आत्मा की पर्याय में आत्मा नहीं आता। अजब की बातें हैं, बापू! दूसरों को तो ऐसा लगे, यह क्या कहते हैं? पागल हो जायेगा। परमात्मप्रकाश में कहा है, धर्मी को अज्ञानी पागल मानता है और धर्मी, अज्ञानियों को पागल मानता है और पागल की इसे रिपोर्ट चाहिए। क्या कहलाता है? सर्टीफिकेट। वह सर्टीफिकेट कहे तो सच्चा... अरे! चल... चल...

यहाँ तो परमात्मा का सर्टीफिकेट ऐसा है, कहते हैं... आहा...हा...! कि जिस त्रिकाली चीज की दृष्टि जिसने की है, ऐसा जो सम्यग्दृष्टि, वह ऐसा मानता है कि मेरी पर्याय

में मैं सम्पूर्ण आता नहीं। आहा...हा...! मेरी क्रीड़ा पर्याय में द्रव्य के आश्रय से हुआ करती है। राग में नहीं, पर में नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? यह बोधिबीज की बात है। आज दूज है न? दूज उगे उसे पूर्णिमा हुए बिना तीन काल में नहीं रहती। दूज उगे और दूजरूप ही अटक जाये – ऐसा तीन काल में नहीं होता परन्तु दूज और तीज और पूर्णिमा यह सब पर्यायें हैं। चन्द्र की–त्रिकाल की। इसी प्रकार भगवान आत्मा... आहा...हा...! पागल और मूर्ख कहे, ऐसा है – दुनिया के चतुर हों वे।

यहाँ तो आचार्य महाराज जयसेनाचार्य स्वयं इसकी टीका करते हुए आधार योगीन्द्रदेव का भी दिया। मैं कहता हूँ – ऐसा नहीं परन्तु परमात्मा की बात तो योगीन्द्रदेव भी कहते हैं। वे ऐसा कहते हैं, जिनवर तीर्थंकर त्रिलोकनाथ परमात्मा ऐसा कहते थे कि परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं। 'भी' क्यों लिया? दूसरा लेना है इसलिए। भी क्यों लिया? उपजता भी नहीं, मरता भी नहीं, यह लेने के लिये 'भी' लिया है।

फिर से – जो सम्यग्दृष्टि का ध्येय ध्रुव है और ध्रुव का ध्यान करने से जो समकित पर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय में ध्रुव नहीं आता। 'घेला न जाणसो रे प्रभु ने पहेला छे। जगतडा कहे छे रे भगतडा काला,' काली-काली बातें करे – ऐसा आत्मा... ऐसा आत्मा... सुन न अब... 'जगतड़ा कहे छे भगतड़ा काला छे, पण काला न जाणसो रे प्रभु ने ए वहाला छे।' जिसे आनन्द का नाथ प्रिय है, जिसे... प्रिय नहीं, पर्याय प्रिय नहीं उसे भगत कहा जाता है। समझ में आया? डाह्याभाई!

**मुमुक्षु** - .....

**पूज्य गुरुदेवश्री** - ..... 48 वाँ व्याख्यान चलता है। सुनो, बापू! यह है। वीतराग के घर की बातें यह है। इसके अतिरिक्त कुछ दूसरा करे, वह वीतराग के घर की नहीं, इसके स्वच्छन्द की सब बातें हैं। समझ में आया? यहाँ तो ढ़िंढोरा पीटकर कहते हैं। कहाँ... बातें। आहा...हा...!

कहते हैं **जीव उपजता भी नहीं....** आहा...हा...! गजब नाथ! उसे हम जीव कहते हैं, जिस त्रिकाली ध्रुव को हम जीव कहते हैं, वह जीव, पर्याय में – धर्म की पर्याय में आता नहीं, राग में तो कहाँ से आये? राग में तो है कहाँ उसमें? वह तो जिसके आश्रय

से धर्म परिणति / आनन्ददशा / समकित प्रगट हुआ, उसमें वह जीव उत्पन्न नहीं होता, पर्याय में ध्रुव आता नहीं। आहा...हा...! दूसरी एक अपेक्षा ऐसी है कि धर्म की पर्याय जो उत्पन्न होती है, उसे ध्रुव के आश्रय की जरूरत नहीं। गजब बातें हैं, बापू! यह तो दुनिया की नहीं, अगम्यगम्य की है। यह तो सम्यग्दर्शन होने की पहली विधि यह है, बाकी सब व्यर्थ है। यह क्या कहा?

जो वस्तु है त्रिकाल भगवान ध्रुव, सम्यग्दर्शन की पर्याय का वह विषय है परन्तु विषयी, जो विषय करनेवाली पर्याय है, उसमें भी आता नहीं और जो सम्यग्दर्शन की पर्याय आनन्द की दशा उत्पन्न हुई, उसे 101 गाथा प्रवचनसार – दिव्यध्वनि का सार... जो आत्मा का अन्तर सम्यग्दर्शन, जिसके सम्यग्दर्शन में अखण्डानन्द प्रभु और नित्य कायमरूप ध्रुव रहता है, उसे जिसने ध्येय बनाया, उसे सम्यग्दर्शन होता है, उस सम्यग्दर्शन में निमित्त ध्येय नहीं, देव-गुरु भी ध्येय नहीं, देव-गुरु की श्रद्धा – राग रखे, वह भी उसके सम्यग्दर्शन में ध्येय नहीं। राग की मन्दता वह सम्यग्दर्शन में ध्येय नहीं। सम्यग्दर्शन आदि की जो पर्याय है, वह भी सम्यग्दर्शन का ध्येय नहीं। आहा...हा...!

अरे! ऐसा परमात्मा अन्दर रह जाता है कि जिसकी आड़ में राग की मन्दता और पर्याय की बुद्धि में रुककर चिदानन्द नाथ प्रभु रह गया। अनन्त बार मुनिपना लिया, नग्नमुनि हुआ, अनन्त बार दिगम्बर मुनि हुआ अर्थात् क्या? पंच महाव्रत के विकल्प लिये उससे क्या? वह कोई चीज नहीं। चीज तो आनन्द का नाथ प्रभु अन्दर... आहा...हा...! जिसमें से अनन्त आनन्द की दशायें बहें, जिसमें से अनन्त ज्ञान की, केवलज्ञान की पर्यायें प्रवाहित हों – ऐसा जो साधन / वस्तु त्रिकाल, उसकी दृष्टि किये बिना इसे सम्यग्दर्शन – धर्म की पहली शुरुआत नहीं होती। आहा...हा...!

इसलिए बहुत-सों को ऐसा लगता है कि निश्चय और व्यवहार, शास्त्र में दो कहे हैं। दो कहे, प्रभु! परन्तु किसे? जिसने अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, अन्तरशान्ति और आनन्द का सागर प्रभु, उसका जिसे अन्तर में दृष्टि करके अनुभव हुआ है – ऐसे निश्चय सम्यग्दृष्टि को जो कुछ पूर्ण वीतरागदशा नहीं और अशुभ से बचने के लिये उसे शुभभाव आता है, उसे समकिती को–निश्चयवाले को व्यवहार कहा जाता है। .....उसमें राग की मन्दता है, वह पुण्य है परन्तु वह बाहर में... इसलिए उसे धर्म हुआ – ऐसा नहीं है।

**मुमुक्षु** – बारह लाख मुफ्त में गये।

**पूज्य गुरुदेवश्री** – थे कब इसके? इसके कब थे कि मुफ्त में जाये? यह बैठे, यह बैठे देखो! 'जुगराजजी'। उसमें तो ऐसा बना है, यहाँ की छाप जरा ऐसी है न कि महाराज की लकड़ी में कुछ है। कहाँ गयी लकड़ी? लकड़ी में कुछ नहीं, प्रभु! यह तो हाथ में पसीना आता है, शास्त्र को छुआ नहीं जाता, इसके लिए लकड़ी रखते हैं। लकड़ी किसी पर फिराते हैं और पैसा (मिलता है) ऐसा तीन काल में नहीं है परन्तु बन जाये ऐसा कि भभूतमल ने आठ लाख खर्च किये, उसमें सोलह दिन यहाँ रुके और दो करोड़ का स्टील था, उसके चालीस लाख बढ़ गये। यह रहे, बेंगलोर। (वहाँ लोगों को ऐसा लगता है कि) महाराज की (लकड़ी) फिरे वहाँ पैसा (हो जाता है)। बापू! यह कुछ नहीं, भाई! यह तो वर्तमान सत्य बात सुनते हुए उसका शुभभाव है, वह पुण्य है, उसके कारण पूर्व के पुण्य में पुण्य बँध जाता है। और उसका उदय आ जाये तो उसके कारण पैसा आदि धूल मिले। पैसा आदि धूल, वह कहीं आत्मा का कार्य है और आत्मा को लाभ है – ऐसी तो कोई चीज है नहीं। आहा...हा...!

यहाँ तो व्यवहार उसे कहते हैं कि जिसे ज्ञायक आनन्द के नाथ का अनुभव (होकर) जिसे वर्तमान दशा में त्रिकाली स्वभाव का पता लग गया कि यह तो आनन्द का सागर है। आहा...हा...! जिसे वर्तमान दशा में अतीन्द्रिय आनन्द का अतीन्द्रिय स्वाद आता है। आहा...हा...! उस अतीन्द्रिय स्वाद की दशा को समकित कहा जाता है। समझ में आया? कि जिस अतीन्द्रिय स्वाद के समक्ष समकिती को इन्द्र के इन्द्रासन, करोड़ों अप्सराएँ और इन्द्रों के भोग, अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष, समकिती की प्रतीति के समक्ष वे इन्द्र के भोग सड़े हुए कुत्ते और बिल्ली की गन्ध मारे (दुर्गन्ध) (ऐसे लगते हैं)। ....वह ममता के कारण है। और निर्धन दुःखी है, वह कहीं पैसा नहीं है, इसलिए (दुःखी है) ऐसा नहीं है। मैं निर्धन हूँ – ऐसी दीनता के कारण दुःखी है। समझ में आया? यहाँ तो ऐसा कहना है.... व्यवहार और निश्चय भगवान ने कहा है। व्यवहार और निश्चय (भगवान ने कहा है) परन्तु व्यवहार और निश्चय किसे होते हैं?

वह यहाँ कहते हैं। **ध्यानरूप ध्येय है, वह ध्यानरूप नहीं....** आहा...हा...!

गजब है न? एकरूप सदृश ध्रुव चैतन्यभगवान आनादि अनन्त नित्यानन्द प्रभु ध्येयरूप है, अर्थात् लक्ष्य में लेने योग्य है और लक्ष्य में लेनेयोग्य में ध्यान की पर्याय उसमें नहीं है। है? **ध्येय है, वह ध्यानरूप नहीं है....** आहा...हा...! ऐसी बातें! मुद्दे के रकम की बातें हैं। पाँच–दस लाख दिये हों – आठ आने या रुपये (ब्याज पर दिये हों) चाहे जो (हो) अभी, पहले आठ आने और छह आने थे; और बीस वर्ष तक खाया हो फिर कहे भाई! मैंने दस लाख दिये हैं और बीस वर्ष खाया है। लाओ, पैसा नहीं, हाय... हाय...! ब्याज खाकर मर गया। मूल रकम तो है नहीं। इसी प्रकार पुण्य का परिणाम कर-करके अनादि से मर गया परन्तु मूल रकम जो रागरहित आनन्द का नाथ प्रभु है, उस मूल रकम को भूल गया। तब तूने क्या किया? शून्य किया। आहा...हा...!

यहाँ परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनवरदेव... ऐसा आया न? देखो, **क्योंकि ध्यान विनश्वर है।** आहा...हा...! यह फिर से थोड़ा लिया। योगीन्द्रदेवने भी कहा है। परमात्मप्रकाश एक सिद्धान्त है, उसमें योगीन्द्रदेव मुनि दिगम्बर मुनि आत्मज्ञानी आनन्द के रसिक, स्वसंवेदन में प्रचुर आनन्द के अनुभवी को मुनि कहा जाता है। श्री योगीन्द्रदेव कहते हैं कि **हे योगी! परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं।** आहा...हा...! शरीररूप उपजता नहीं, ऐसा नहीं। शरीर का जन्म हुआ, इसलिए जन्मा–ऐसा नहीं। शरीर का व्यय हुआ, इसलिए मरण हुआ–ऐसा नहीं। कील लगे, लोहा लगे... प्रवीणभाई! सब पता तो होता है न तुम्हारा? (तब ऐसा कहे) पानी छूने देना नहीं। क्यों? (क्योंकि) मेरी मिट्टी पकनेवाली है - ऐसा कहते हैं। क्या कहते हैं यह? लोहे के जंगवाली कील-बील लग गयी हो... मेरी मिट्टी पकाउ है, पानी लगने नहीं देना। यह क्या बोलता है? मेरी मिट्टी पकनी है, इसे मिट्टी कहता है और फिर कहता है कि मेरी है। इस मिट्टी का माटी चैतन्य भगवान अन्दर अलग चीज है। समझ में आया? इसका जाननेवाला।

वह यहाँ कहते हैं कि इस चैतन्य के ध्येय को पकड़े बिना जो कुछ राग की मन्दता की क्रिया हो, वह मुर्दा है। उसमें मूर्च्छित हो गया है, वह मिथ्यादृष्टि जीव है। आहा...हा...! परन्तु जिसे ध्येय का अनुभव हुआ है, फिर उसे राग की मन्दता आती है, वह है तो अचेतन परन्तु उसे व्यवहार कहने में आता है। एक के बिना शून्य को शून्य गिनने में नहीं आता।

परन्तु एक (अंक) होवे तो फिर शून्य रखे तो नौ की संख्या बढ़ा दे परन्तु वह एक है, वह बढ़ा देता है, हों!

इसी प्रकार भगवान पूर्णानन्द का नाथ... **परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं।** पर्याय में आता नहीं – ऐसा कहते हैं। शरीर में आता नहीं – ऐसा नहीं; वह तो मिट्टी धूल है, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। **परमार्थ से जीव उपजता नहीं...** अर्थात् वर्तमान पर्याय में, निर्मल पर्याय में भी वह द्रव्य / ध्रुव आता नहीं। क्योंकि पर्याय एक समय की है और ध्रुव त्रिकाल है। त्रिकाल एक समय में आ जाये तो दूसरे समय में पर्याय नाश हो तो त्रिकाल भी (ध्रुव का भी) नाश हो जाये (परन्तु) ऐसा होता नहीं। आहा...हा...! ऐसे नियम और कायदे।

**मरता भी नहीं...** मरता अर्थात्? ये शरीर मरे, वह नहीं परन्तु उसकी वर्तमान अवस्था है, वह व्यय हो, दूसरे समय उपजती है दूसरी अवस्था। पहली अवस्था उत्पन्न थी, उसका व्यय होता है और दूसरी अवस्था उत्पन्न होती है। प्रत्येक में परिणमन बदला करता है। उसमें प्रथम अवस्था का व्यय हो, उसे मरण करते हैं। क्या कहते हैं अकेली बोरी को? सण की बोरी। अकेले बोरी को क्या कहें? सण की बोरी, कपड़े की थैली, डोरे की, सूत की थैली जो कुछ भी हो परन्तु यह तो सण की होती है, किन्तु (माल) भरे, तब उसे ऐसा कहा जाता है कि यह धान की बोरी, बाजरे की बोरी (है)।

इसी प्रकार आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु जब सम्यग्दर्शन में अनुभव में आता है, वह माल जब प्रगट हुआ, तब राग की मन्दता और व्यवहार बोरी / बारदान कहने में आता है। समझ में आया? समझ में आया रखा था न भाई अपने? रमेश-रमेश... रखा था... क्या भाषा कही? भाषा तो गुजराती अच्छी रखी है। आहा...हा...!

कहते हैं नित्यानन्द प्रभु जो ध्रुव है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है, जो धर्मी का ध्येय। धर्मी की दृष्टि वहाँ ध्रुव पर तैरती है। वह पर्याय में व्यय होने पर मरता नहीं, पर्याय उत्पन्न होने पर वह उसमें उत्पन्न नहीं होता तथा बन्ध को नहीं करता। त्रिकाली चीज मिथ्यात्व को नहीं करती – ऐसा कहते हैं। जो मिथ्याश्रद्धा है, पर में सुख नहीं होने पर भी, सुख माने–ऐसा मिथ्यात्वभाव, वह ध्रुवतत्त्व नहीं, कहते हैं। पर्याय है। आहा...हा...! और मोक्ष नहीं करता।

है? ध्रुव चीज है, वह मोक्ष को नहीं करती। आहा...हा...! निर्मल पर्याय का कर्ता निर्मल पर्याय है। निर्मल पर्याय का कर्ता ध्रुव नहीं है। आहा! जंगल में से काला नाग धीरे-धीरे चला आवे, वह सभा में बैठे, साथ में चूहा हो तो उसे भय नहीं। ऐसा जो सुने भगवान की वाणी... आहा...हा...! डोल उठे पूरी दुनिया उस समय! दिव्य ध्वनि अमृत के सागर की धोधवाणी मिनकले वह दिव्यध्वनि, वह जिनवर ने कही है। उस ध्वनि में ऐसा कहा है। आहा...हा...!

क्या कहा? .....यहाँ क्या कहते हैं? जो त्रिकाली वस्तु है, उसे ध्येय बनाकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का मार्ग प्रगट हुआ, वह पर्याय है। क्या कहा? जो त्रिकाली ज्ञायक आनन्द का नाथ प्रभु! पाताल कुआँ अन्दर है, उसमें दृष्टि देकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निर्मल हुआ, उसे एक शुद्धानयाश्रित एकदेश शुद्धनयाश्रित... पूर्ण होवे वह तो केवलज्ञान हुआ परन्तु यह तो मोक्ष का मार्ग है, यह एकदेश शुद्धनय है। एक अंश शुद्ध है। भाषा अलग, भाव अलग! सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण करके मर गये, परन्तु यह क्या है – इसका पता ही नहीं होता। आहा...हा...!

कहते हैं जो आत्मा त्रिकाली प्रभु, जिसे पारिणामिकभाव से ध्रुव कहा है और जिसकी पर्याय में चार पर्याय, चार भाव कहे थे। उनमें उदयभाव तो मलिन है। दया, दान, व्रत, उन्हें तो छोड़, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं परन्तु मोक्ष के कारणरूप से उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक अर्थात् जिसकी निर्विकारीदशा को मोक्ष का कारण कहा था, वह निर्विकारीदशा एकदेश शुद्धनयाश्रित है। वह शुद्धनय पूर्ण नहीं है। एक भाग शुद्धनयाश्रित यह भावना... यह भावना अर्थात् मोक्षमार्ग पर्याय। कहने योग्य आंशिक शुद्धि.... है न?.... का अर्थ किया.... का अर्थ किया। कहना चाही हुई, कहना चाहते हैं वह। तथापि उस वीतरागी पर्याय में ध्रुव आत्मा नहीं आता। भगवान! बातें बापू... पूरी दुनिया सब बहुत कहे। सब सुना, देखा है। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ तो (संवत्) 1965 की साल से ये सब शास्त्र का अभ्यास दुकान पर था। 65 के साल, कितने वर्ष हुए? कितने आचारांग, सूत्रांग, ठाणांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, सब दुकान पर (पढ़े थे)। पिताजी की दुकान थी। निवृत्ति बहुत... मैं भगत कहलाता था। छोटी उम्र से यह अभ्यास करते... करते... करते... सब आया। जहाँ... उसमें समयसार जहाँ

हाथ आया... आहा...! अरे! एक सेठ थे गृहीत, उन्होंने कहा सेठ! अशरीरी होने की पुस्तक होवे तो यह समयसार है। यह (संवत्) 1978 के साल की बात है। 22+32=54 वर्ष पहले की बात है। आहा...हा...!

यह यहाँ कहते हैं, आत्मा के अपने स्वभाव निर्मल समकित, निर्मल ज्ञान द्वारा ज्ञात हो – ऐसा है। राग द्वारा या विकल्प के ध्यान द्वारा ज्ञात हो, ऐसा यह भगवान आत्मा है नहीं और इसे ऐसा जानना कि राग द्वारा ज्ञात हो (तो) वह आत्मा को कलंक लगाने जैसा है। समझ में आया? इसका... है। अपने को तो यह इतना ही है।

उत्पन्न नहीं होता और बन्ध-मोक्ष को नहीं करता। आहा...हा...! यह पर्याय, बन्ध को करे और पर्याय मोक्ष को करे और पर्याय उपजे और पर्याय व्यय हो। ध्रुव जो सम्यग्दर्शन का ध्येय है, वह तो बन्ध और मोक्ष को भी नहीं करता। थोड़ा लिखा बहुत समझकर जानना।

## प्रवचन–13, गाथा–320 (परमागम मन्दिर)

समयसार, 320 गाथा। अब शिष्य पूछता है, इसका अर्थ यह है कि जिसे सुनने की गरज है, वह पूछता है। सुनने के लिये सुनने आना, वह अलग बात है और अपने आत्मा के लिये सुनना... यह बात कहते हैं। **अब, प्रश्न होता है कि ज्ञानी कर्ता–भोक्ता नहीं है,....** ऐसी अन्दर जिज्ञासा हुई है। उस धर्मी की पद्धति क्या है? उसका प्रकार क्या है? ऐसी जानने (की) जिज्ञासा है। **इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :–** जिसे यह सुनने की जिज्ञासा है, उसे यहाँ उत्तर दिया जाता है – ऐसी शैली की है।

**दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।**
**जाणइ य बंध–मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।320।।**

**ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।**
**जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को॥320॥**

**टीका....** पहले दृष्टान्त देते हैं। पूछना क्या है कि आत्मा यह सब करता है, वेदने

में आता है यह सब... तुम कहते हो कि आत्मा कर्ता नहीं और भोक्ता नहीं, पर को कर्ता नहीं और राग को भोक्ता नहीं, यह क्या चीज? यह क्या इसकी आश्चर्यता? इसका स्वभाव ऐसा विस्मयकारी क्या है? ऐसे शिष्य को जानने की जिज्ञासा हुई है, उसे कहते हैं।

**जैसे इस जगत में....** पहले जगत सिद्ध किया। यह जगत है। **इस जगत में....** अस्ति सिद्ध की, जगत की अस्ति सिद्ध की। उसमें **नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त...** नेत्र जो आँख है, (वह) देखने योग्य **पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण....** आँख जिसे देखती है, वह देखनेवाले पदार्थ से आँख तो अत्यन्त भिन्न है।

**अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (–भोगने) में असमर्थ होने से,...** सिद्धान्त यह कहा। आँख प्रत्येक पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है, प्रत्येक पदार्थ से आँख भिन्न है, वह आँख भिन्न को करे और भोगे कैसे? अपने में हो उसे करे और भोगे, परन्तु पर को करे और भोगे (किस प्रकार?) वह तो अत्यन्त भिन्न है। जिसे आँख स्पर्श भी नहीं करती, उसे करे-भोगे – यह कैसे बने? **अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (–भोगने) में असमर्थ होने से,...** आँख, जगत की चीज को देखे, तथापि आँख से जगत की चीज कुछ की नहीं जाती तथा भोगी नहीं जाती।

वह **दृश्य पदार्थ को न तो करता है....** उस देखनेयोग्य पदार्थ को आँख करती **और न भोगता है...** आहा...हा...! **यदि ऐसा न हो तो....** यदि आँख करे और भोगे तो। कर्ता-भोक्ता भिन्न पदार्थ को नहीं। कर्ता-भोक्ता होवे तो **अग्नि को देखने, संधु–क्षण की भाँति,...** अग्नि सुलगानेवाला, अग्नि चेतानेवाला, अग्नि चेतती है; उससे अग्नि चेतती है, ऐसा। **अपने को (–नेत्र को) अग्नि का कर्तृत्व...** आँख को सुलगानापना आयेगा। जैसे संधुक्षण अग्नि को सुलगाता है, वैसे आँख, पर से भिन्न होने पर भी, उसे करे और भोगे तो सुलगानापना आयेगा, तो आँख को सुलगानापना (आयेगा)। आँख ऐसे पड़े वहाँ दूसरा सुलगना चाहिए, आँख को सुलगानापना आयेगा।

**और लोहे के गोले की भाँति अपने को (नेत्र को) अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए....** आँख, भिन्न चीज को देखनेमात्र से उसे भोगे तो जैसे लोहे का गोला अग्नि में उष्ण हो जाता है; इसी प्रकार आँख भी अग्निमय हो जायेगी। आहा...हा...! **अग्नि का**

**अनुभव दुर्निवार होना चाहिए....** आँख को भिन्न चीज का अनुभव का भाव (प्रसंग) आ जायेगा। **(अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो....)** आँख है, वह दूसरी चीज को... आहा...हा...! किसी भी चीज को कर्ता-भोक्ता होवे तो **(नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए...)** आँख के द्वारा अग्नि (सुलगनी चाहिए)। संधुक्षण जैसे कर्ता है, वैसे आँख ऐसा करे वहाँ अग्नि होनी चाहिए। यदि अग्नि और वे भिन्न पदार्थ, इन्हें ऐसा सम्बन्ध होवे तो आँख ऐसे हो वहाँ सुलगना चाहिए। आहा...हा...!

**(यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए...)** आँख द्वारा अग्नि होना चाहिए। जैसे वह संधुक्षण अग्नि को सुलगाता है, वैसे आँख जहाँ पड़े, वहाँ सुलगना चाहिए। आहा...हा...! **(और नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए;...)** आँख है, वह अग्नि को देखती है परन्तु अग्नि का अनुभव नहीं है, यदि उसमें एकाकार होवे तो अनुभव होगा। वह तो भिन्न चीज है। आँख और जो चीज अग्नि है, वह तो भिन्न है। भिन्न को अग्नि करती भी नहीं और भिन्न को अग्नि भोगती भी नहीं, यह तो अभी दृष्टान्त है। आहा...हा...!

**(किन्तु ऐसा नहीं होता,...)** आँख से सुलगता नहीं और आँख, पर को भोगता नहीं। **(नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता–भोक्ता नहीं है)**.... आँख है, वह देखनेयोग्य पदार्थ को... देखनेयोग्य इतना सम्बन्ध अवश्य, परन्तु तदुपरान्त उसे सुलगावे या जलावे, तब तो स्वयं अग्निमय हो जाये। आँख, अग्निमय होकर जल जाये और ऐसे आँख पड़े, वहाँ अग्नि होना चाहिए। आहा...हा...! **(किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता भोक्ता नहीं है)**.... आँख देखनेयोग्य पदार्थ को... देखनेयोग्य पदार्थ का सम्बन्ध रखा, परन्तु तदुपरान्त उसे सुलगावे और जलावे – ऐसा नहीं हो सकता।

**किन्तु केवल दर्शनमात्रस्वभाववाला होने से...** आँख तो केवल (देखने के) स्वभाववाला होने से। आहा...हा...! **वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है;...** इसी प्रकार आत्मा भी... आहा...हा...! **स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से...** देखनेवाला है। व्यवहार से पर को देखनेवाला है। जैसे आँख, पर को देखती है; वैसे आत्मा, पर को

देखता अवश्य है। जिस काल में जो चीज है, उस काल में उसे आँख देखती है, वैसे आत्मा भी उसे देखता अवश्य है। आहा...हा...! देखने के उपरान्त करना और भोगना, उसमें नहीं होता। देखने का सम्बन्ध है, यह एक बात तो ली है। आँख देखती है, वह अग्नि को करती नहीं, वैसे ही आत्मा देखता तो है; देखता नहीं – ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

आत्मा अर्थात् ज्ञान भी **स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से...** इतना लिया। ज्ञान, पर को देखता है, इतना लिया। यद्यपि पर को देखता है, यह अभी व्यवहार है, तथापि इतना सम्बन्ध लिया। तो जैसे पर को देखता है – ऐसा व्यवहार है तो पर को करे – ऐसा भी व्यवहार होना चाहिए। आहा...हा...! ऐसा नहीं है। आहा...हा...! आँख से देखने का सम्बन्ध है; इसलिए कहीं आँख दूसरे को सुलगावे या दूसरे को भोगे (– ऐसा नहीं है।) वैसे आत्मा को, देखने का सम्बन्ध है... आहा...हा...! इतना तो लिया।

**देखनेवाला होने से...** आहा...हा...! **(नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण....** जैसे अग्नि, परपदार्थ से भिन्न है, उसे देखती है, तथापि उससे सुलगती, जलती नहीं; इसी प्रकार आत्मा, कर्म को देखे अवश्य। आहा...हा...! **कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण....** अकेला भिन्न नहीं लिया, प्रभु! चैतन्य ज्ञानस्वरूप भगवान (आत्मा), परपदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण। देखनेवाला होने पर भी... इतनी बात है। उसमें आया था। एक जब स्वयं करता है तो फिर साथ में पर का भी करे। कर्ता है न? अपना किये बिना रहता है? यह आ गया था। कर्ता है तो भी पर को तो कर्ता-भोक्ता नहीं। अपने परिणाम को भले ही करे और भोगे। आहा...हा...! यहाँ निर्मल परिणाम तो करे और भोगे उसकी बात है, मलिन की बात नहीं है।

आत्मा, नेत्र की भाँति पर के साथ देखने के सम्बन्धमात्र से पर को देखे; इसलिए पर का कुछ करे,... पर का देखना, ऐसा तो इसका सम्बन्ध है परन्तु देखना सम्बन्ध है, इसलिए कुछ करे (– ऐसा बिल्कुल नहीं है)। आहा...हा...! हाथ को हिलावे, पैर को हिलावे, आँख को हिलावे, बोले,... जो चीज है, उसे देखता है। परन्तु देखने पर भी जो चीज देखे, वही देखे बराबर, उसके परिणाम में वही देखने का बराबर आवे। ऐसा होने पर भी... आहा..हा...! वह देखनेवाला होने पर भी, **कर्म को न तो करता है....** आहा...हा...!

रागादि, कर्म आदि को करता नहीं। उन्हें करता नहीं कहा, क्यों नहीं करता – ऐसा नहीं कहा। ज्ञान कहा न? ज्ञान अर्थात् आत्मा। ज्ञान, ऐसे देखने का-जानने का सम्बन्ध इतना कहते हैं, तथापि देखनेमात्र के उपरान्त उसे करना और भोगने का, **कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से,...** आहा...हा...! जीव ज्ञानस्वरूप होने से उसे कर्म का उदय होता है, उसे देखता है। देखने के सम्बन्धमात्र से कर्म के उदय को भोगे या करे – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अभी तो चार बोल लेंगे।

**कर्म को न तो करता है और न वेदता है,....** आहा...हा...! पर को जानने-देखने का सम्बन्ध होने पर भी, पर को करता और भोगता बिल्कुल नहीं है। आहा...हा...! यह सब पूरे दिन धन्धा-व्यापार धमाल चलती है न? दुकान पर बैठा, कहते हैं कि आत्मा को और उसे देखनेमात्र का सम्बन्ध है। देखने के अतिरिक्त उसे करने और भोगने का बिल्कुल स्वभाव नहीं है। आहा...हा...! जैसे आँख, अग्नि को नहीं करती; वैसे भगवान आत्मा, कर्म और कर्म से प्राप्त चीजें, इन किसी चीज को-कर्म को करता-भोगता नहीं तो पर की तो क्या बात करना? आहा...हा...! करता और भोगता नहीं है।

**किन्तु केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला....** आहा...हा...! केवल ज्ञानस्वभाववाला **–जानने के स्वभाववाला होने से...** भगवान तो जानने के स्वभाववाला है, बस! पूरी दुनिया को देखे। आहा...हा...! विषय-वासना के काल में संयोग को देखे। आहा...हा...! तथापि उस विषय-वासना को करता नहीं और सन्मुख चीज को जो भोगता है – ऐसा दिखता है, उसे वह आत्मा करता नहीं। आहा...हा...! **केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला....** एकान्त नहीं कहा? केवल ज्ञान लिया, अकेला ज्ञानस्वभाव। कथंचित् ज्ञानस्वभाव और कथंचित् कर्तापना, राग का कर्तापना, अरे! बन्ध और मोक्ष को कर्तापना कथंचित्, तो अनेकान्त कहलाये – ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाववाला होने से जानने का काम करता है। **–जानने का स्वभाववाला होने से...** जानने का काम करता है। आहा...हा...! परन्तु वह बन्ध को नहीं करता। राग को, बन्ध को नहीं करता तथा राग को वह ज्ञान भोगता नहीं। बन्ध को ज्ञान

जानता है। जानने का स्वभाव होने से जानता है, इतना कहते हैं परन्तु उस राग को करे और उसे भोगे – ऐसा इसका स्वरूप नहीं है। आहा...हा...! पर का करना तो कहीं रह गया। जवाहरात का... आहा...हा...! हीरा, माणिक, जवाहरात, कपड़े, इन एक रजकणमात्र को... रजकण से लेकर पूरी दुनिया को देखे परन्तु एक रजकण को करे या राग को करे और भोगे (– ऐसा नहीं है) जानने के सम्बन्धमात्र से करने और भोगने का सम्बन्ध हो जाये,... उसे जाने परन्तु करे नहीं। बन्ध हो, परज्ञेयरूप से बन्ध को जाने; बन्ध को करे नहीं। आहा...हा...! ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान रुकता है–गोम्मटसार में तो सर्वत्र यह आता है। आठ कर्म से ऐसा होता है और आठ कर्म से ऐसा होता है और आठ कर्म से यह होता है – यह तो निमित्त का ज्ञान कराने को (कहा है) आहा...हा...!

यहाँ तो केवल ज्ञानस्वभाव **केवल ज्ञानमात्र....** ज्ञानमात्र कहने से ज्ञान अकेला नहीं। ज्ञानमात्र कहने से दूसरे अविनाभावी गुण हैं परन्तु ज्ञानमात्र कहने से राग को और पर को करता नहीं, इसलिए 'मात्र' कहा है। आहा...हा...! यह बोले नहीं, हिले नहीं... आहा...हा...! दूसरे को शिक्षा दे नहीं, दूसरे से शिक्षा ले नहीं। देखो! यहाँ तो यह आया। कल दोपहर में तो यह आया था – गुरु के वचनों को पाकर... वह तो मात्र सुदृष्टि का उपदेश दिया, वह इसने ले लिया। सुदृष्टि को कर लिया – इतनी बात कहने के लिये कही।

यहाँ तो कहते हैं **केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला (–जानने का स्वभाववाला) होने से कर्म के बन्ध को....** करता नहीं, जानता है। शास्त्र में आवे कि चौथे गुणस्थान में इतनी प्रकृति होती है, सत्ता होती है, इतना उदय होता है, इतना वेदन। अन्दर वेदनेयोग्य अर्थात् अनुभाग होता है परन्तु उसे जाने। आहा...हा...! चौथे गुणस्थान में आठ प्रकृति में से कर्म की इतनी प्रकृति होती है, इतनी छूटती है, इतनी बँधती है, इतनी सत्ता में रहती है, इतनी उदीरणा होती है, इतना उदय आता है, यह सब बात आती है, परन्तु इसे जाने। आहा...हा...! अरे! नजदीक की चीज कर्म है, उसके उदय को भी जाने, तो परचीज को करे और यह करना, (वह तो कहीं रह गया)। आहा...हा...! आत्मा चले, आत्मा बोले, आत्मा पर के टुकड़े करे, पर का चूरा करे, मदद करे, पर से मदद ले – यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहा...हा...!

इस **बन्ध को तथा मोक्ष को....** आहा...हा...! ज्ञान तो मोक्ष को भी नहीं करता। आहा...हा...! बात बहुत ऊँची है। 320 गाथा! बन्ध को करे और मोक्ष को करे, यह भी नहीं। बन्ध को भले न करे परन्तु मोक्ष को करे न? मोक्ष (तो) पूर्ण दशा है। कहते (हैं) नहीं; उस काल में वह पर्याय होती ही है, उसे करे क्या? करे तो, न हो उसे करे। जिसकी स्थिति न हो, उसे करे, उसे करना कहा जाए परन्तु जाननेवाले ज्ञानी को, मोक्ष की पर्याय है – ऐसा जाने, बस। है, उसे जाने। आहा...हा...! मोक्ष की पर्याय को भी करे नहीं, क्योंकि इसमें एक भाव नाम का गुण है कि जिस गुण के कारण, दृष्टि जो द्रव्य पर पड़ी और द्रव्य का स्वीकार हुआ, वहाँ जो बन्ध का रागादि है... आहा...हा...! उसे वह करता नहीं है। आहा...हा...! उस गुणस्थान में उसके प्रमाण में कर्म का उदय आता है और उदीरणा होती है, उसे वह करता नहीं है। आहा...हा...! अन्तिम हद है। ज्ञानस्वभाव, ज्ञानस्वभाव... बहुत ही खींचकर तू कहे तो वह जाने-देखे – ऐसा उसे कहते हैं। वस्तुतः तो पर को जानना-देखना, वह व्यवहार है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** जानता नहीं, वह व्यवहार है?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह पर को जानता है, यह व्यवहार है करने और भोगने की तो बात ही नहीं है। स्वयं अपने को जानता है, यह निश्चय। आहा...हा...! परन्तु कहते हैं कि तू बहुत ले जा तो देखे-जाने, इतने तक रख। आहा...हा...! आत्मतत्त्व ज्ञानस्वरूपी भगवान, मोक्ष को करे, यह भी नहीं। आहा...हा...! पुरुषार्थ कहाँ गया वहाँ? कहते हैं कि वह जाने, यही उसका पुरुषार्थ है। जाने कि यह मोक्ष हुआ, उस समय उस काल में वही पर्याय, शुभभाव के कारण... शुभभाव का स्वभाव है, शुभ-अशुभ आदि है न? उसके कारण पर्याय होती ही है, करूँ तो हो, विकल्प करूँ तो हो... करूँ तो हो। आहा...हा...! ऐसा स्वरूप में नहीं है। आहा...हा...!

वह बन्ध को नहीं करता और मोक्ष को भी नहीं करता। आहा...हा...! क्योंकि मोक्ष की पर्याय उस काल में वह होनी ही है। होनी है, उसे करे... होनी है, होती है... होती है... होती है... उसे करे अर्थात् क्या? आहा...हा...! ज्ञान प्रभु! पर्याय होती है अथवा है; है, उसे करना क्या? मोक्ष की पर्याय है। जाननेवाले को वह मोक्ष की पर्याय वहाँ है। है, उसे करना

क्या? आहा...हा...! सत्, सत् को करना क्या? तो है, वह नहीं हो – ऐसा हो जाये। मोक्ष की पर्याय भी उस काल में होती है, वही उसका स्वभाव है। द्रव्यदृष्टि हुई, इसलिए उसके अन्तर में, गुण में ऐसा (भाव) नाम का गुण है; इसलिए वह पर्याय होती ही है। भाव नाम का गुण है कि वह मोक्ष की पर्याय उस काल में होती ही है। आहा...हा...! शुद्ध, उस भाव नाम के गुण के कारण पूरी द्रव्यदृष्टि हुई है। ऐसा सूक्ष्म है। उस-उस काल में वह पर्याय होती ही है अथवा 'है' अथवा 'सत्' है। सत् है। आहा...हा...! सत् है। सत् को करे? आहा...हा...! आहा...हा...! ऐसी बात है। अभी तो लोग कहीं बाहर में मानकर–मनवाकर (बैठे हैं)।

ज्ञाता रूप से जानता है, इतना भले कहें। उदय को जानता है, इतना कहें; इसके अतिरिक्त दूसरा तो कोई है ही नहीं। यहाँ तक आया कि उदय को जानता है, बस। इतनी ज्ञान की बात को सिद्ध किया। जाननेवाला आत्मा है, इस अपेक्षा से। आहा...हा...! उदय को और निर्जरा को... आहा...हा...! निर्जरा को आत्मा करता नहीं। क्यों? कि उस समय अशुद्धता टलती है, शुद्धता बढ़ती है, कर्म खिरते हैं, यह निर्जरा के तीन प्रकार हैं। कर्म खिरना, एक बाह्य प्रकार; अशुद्धता का गलना, एक प्रकार; और शुद्ध का बढ़ना, एक प्रकार। इसी समय कहते हैं, ये तीनों हैं। ये एक समय में तीनों हैं। हैं उन्हें करे क्या? आहा...हा...! सूक्ष्म बात है। आहा...हा...!

यह सोने को और हीरे को घिसे। कहते हैं कि वह पर्याय तो वहाँ है। अब है, उसे यह करे – इसका अर्थ क्या? नहीं, उसे करे – ऐसा होता है। परन्तु वह पर्याय वहाँ है। आहा...हा...! सत् निर्जरारूप पर्याय है। यहाँ शुद्धता की वृद्धि वह निर्जरा; अशुद्धता का गलना, वह भी निर्जरा और कर्म का (खिरना वह भी) निर्जरा है परन्तु वास्तविक तो शुद्धता का बढ़ना, (वह निर्जरा है)। यहाँ यह कहते हैं कि शुद्धता का बढ़ना, वह भी उस काल में है। आहा...हा...! निर्जरा के प्रकार तीन; उसमें वास्तविक तो शुद्धता का बढ़ना, वह निर्जरा है। अशुद्धता का गलना, वह तो व्यवहारनय से; और कर्म का टलना, वह तो असद्भूत व्यवहारनय से (कहा जाता है)। आहा...हा...! परन्तु यहाँ तो शुद्धता का बढ़ना, वह भी उस समय वह है, बढ़ना वह है। आहा...हा...! शुद्ध उपयोग से वहाँ बढ़ती है, वह उस समय है। है उसे करना क्या? आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** उत्पन्न होता है, वह भी नहीं लेना चाहिए।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उत्पन्न होता है, उसे भी करता नहीं, यह बात तो आयी। यह बात तो सिद्ध की है कि उपजता है न? वह उपजता है न? है, उसे उपजता है, उसे करना? सूक्ष्म बात है भाई! आहा...हा...! जो मोक्ष उपजता है, अरे! निर्जरा भी उपजती है, आहा...हा...! उपजती है, उसकी अस्ति तो है। अस्ति है, उसे करना है? सूक्ष्म बात है। आहा...हा...! निर्जरा को...

भाषा फिर कैसी है? **केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला (–जानने के स्वभाववाला) होने से....** यह वहाँ लिया। यहाँ लिया **मात्र जानता ही है।** अन्तिम, **मात्र जानता ही है।** वह निर्जरा को भी करता है... होती है, वहाँ करता है, यह किस प्रकार? मोक्ष भी होता है, उस समय में सत् है, उसरूप से वह क्रमबद्ध में है। यह सब क्रमबद्ध से उठाया है न? मोक्ष की पर्याय क्रमसर के काल में होती है, उसे करना क्या? निर्जरा के काल में निर्जरा / शुद्धि की वृद्धि है, उसे करना क्या? आहा...हा...! ऐसी बात है। इसके बदले यहाँ तो कहते हैं पर का करना, पर की सहायता करूँ, मदद करूँ, सबको एक्य रखने के लिये एक-दूसरे की मदद करो तो एक्य रह सके। आहा...हा...! यह लोगों को ऐसे बाहर से मीठा लगता है, पराधीनता की दृष्टि है न? आहा...हा...! यहाँ कहते हैं वह दृष्टि तो विरुद्ध है।

यहाँ तो सत् है। जैसे त्रिकाली ज्ञानस्वभाव सत् है, जैसे त्रिकाली आत्मा सत् है, उसे करना क्या? उसी प्रकार वह-वह पर्याय उस-उस काल में वह सत् ही है। आहा...हा...! दोनों सत् हैं। यहाँ वस्तु त्रिकालीरूप से सत् है, निर्जरा और मोक्ष वह भी उस काल के समयरूप से सत् है। (सत्) है उसे करना क्या? आहा...हा...! गजब बात की है न! सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है न! और वह भी, उसे जानने की पर्याय भी, वास्तव में निर्जरा को, मोक्ष को जानती है – ऐसा कहा; करती है – ऐसा नहीं कहा परन्तु फिर भी निर्जरा और मोक्ष के काल में वह ज्ञान की पर्याय भी उस प्रकार से वहाँ होने की ही है। मोक्ष को, निर्जरा को जाने – ऐसी ही पर्याय उस काल में होनी ही है। आहा...हा...! जरा सा सूक्ष्म है।

**मुमुक्षु :** सूक्ष्म आया।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सूक्ष्म आया। आहा...हा...!

निर्जरा और मोक्ष की पर्याय तो है। है, उसे भले जाने – ऐसा कहना, परन्तु जानने की पर्याय भी उस काल में आहा...हा...! फिर इतना कहे कि पर को जानती है, इतना कहो। वह पर को जानती है, इस प्रकार ही है। वह ज्ञान की पर्याय जो सर्वविशुद्धज्ञान है, वह पर को जानती है, इस प्रकार ही वह है। वह पर है, इसलिए पर को जानती है – ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग है। सत् को सत्रूप से सिद्ध करते हैं। है, सत् है। आहा...हा...! उतना कहते हैं कि जानती है परन्तु जानती है, वह पर्याय भी पर्याय सत् है। आहा...हा...! उसी प्रकार से, उसी समय में, उसे जानना – ऐसी पर्याय वह है, उसे जाने, इसलिए वह पर्याय उसे जानती है (ऐसा कहना) वह भी व्यवहार है। आहा...हा...! वह जानने की पर्याय भी उस काल में क्रमसर में उसे जाने ऐसा स्वयं अपनी पर्यायरूप है। आहा...हा...! सूक्ष्म बहुत है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** भाव सत्य आया है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** चार बोल लिये। बाकी क्या रखा? बन्ध और मोक्ष। आहा...हा...! द्रव्यबन्ध से तो भिन्न है परन्तु भावबन्ध को भी उसी प्रकार से वह वहाँ जानता है। राग बँधता है, राग होता है। उस-उस काल में वह होता है, उसे उस-उस काल में जानने का काम वह ज्ञान की पर्याय, उस काल में स्वयं से करती है। आहा...हा...! यह राग और बन्ध है।

सर्व गुणों को, अनन्त पर्यायों को, मोक्ष, निर्जरा, उदय आदि को उस समय में वह ज्ञान की पर्याय, उसे उस प्रकार से जाने, उस प्रकार स्वयं उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्वयं स्वयं से स्वतन्त्र उत्पन्न होती है। आहा...हा...! अब यहाँ बाहर के लोगों को अटकना, उसे करना, उसे.... एक जगह सुना था, इन्दौर में पचास पण्डित एकत्रित हुए थे, उस समय यहाँ के विरोध की चर्चा रखी कि पर का कर्ता न माने, वह दिगम्बर जैन नहीं है। आहा...हा...! अरे...! प्रभु! तू क्या करता है तू? आहा...हा...! करता तो नहीं परन्तु वास्तव में तो उसका जाननेवाला भी नहीं है। जाननेवाला, जाननेवाले को जानते हुए, जाननेवाले को जाननेवाले को जानने की पर्याय सत् उत्पन्न होती है। परन्तु यहाँ इतना व्यवहार सिद्ध करना है कि मोक्ष और निर्जरा को जानता है। जानने की पर्याय और मोक्ष तथा बन्ध की पर्याय, निर्जरा की (पर्याय), वह भिन्न है। अनन्त पर्यायें एक समय में होती हैं, अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें

अक्रम-अक्रम एक साथ होती है। आहा...हा...! यह निर्जरा की पर्याय को और मोक्ष की पर्याय को भी, उसी समय की पर्याय होती है, वह जानती है – ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! थोड़ा सूक्ष्म तो है, 320 (गाथा) इसे फिर उतारना था न?

**मुमुक्षु :** ..... कर्तापना तो सही जानने का....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** जानना, यह जानना, वह भी करना, जानने को करना, जानने को करूँ, यह नहीं। वह जानने की पर्याय भी उस काल में सत्‌रूप से है और होती है। आहा...हा...! ऐसा है और उसमें से पूरी दुनिया में मैं करूँ... मैं करूँ... पूरे दिन यह धन्धा मैंने किया, इसका मैंने किया, इसका मैंने किया, मैंने इसे संभाला, लड़के को बड़ा किया, पाल-पोसकर पढ़ाकर (होशियार किया), सब गप्प है, यह तो कहते हैं। आहा...हा...!

जहाँ अपनी निर्जरा और मोक्ष की पर्याय... आहा...हा...! उसे भी जानने का काम; करने का नहीं, जानने का काम करे... आहा...हा...! यह पर का कुछ कर सके यह तो है ही नहीं। आहा...हा...! ऐसा सिद्ध करना है कि उस समय में उसका सत् है, उस प्रकार होता है। सत् है, उसमें तेरे हेतु की उसे क्या आवश्यकता है? इतना रख कि तू ज्ञान है और वह ज्ञान नहीं। इसलिए जानने का काम करे। आहा...हा...! ऐसा मार्ग! कहाँ ले जाना इसे?

यहाँ कहे, एकेन्द्रिय की दया पालो, दो इन्द्रिय की दया पालो, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय की, पञ्चेन्द्रिय की.... आहा...हा...! हिंसा न करो, यह सब व्यवहार के वचन हैं। आहा...हा...! उस समय हिंसा होनी नहीं थी। आहा...हा...! उसे ज्ञान जानता है। आहा...हा...! वह ज्ञान भी, हिंसा होनी नहीं थी, यह अपेक्षा रखकर ज्ञान उत्पन्न हुआ है – ऐसा नहीं है। अनन्त पर्यायें एक समय में उत्पन्न होती हैं, उसमें एक पर्याय को दूसरी पर्याय की भी अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा उसका सत्‌स्वरूप है। 320 गाथा, आहा...हा...! भाई ने रखा है न? जयसेनाचार्य की टीका में कि भाई! योगीन्द्रदेव ने भी ऐसा कहा है कि आत्मा, बन्ध और मोक्ष को करता नहीं। यह गाथा रखी है न? है न? इसमें है या नहीं? इसमें नहीं होगी। वह पृष्ठ है। है? अभी क्या कहा था?

**मुमुक्षु :** योगीन्द्रदेव की गाथा।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, अन्त में है, इस ओर। श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है कि

**ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।**
**जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउँ भणेइ॥68॥**

जिनवर तीन लोक के नाथ जिनेश्वर ऐसा कहते हैं। दूसरी भाषा क्या कही जाये? कहते हैं ऐसा कहना, वाणी वाणी के कारण आती है परन्तु उस वाणी का निमित्त है – ऐसा कहने में आता है। वाणी है, वह वहाँ भूतार्थ उस समय की उसकी पर्याय है। योग्यता से वह वाणी आती है। भगवान हैं, इसलिए आती है – ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! परन्तु भाषा क्या कही जाये? बड़े का नाम देना हो तब (ऐसा कहा जाता है) **जिणवरु एउँ भणेइ** हे योगी! योगी अर्थात् योग को आत्मा में जोड़नेवाला। आहा...हा...! परमार्थ से जीव उत्पन्न भी नहीं होता। परमार्थ से जीव, निर्जरा और मोक्षरूप भी नहीं उत्पन्न होता और मरता भी नहीं। आहा...हा...! और बन्ध-मोक्ष करता नहीं – ऐसा श्री जिनवर कहते हैं। दृष्टान्त जिनवर का दिया। जिनवर ऐसा कहते हैं। बन्ध और मोक्ष को करता नहीं – ऐसा जिनवर कहते हैं। आहा...हा...!

इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा जो स्वभाव है, उसकी ओर जहाँ जानने का लक्ष्य हुआ (अर्थात्) सब छूट गया, बस। फिर जो है वह जाने। वह निर्जरा को जाने, मोक्ष को जाने। साधक के समय निर्जरा को जाने, साध्य के समय मोक्ष को जाने। आहा...हा...! वह जानने की पर्याय भी वैसी ही स्वयं उस काल में उस प्रकार की स्वयं से उत्पन्न होती है। आहा...हा...! जानने की पर्याय भी, बन्ध और मोक्ष और निर्जरा को, उदय को – जिनवर कहते हैं कि यह आत्मा नहीं करता, जानता ही है। वह जानता है, वह ज्ञान की पर्याय भी उस काल में उसी प्रकार से स्वयं से उत्पन्न होने का काल था, वह हुई है। आहा...हा...! जरा कठिन काम है।

.... यह भावना अर्थात् ज्ञान की पर्याय आदि, श्रद्धा की पर्याय, चारित्र की पर्याय जो भावनारूप प्रगट हुई, वह आंशिक शुद्धिरूप परिणति है। वह निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिकज्ञानरूप होने से, वह क्षयोपशमज्ञान है। वस्तुरूप से भले श्रद्धा उपशमरूप हो, क्षयोपशमरूप हो, क्षायिकरूप हो परन्तु उसे जाननेवाला ज्ञान, क्षयोपशमज्ञान है। उसे जाननेवाला क्षायिकज्ञान नहीं। क्या कहा समझ में आया? आहा...हा...! परमार्थ से वह

उपजता भी नहीं, अर्थात् किसमें? पर्याय में उपजता नहीं, वह पर्याय को व्यय करता नहीं। आहा...हा...!

प्रवचनसार की 101 गाथा में ऐसा कहा कि जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं। जानने की अपेक्षा से यहाँ, जानता है, यह आया, ऐसा ज्ञेय है; इसलिए यहाँ – ऐसा ज्ञान होता है, ऐसी अपेक्षा नहीं है। जानने के ज्ञान में जो ज्ञात होनेयोग्य ठीक सामने आया, इसलिए उसे यहाँ जानता है, इतनी अपेक्षा से ज्ञान की उत्पत्ति हुई – ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ यह कहा, देखो न! आहा...हा...! एकदेश व्यक्तिरूप है। क्षयोपशमज्ञान की अपेक्षा से। भले क्षायिकसमकित हुआ परन्तु ज्ञान की अपेक्षा से क्षयोपशमज्ञानरूप है। **तथापि ध्याता पुरुष ऐसा भाता है कि सकल निरावरण अखण्ड...** आहा...हा...! भगवान आत्मा सकल निरावरण। सकल निरावरण, पूर्ण निरावरण। अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अखण्ड है और एकरूप है। प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रतिभासमय ज्ञात हो, ऐसा है। **अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकपरमभावलक्षण....** शुद्ध पारिणामिक सहज स्वभावलक्षण **निज परमात्मद्रव्य...** आहा...हा...! निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। पर तो नहीं, राग नहीं, पर्याय नहीं। आहा...हा...! पर्याय ऐसा जानती है कि सकल निरावरण अखण्ड एक ज्ञानस्वरूप अविनश्वर, परम **पारिणामिकभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ।** पर्याय कहती है कि मैं पर्याय हूँ – ऐसा भी नहीं। आहा...हा..! ऐसी बात है।

**निज परमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ।** वही मैं हूँ। जो सकल निरावरण है, वही मैं हूँ। एकान्त कर दिया। कथंचित् ऐसा और कथंचित् ऐसा – यह नहीं रखा। **जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय...** ज्ञान की पर्याय में उतना ही पूरा भासित होता है। आहा...हा...! वह प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञात हो – ऐसा भगवान आत्मा **अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ, परन्तु ऐसा नहीं भाता कि मैं खण्ड ज्ञान हूँ।** क्षयोपशमज्ञानरूप भी मैं हूँ, ऐसा नहीं भाता – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

यहाँ तो कहा कि क्षयोपशमज्ञान में या क्षायिकज्ञान में ज्ञात होता है। जो है, वैसा ज्ञात

होता है परन्तु फिर भी धर्मी, क्षयोपशमज्ञान को भी नहीं भाता। उसकी दृष्टि द्रव्य पर होती है। आहा...हा...! यह 320 गाथा पढ़ी गयी है, बहुत व्याख्यान हो गये हैं। यह तो योगीन्द्रदेव ने भी ऐसा कहा है कि **ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।** आहा...हा...!

अकेला ज्ञानस्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण ज्ञान, उसे ज्ञान प्रधानता से पूरे आत्मा को लिया, क्योंकि उस पर्याय में अनन्त पर्याय और द्रव्य-गुण ज्ञात होते हैं। उस पर्याय को भी मैं उत्पन्न करता हूँ – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! वह भी उस काल में है। है, उसे भी मैं जानता हूँ। आहा...हा...! ऐसा यहाँ कहा। **बन्ध को तथा मोक्ष को और कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है।** वह निर्जरा करता नहीं, मोक्ष करता नहीं। गजब बात है। उसके बदले यहाँ तो पर का करना, दया पालना, पर की दया पालना, पर को मदद करना, पर को... कुछ कर दे, वह अत्यन्त तत्त्व विरुद्ध है परन्तु अब क्या हो? विशेष पूर्ण हुआ। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

# मंगल वाणी

**अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के नाईरोबी में हुए पूज्य बहिनश्री के वचनामृत पर प्रवचन**

**'मैं ज्ञायक और यह पर', बाकी सब जानने के प्रकार हैं। 'मैं ज्ञायक हूँ, बाकी सब पर'—ऐसी एक धारा प्रवाहित हो तो उसमें सब आ जाता है, परन्तु स्वयं गहरा उतरता ही नहीं, करने की ठानता ही नहीं, इसलिए कठिन लगता है॥13॥**

## प्रवचन—1 वचनामृत-13 से 20

वचनामृत, 13 वाँ बोल। 12 वाँ बोल चला है। **'मैं ज्ञायक और यह पर',....** मैं एक जाननेवाला ज्ञायक और बाकी सारी चीज़ें—राग से लेकर सारी दुनिया, वह सब पर। **बाकी सब जानने के प्रकार हैं।** आदरणीय तो यह ज्ञायकस्वरूप भगवान त्रिकाली ज्ञान—आनन्दस्वरूप ध्रुव है, वह एक ही आदरणीय और स्वीकार करनेयोग्य है। आहा...हा...हा...! है? **बाकी सब जानने के प्रकार हैं।**

**'मैं ज्ञायक हूँ, बाकी सब पर'—ऐसी एक धारा प्रवाहित हो तो....** आहा...हा...! मैं तो एक जाननेवाला.... जाननेवाला... जाननेवाला... (हूँ)। इसके अलावा दूसरी सभी चीज़ें मेरी नहीं। इस एक धारा से (अर्थात्) एक ही प्रकार से अन्तर्मुख होकर चले, **तो**

**उसमें सब आ जाता है,...** एक ज्ञायक को जाने से 'एगं जाणी सव्वं जाणी।' जिसने एक को जाना, उसने सब को जाना। सूक्ष्म बात है, भाई !

एक ज्ञायक ध्रुव, हों....! पर्याय भी नहीं। जाननेवाली पर्याय / अवस्था (है) परन्तु जानने में आने योग्य ज्ञायक, वह मैं हूँ। बाकी सब जानने के अनेक पहलू आते हैं। आदरणीय तो एक ज्ञायक हूँ। आहा...हा...!

**परन्तु स्वयं गहरा उतरता ही नहीं,....** आहा...हा...! ऊपर ही ऊपर रहता है, अन्दर में जाने का प्रयत्न ही नहीं करता। बाहरी क्रियाकाण्ड और बाहरी विकल्पों की वृत्ति में फँसा, (इसलिए) अन्तर में उतरने का प्रयत्न करता नहीं। आहा...! है? **परन्तु स्वयं गहरा....** गहरा अर्थात्? ऊपर जो पर्याय है और ऊपर जो राग है, इससे गहरा (अर्थात्) जिसका पूरा तल चेतन है, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भगवान है, उसके अन्तर में तो जाता नहीं। क्योंकि? **उतरता ही नहीं, करने की ठानता ही नहीं,....** आहा...हा...! मैं एक जाननेवाला हूँ, ऐसा करने की ठानता ही नहीं; **इसलिए कठिन लगता है।** कठिन लगता है न? कि यह सब क्या है? चार नय और चार नय का व्यवहार–भेद और उसका निषेध और आत्मा एक ज्ञायक विद्यमान अर्थ–ये सब कठिन क्यों लगता है? क्योंकि अन्दर गहराई में उतरता नहीं है। आहा...हा...! ऊपर–ऊपर से सब विकल्पों की वृत्तियाँ (चलती है)। सुनना, पढ़ना, विचार करना, कहना–इन सब वृत्तियों में अटकते हुए गहराई में उतरता ही नहीं। आ...हा...हा...! क्योंकि करने की ठानता ही नहीं, इसलिए कठिन लगता है। आ...हा...हा...! इसलिए कठिन लगता है। **करने की ठानता ही नहीं, इसलिए कठिन लगता है।** करने की ठान ले तो कठिन न लगे – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है।

***अनुभव में से शब्द निकल गए हैं। बहिनें–लड़कियों के बीच रात्रि में बोल गये हैं, उसमें से लिख लिया गया, सो यह बाहर आया है। अन्तर आनन्द के अनुभव की भूमिका में से वाणी निकली है। एक देह स्त्री की है। बाकी अन्दर में तो स्त्रीपना, राग और विकल्प भी मेरा नहीं, वे तो अनुभव में–आनन्द में रहते हैं। वही मैं हूँ और कुछ भी मेरा नहीं। आहा...हा...!*** 13 हुआ।

**'मैं हूँ' इस प्रकार स्वयं से अपने अस्तित्व का ज़ोर आता है, स्वयं अपने को पहिचानता है। पहले ऊपर-ऊपर से अस्तित्व का ज़ोर आता है, फिर अस्तित्व का गहराई से ज़ोर आता है; वह विकल्परूप होता है परन्तु भावना ज़ोरदार होने से सहजरूप से ज़ोर आता है। भावना की उग्रता हो तो सच्चा आने का अवकाश है॥14॥**

(अब) 14। **'मैं हूँ' इस प्रकार स्वयं से अपने अस्तित्व का ज़ोर आता है,....** क्या कहते हैं? **'मैं हूँ'** ऐसा अपने से (ज़ोर आवे), विकल्प से नहीं। स्वयं से अपने को 'है'-(ऐसा) अस्तित्व का ज़ोर आये। आहा...हा...हा...! मैं एक आनन्दकन्द प्रभु हूँ। सत्चिदानन्द आत्मा हूँ - ऐसा स्वयं को स्वयं अपने पुरुषार्थपूर्वक ज़ोर आये।

**स्वयं अपने को पहिचानता है।** ऐसा ज़ोर आये तो अपने को पहिचाने। आहा...हा...! है? **पहले ऊपर-ऊपर से अस्तित्व को ज़ोर आता है,...** अर्थात् क्या? कि पहले अनुभव नहीं करता। प्रथम अन्दर जाननेवाली चीज़ 'है', जाननेवाला है, वह अनादि-अनन्त नित्य ध्रुव है-ऐसा पहले ऊपर-ऊपर से अर्थात् विकल्प से ज़ोर आता है। **फिर अस्तित्व का गहराई से ज़ोर आता है;....** आहा...हा...! 'है' भगवान पूर्णानन्द प्रभु! ऐसा यदि गहराई में से अस्तित्व का ज़ोर आये; सत्ता 'है' यह 'है'। दूसर सब सत्ताओं का तो मैं जाननेवाला हूँ-यह भी व्यवहार। (क्योंकि) मेरी पर्याय में ज्ञात होता है। (और) उस पर्याय का मैं जाननेवाला हूँ और पर्याय को जाननेवाला (कहते पर) भी द्रव्य को जाननेवाला मैं हूँ। पर को तो मैं जानता ही नहीं। मेरी पर्याय में पर का जानना होता है, वह मेरी अपनी पर्याय के सामर्थ्य से ज्ञात होता है, वह जानने में नहीं आता। आहा...हा...हा...! इतना कठिन अब...! स्वयं ऊपर-ऊपर से करता है।

**अस्तित्व का गहराई से ज़ोर आता है; वह विकल्परूप होता है...** 'विकल्परूप होता है'-उसमें क्या कहा? अन्दर गहराई में ज्ञायक है... ज्ञायक है... ज्ञायक है... पर्याय के पीछे ज्ञायक है, विकल्प से पार है-ऐसा एक विकल्पपूर्वक ज़ोर आता है। भले ही पहले विकल्प आये-राग का अंश पहले आये।

**वह विकल्परूप होता है परन्तु भावना ज़ोरदार होने से....** (अर्थात्) अन्दर

जाने की भावना यदि ज़ोरदार हो तो **सहजरूप से ज़ोर आता है।** सूक्ष्म बात है। केवल अनुभव की (बात) है। प्रथम अस्तित्व 'है' (ऐसा) ऊपर से (अर्थात् कि) विकल्प से लक्ष्य में आता है कि यह कोई चीज़ अन्दर में है; फिर विकल्प टूटकर भीतर की ओर ज़ोर जाता है, तब **भावना की उग्रता हो तो...** (अर्थात्) आत्मा के चैतन्यस्वभाव की भावना अर्थात् एकाग्रता यदि हो तो, **सच्चा आने का अवकाश है।** सच्चा आने का अर्थात् सत्य आने का वहाँ अवकाश है। उसको आत्मा अनुभव में आ सके (ऐसा) वहाँ अवकाश है। आहा...हा...हा...! ऐसी बातें हैं।

केवल सादी भाषा! लड़कियों के बीच बोले, सो लिख लिया गया और बाहर आया है। समझने के लिए बहुत धीरज चाहिए।

जिसको अपना (हित) करना है, उसको पहले तो ऊपर से यह महाप्रभु कोई है, लोकालोक को जाननेवाला सर्वज्ञशक्तिधारी तत्त्व है (ऐसा लगता है)। (जैसे) सर्वज्ञ परमगुरु (हैं), वैसा सर्वज्ञ (मैं हूँ)। मैं ही सर्वज्ञ परमगुरु (हूँ)। सब से उच्च से उच्चतम मैं—ऐसा ज़ोर यदि अन्दर से आये, आहा...हा...हा...! **तो सच्चा आने का अवकाश है।** तो अन्तर आनन्द के अनुभव में आने का उसको अवकाश है। भाषा तो सादी है परन्तु भाव थोड़े गहरे हैं। गहरे भाव (हैं)। आहा...हा...! ये 14 बोल हुए।

**तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि जो कि जड़ है, उसे भी कैसी उपमा दी है! अमृतवाणी की मिठास देखकर द्राक्षें शरमाकर वनवास में चली गयी और इक्षु अभिमान छोड़कर कोल्हू में पिल गया! ऐसी तो जिनेन्द्रवाणी की महिमा गायी है; फिर जिनेन्द्रदेव के चैतन्य की महिमा का तो क्या कहना!॥15॥**

(अब) पन्द्रहवाँ—**तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि जो कि जड़ है....** ध्वनि है—आवाज़, ॐ ध्वनि, (वह) जड़ है। यह आवाज़ निकलती है, (वह) जड़ है। वैसे वीतराग की ॐ—आवाज़ निकले, वह जड़ है। **उसे भी कैसी उपमा दी है।** उस वाणी को (कैसी उपमा दी है।) **अमृतवाणी की मिठास देखकर....** उन वीतराग की वाणी की मिठास देखकर **द्राक्षें शरमाकर वनवास में चली गयी...** (ऐसी) उपमा दी है।

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की ध्वनि–वीतराग की वाणी छूटी और (जिसने) सुनी, वे कहते हैं कि वाणी में इतना अमृत का ज़ोर आया। आहा...हा...हा...! कि द्राक्ष है, वह वनवास में चली गयी। उसकी मिठास के आगे इसकी मिठास चली गयी। आहा...हा...! अभी तो वाणी की बात है, हों! आत्मा की (बात तो) बाद में है।

**अमृतवाणी की मिठास देखकर द्राक्षें शरमाकर वनवास में चली गयी और इक्षु अभिमान छोड़कर कोल्हू में पिल गया।** कोल्हू में पिल गया। (ऐसा कहते हैं)। भगवान की वाणी का अमृत! आहा...हा...! जहाँ भीतर में घूँट... घूँट कर वाणी आवे, उसके कारण तो कहते हैं कि इक्षु भी कोल्हू में पिल गया। (उसको ऐसा लगा कि) हमारा रस इसे नहीं लागू पड़े, ऐसी वीतराग की वाणी का रस है। आहा...हा...!

**ऐसी तो जिनेन्द्रवाणी की महिमा गायी है;...** यह तो वाणी की महिमा गायी, आहा...हा...! ऐसी तो जिनेन्द्रवाणी की महिमा गायी। **फिर जिनेन्द्रदेव के चैतन्य की महिमा का तो क्या कहना।** आहा...हा...! वाणी से पार, विकल्प से पार, अन्दर चीज़ (पड़ी है)। पाताल में अनन्त (ज्ञान का) सागर और अनन्त आनन्द का समुद्र भरा है। उस चैतन्य की तो क्या बात करना! जब तीर्थंकर की वाणी को भी इतनी उपमा दी जाती है तो उनके चैतन्य के स्वभाव का तो क्या कहना! (ऐसा) कहते हैं। वहाँ तो अन्दर में अमृत का सागर भरा है।

आहा...हा...! भाषा सादी है परन्तु तत्त्व बहुत ऊँचा है! वीतराग की वाणी जब ऐसी हो तो **फिर जिनेन्द्रदेव के चैतन्य की महिमा की तो क्या बात करना!** जिनकी वाणी ऐसी तो उनका आत्मा कैसा होगा अन्दर में?! सर्वज्ञस्वभावी यों प्रगट हो गया! चैतन्य ज्योति... झलहल ज्योति... झलहल ज्योति... सर्वज्ञ (प्रभु) उनके आत्मा की तो क्या बात करना! भाषा तो सादी है परन्तु भाव थोड़े गहरे हैं। आहा...हा...!

**ज्ञान–वैराग्यरूपी पानी अन्तर में सींचने से अमृत मिलेगा, तेरे सुख का फव्वारा छूटेगा; राग सींचने से दुःख मिलेगा। इसलिए ज्ञान–वैराग्यरूपी जल का सिंचन करके मुक्तिसुखरूपी अमृत प्राप्त कर॥16॥**

(अब) सोलहवाँ (बोल)। **ज्ञान–वैराग्यरूपी पानी अन्तर में सींचने से अमृत**

**मिलेगा,...** भगवान आत्मा का ज्ञान और पुण्य–पापभाव से वैराग्य। क्या कहा यह? कि शुभ–अशुभभाव में रक्त है, इससे विरक्त (होना), वह वैराग्य (है।) वैराग्य अर्थात् स्त्री–बच्चों को छोड़कर, दुकान छोड़कर बैठा, इसलिए वैराग्य है, ऐसा वैराग्य नहीं। अन्दर शुभ और अशुभभाव हुए, उसमें जो रक्त है, उससे विरक्त होना, उसका नाम वैराग्य (है।) और अन्तर में आत्मा के सन्मुख जाना, उसका (नाम) ज्ञान। ज्ञान और वैराग्य–उसका पानी अन्तर में सींचने से... आहा...हा...! सम्यग्ज्ञान और वैराग्य को अन्दर सींचने से अमृत मिलेगा। भगवान अमृत का सागर है। आहा...हा...!

'श्रीमद्' एक बार लिखते हैं (कि) दुनिया ने बाहर में नारियली देखकर प्रशंसा की परन्तु यहाँ तो अन्दर में पूरी अमृत की नारियली है। आहा...हा...! अन्दर अमृत का सागर भगवान डोलता है। उसकी ओर तो नज़र भी नहीं की, उसकी ओर तो देखा तक नहीं। इसकी बात को सुनते हुए रस और प्रेम अन्तर से उगा हुआ नहीं। आ...हा...हा...! (जिसको) उगे, (उसको) अमृत आता है, उसे अमृत मिलता है। आहा...हा...!

ज्ञान और वैराग्यरूपी पानी का अन्दर में सिंचन (अर्थात्) स्वरूप का ज्ञान और पुण्य–पाप का वैराग्य अर्थात् पुण्य–पाप के भाव से विरक्त (पना)। ये दोनों का यदि अन्दर में सींचन किया जाए तो अमृतस्वरूप भगवान के आनन्द का अनुभव आये बिना रहे नहीं। आहा...हा...! शब्द तो सरल हैं।

अमृत मिलेगा अमृत! (ऐसा कहा) अमृत अर्थात्? वह अमृत कभी मरे नहीं, अमृत किसी को मारे नहीं, अमृत किसी से मरे नहीं। क्या कहा यह? अ...मृत है न? अन्दर अमृतस्वरूप भगवान (है), उसमें सच्चे ज्ञान और वैराग्य का यदि सिंचन करे तो वह चीज़, (वह) अमृत ऐसा है कि (वह) किसी भी चीज़ से मरे नहीं, उसका अस्तित्व मिटे नहीं; उसका अस्तित्व किसी को मारे नहीं। आहा...हा...! और उसके अस्तित्व को दूसरा कोई मार सके नहीं और उसका अस्तित्व किसी को मार सके नहीं। दूसरे का अस्तित्व उसको मार सके नहीं और अमृत का अस्तित्व दूसरे को मार सके नहीं। आ...हा...हा...! इसलिए उसे अ...मृत कहते हैं, आहा...हा...! इतनी शीतल वाणी है। शीतल (शीतल करे वैसी) वाणी!

**ज्ञान–वैराग्यरूपी पानी अन्तर में सींचने से अमृत मिलेगा, तेरे सुख का फव्वारा छूटेगा;...** आहा...हा...! फव्वारा जैसे छूटता है; वैसे यदि अन्दर आनन्दसागर में जाये (अर्थात् कि) लक्ष्य करे और ज्ञान और वैराग्य का सिंचन करे तो आनन्द का फव्वारा छूटे। अतीन्द्रिय आनन्द का फव्वारा पर्याय में छूटे–फूटे, (अर्थात् कि) पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आ जाये। उस ध्रुव में अमृत पड़ा है। जिस ध्रुव में अमृत पड़ा है, उसमें यदि ज्ञान–वैराग्य का सिंचन किया जाये तो उसकी पर्याय में अमृतपना आये। अमृत का स्वाद आने से कभी मरे नहीं और कभी (किसी को) मारे नहीं, ऐसी उसकी दशा प्रगट हो जाती है। आहा...हा...! भाषा तो बहुत संक्षेप में है परन्तु (भाव बहुत सूक्ष्म है)। तुम्हारी माँग है न यह? झवेरचन्दभाई!

सुख का फव्वारा फूटेगा। आहा...हा...हा...! अन्दर में आनन्द का सागर है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अन्तर से जिसके तल हाथ लगे, उसकी पर्याय में सुख का फव्वारा छूटता है और अन्तर में आनन्द आता है, तब जानना चाहिए कि उसने आत्मा को जाना, तब जाना कि इसने आत्मा का अनुभव किया। इस अनुभव में आत्मा जब आनन्दमय ज्ञात हो, तब तो आत्मा को जाना–ऐसा कहलाये। आहा...हा...! है?

**राग सींचने से दुःख मिलेगा।** राग में चाहे जैसा शुभराग हो या अशुभराग हो, भगवान के प्रति राग (होगा तो) भी दुःख मिलेगा। आहा...हा...हा...! 'मोक्षपाहुड़' की १६ वीं गाथा में कहा है **'परदव्वाओ दुग्गई।'** तेरा लक्ष्य स्वद्रव्य को छोड़कर यदि परद्रव्य पर जाएगा, भगवान तो ऐसा कहते हैं कि यदि हमारे प्रति भी तुम्हारा लक्ष्य जाएगा तो चैतन्य की गति न होकर राग की दुर्गति होगी। आ...हा...हा...!

क्या कहा उसमें? **'परदव्वाओ दुग्गई'**–ऐसा पाठ है। **'सदव्वाओ सुग्गई।'** परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव ऐसा फरमाते (हैं) कि, हम तेरे से परद्रव्य हैं। हमारे पर तेरा लक्ष्य यदि गया तो तुझे राग होगा और राग होगा तो वह चैतन्य की गति नहीं, परन्तु चैतन्य की दुर्गति है। भगवानजीभाई! आहा...हा...! ऐसी बात है! **'परदव्वाओ दुग्गई'**–तेरे से हम परद्रव्य हैं। तेरे द्रव्य में (रहेगा तो) **'सदव्वाओ सुग्गई'** अन्दर में स्वद्रव्य में एकाग्रता का सिंचन कर तो तुझे आनन्द की सुगति प्रगट होगी, वह सुगति (है)। देव(गति) है, वह

सुगति नहीं। सेठाई या अरबोंपति मनुष्य हो या राजा (हो या) बड़ा देव हो–वह सुगति नहीं, वह तो दुर्गति है। वह दुर्गति है! आहा...हा...!

सुगति तो आत्मा के आनन्द में रागरहित होकर चैतन्य की परिणति प्रगट हो, उसे यहाँ सुगति कहा जाता है, और परद्रव्य पर लक्ष्य जाये, राग हो, उसे दुर्गति कहते हैं। आहा...हा...! ऐसी बात है। **'सदव्वाओ सुग्गई'** अमृत का सागर भगवान (आत्मा), उसकी दृष्टि , एकाग्रता और ज्ञान करे तो तेरी सुगति–चैतन्यपरिणति प्रगट हो। परन्तु तेरे चेतन को भूलकर, परद्रव्य का लक्ष्य करेगा तो राग होगा। वह चैतन्य की गति से विपरीत गति है। उसकी (आत्मा की) दुर्गति है। आहा...हा...हा...! अरे...! भगवान के प्रति भक्ति का राग भी वास्तव में दुर्गति है। (राग) आता है। जब तक (पूर्ण) वीतराग नहीं हुए, तब तक सम्यग्दृष्टि को भी वीतराग की भक्ति का भाव, स्मरण (और) पूजा का भाव आता है, परन्तु वह राग है, वह चैतन्य की गति नहीं, चैतन्य की जाति नहीं। आहा...हा...! अमृत के नाथ से उसकी जाति भिन्न है। (इसलिए यहाँ कहते हैं) **राग सींचने से दुःख मिलेगा।** वैराग्य और ज्ञान सींचने से अमृत मिलेगा; और राग करने से–चाहे तो शुभराग हो (तो भी) राग करने से दु.ख मिलेगा और दुःख की इसे खबर नहीं है कि हम दुःखी है या नहीं? वह राग को वेदता है। जो राग को वेदता है, वह दुःख को वेदता है। ये पैसेवाले या राजा या सेठिया या देव, ये सब दुःखी हैं। राग के वेदन में पड़े हैं, (वे सब दुःखी हैं)। 'यह मेरा' और 'मैं उसका' इसकी मज़ा का जो राग, इसे आता है, वह राग केवल दुःख है; आत्मा की शान्ति का वैरी है! आ...हा...हा...! ऐसी बात जँचना, सुनना कठिन पड़ता है।

**इसलिए ज्ञान–वैराग्यरूपी जल का सिंचन करके...** आत्मा ज्ञानानन्द सत् चिदानन्द प्रभु का ज्ञान (करके) और राग से विरक्त होकर; उसके ज्ञान और वैराग्य के जल का सिंचन करके **मुक्तिसुखरूपी अमृत प्राप्त कर।** आ...हा...हा...! यह अमृत की व्याख्या की! अमृत क्या (है)? (तो कहते हैं) **मुक्तिसुखरूपी अमृत...** मोक्षरूपी–सुखरूपी अमृत को प्राप्त करे। वैराग्य से और ज्ञान से मुक्तिरूपी सुख के अमृत को प्राप्त करे। राग और द्वेष से दुर्गति के दुःख मिलेंगे, आहा...हा...! यह 16 वाँ (पूरा) हुआ।

**जैसे वृक्ष का मूल पकड़ने से सब हाथ आता है, वैसे ज्ञायकभाव पकड़ने से सब हाथ आयेगा। शुभपरिणाम करने से कुछ हाथ नहीं आयेगा। यदि मूल स्वभाव को पकड़ा होगा तो चाहे जो प्रसंग आयें, उस समय शान्ति-समाधान रहेगा, ज्ञाता-दृष्टारूप से रहा जा सकेगा॥17॥**

17 वाँ (बोल) **जैसे वृक्ष का मूल पकड़ने से सब हाथ आता है,....** वृक्ष का मूल पकड़ने से सब हाथ आता है। **वैसे ज्ञायकभाव पकड़ने से सब हाथ आयेगा।** आहा...हा...! वृक्ष का मूल पकड़ने से इसके सब पत्ते, फल-फूल उसके हाथ लगते हैं। वैसे इस आत्मा का ज्ञायकपना पकड़ने से... आहा...हा...! सब हाथ आयेगा। अमृत का सागर और अनन्त गुण से भरा समुद्र, उस ज्ञायक की दृष्टि करने से अनन्त गुण, पर्याय में प्रगट होंगे और उस पर्याय में अनन्त आनन्द भी साथ में आयेगा और प्रत्येक आनन्द में प्रभुता भी भरी (होगी)। प्रत्येक गुण की पर्याय प्रगट होने पर, उसमें साथ-साथ प्रभुता भी प्रगट होगी। आहा...हा...! राग करने से रांकाई (दीनता) प्रगट होगी। इतने छोटे सूत्र...! आहा...! बात तो कठिन है बापू! अन्तर मार्ग कोई ऐसा अलौकिक है कि अभी तो सुनने मिलना भी मुश्किल हो गया है। (ऐसा) सुने तब लगे कि ये क्या कैसी बातें है? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि वृक्ष का मूल पकड़ा, उसको सब हाथ आयेगा। **(वैसे) ज्ञायकभाव पकड़ने से सब हाथ आयेगा।** पर को नहीं, राग को नहीं, पर्याय को नहीं; ज्ञायकभाव त्रिकाली द्रव्य! त्रिकाली द्रव्य को पकड़ने से सब हाथ आयेगा। उसमें सब भरा है। आहा...हा...! भाषा तो बहुत संक्षेप में है परन्तु अन्दर में भाव गहरे भरे हैं।

अनुभवसहित वाणी आयी है। आनन्द के वेदन में से यह वाणी आयी है। बहिन अनुभवी हैं (और) यह अनुभव की वाणी है। यह धारणायुक्त और सुनी हुई वाणी नहीं है। आहा...हा...! ऐसी वाणी को समझना, सुनना यह महाभाग्य (हो) तो मिले ऐसा है। साक्षात् त्रिलोकीनाथ के पास थे। भूल होकर वहाँ से यहाँ आ गये। परन्तु वह भूल बाद में निकल गयी। बाद में यह अमृत भीतर में से हाथ लगा, तब यह वाणी निकल गयी।

(यहाँ कहते हैं कि) **शुभपरिणाम करने से कुछ हाथ नहीं आयेगा।** लो! बहुत-

से तो ऐसा कहते हैं कि हम पाप में पड़े हैं, उसकी अपेक्षा पुण्य में तो लाओ! परन्तु पुण्य भी अनन्त बार किया और पाप भी अनन्त बार किया है (परन्तु) भवभ्रमण का नाश कहाँ है इसमें? जिसमें भवभ्रमण का नाश नहीं, तो नरक और निगोद होंगे। कदाचित् दो–चार घण्टे कुछ शुभभाव किये होंगे और कोई पुण्य हुआ होगा तो स्वर्गादि में जायेगा, वहाँ से पुनः तिर्यंच में–पशु में जायेगा और वहाँ से मरकर नरक में जायेगा और चारगति (में) भटकेगा। जिसने भव का नाश किया नहीं, उसके भव–परिभ्रमण का अन्त–कहीं भी अन्त नहीं आयेगा। आहा...हा...!

यहाँ तो (कहते हैं) ज्ञायकभाव को पकड़ने से सब हाथ आयेगा। **शुभपरिणाम करने से कुछ हाथ नहीं आयेगा।** णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, ऐसे पंच नमस्कार का स्मरण करने से या प्रतिमा आदि की पूजा करने से, भगवान के दर्शन करने से जो शुभभाव होते हैं, ऐसे **शुभपरिणाम करने से कुछ हाथ नहीं आयेगा।**

**मुमुक्षु**–यह करते–करते आयेगा?

**पूज्य गुरुदेवश्री**–राग–ज़हर करते–करते, लहसुन खाते–खाते कस्तूरी की डकार आयेगी! ऐसा है? लहसुन खाते–खाते कस्तूरी की डकार आयेगी? वैसे शुभपरिणाम करते–करते आत्मा में शुद्ध का परिणाम आयेगा? वह तीन काल में नहीं आयेगा। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है भाई!

शुभपरिणाम करने से कुछ हाथ नहीं आयेगा। **यदि मूल स्वभाव को पकड़ा होगा...** आहा...हा...! चैतन्यस्वभाव, ज्ञायकभाव, नित्य अनुभव भाव, अनुभव के योग्य ऐसा जो त्रिकाली भाव, इसको यदि पकड़ा होगा **तो चाहे जो प्रसंग आयें...** (अर्थात्) चाहे कैसे भी प्रसंग आयें–शरीर में रोग आये, प्रतिकूल अपमान हो, दुनिया अनादर करे, फिर भी यदि आत्मा को पकड़ा होगा... **तो चाहे जो प्रसंग आयें, उस समय शान्ति–समाधान रहेगा,...** आहा...हा...! प्रतिकूल संयोग तो एक ज्ञेय है, वह भी व्यवहार से ज्ञेय है। निश्चय से ज्ञेय तो उसका (जो) ज्ञान स्वयं को होता है, वह ज्ञान उसका ज्ञेय है।

आत्मा का ज्ञान, पर को जानने का हुआ, वह ज्ञान अपना ज्ञेय है। उस ज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान, ज्ञान है। आहा...! क्या (कहते) हैं? **मूल स्वभाव को पकड़ा होगा**

**तो चाहे जो प्रसंग आयें, उस समय शान्ति–समाधान रहेगा। ज्ञाता–दृष्टारूप से रहा जा सकेगा।** आहा...हा...हा...! अन्त में करना तो यही है। चाहे कैसे भी प्रसंग में जाननेवाला–ज्ञाता-दृष्टा रहे, वह इसे करना है। उसमें से धर्म का मूल विकसित होकर केवलज्ञान होनेवाला है। बाकी सब बातें हैं। शुभपरिणाम चाहे कितने भी करे, इसके फल में कदाचित् स्वर्ग या ये पैसे–धूल (आदि) मिल जाये परन्तु वे सब वहाँ से मरकर पुनः नरक और निगोद में जानेवाले हैं। आहा...हा...!

भव के मूल का जिसने छेद किया नहीं, पत्ते तोड़े किन्तु मूल नहीं काटा, पत्ते तोड़े किन्तु मूल नहीं तोड़ा तो पत्ते पन्द्रह दिन होंगे कि पुनः पनपने लगेंगे। पन्द्रह दिन में फिर से आयेंगे। वैसे जिसने ऊपर के–शुभभाव के पत्ते तोड़े हैं किन्तु शुद्धभाव का मूल नहीं पकड़ा.... आ...हा...हा...! उसको चारगति फलेगी। शुभभाव में तो गति–चारगति फलेगी। भले कोई अशुभ(भाव) हो तो नरक और निगोद मिले, शुभ हो तो यह मनुष्य और स्वर्ग मिले परन्तु गति–चारगति (उसको मिलेगी)। भव भय से डर चाहिए–ऐसा कहा है। इसे चारगति के भव का डर चाहिए। उसका इस निर्भय आत्मा के प्रति लक्ष्य जाता है। आहा...हा...!

उसे तो किसी भी भव का डर लगता है। अरेरे...! देह छूटकर कहाँ जाऊँगा? आत्मा तो अनादि–अनन्त है। वह कोई नष्ट हो जाये, ऐसा नहीं है। तो यहाँ से छूटकर कहाँ जायेगा? ऐसा भव का भय लगे तो उसकी दृष्टि आत्मा पर गये बिना रहे नहीं। आहा...हा...! परन्तु जिसको भव का डर और भय नहीं, उसको आत्मा क्या है? उसकी ओर जाने का झुकाव उसका है नहीं, आहा...हा...! **ज्ञाता–दृष्टारूप से रहा जा सकेगा।** लो! (ये 17 वाँ पूरा हुआ।)

**दृष्टि द्रव्य पर रखना है। विकल्प आयें परन्तु दृष्टि एक द्रव्य पर है। जिस प्रकार पतंग आकाश में उड़ती है परन्तु डोर हाथ में होती है, उसी प्रकार 'चैतन्य हूँ' यह डोर हाथ में रखना। विकल्प आयें, परन्तु चैतन्यतत्त्व, सो मैं हूँ–ऐसा बारम्बार अभ्यास करने से दृढ़ता होती है॥18॥**

18 (वाँ बोल)। **दृष्टि द्रव्य पर रखना है।** अकेला माल है! दृष्टि द्रव्य अर्थात्

त्रिकाल वस्तु जो है, त्रिकाली ज्ञायक द्रव्य वस्तु है, वह पर्याय से भी भिन्न है। उस पर दृष्टि (रखनी है) अर्थात् कि पर्याय (की) दृष्टि उस पर रखनी है। जिसमें पर्याय नहीं है, उसमें पर्याय और दृष्टि रखनी है। उसमें राग तो नहीं (अर्थात्) ज्ञायकभाव में राग तो नहीं है परन्तु वर्तमान पर्याय है, वह (भी) उसमें नहीं। उस पर्याय को उसमें जोड़ना–उस तरफ मोड़ना, फिर भी पर्याय में द्रव्य नहीं आता, तथापि पर्याय में द्रव्य का सामर्थ्य है, उसका ज्ञान और अनुभव आता (है); इसलिए ऐसा कहते हैं कि दृष्टि द्रव्य पर रखनी है।

**विकल्प आयें परन्तु दृष्टि एक द्रव्य पर है।** विकल्प तो होंगे–शुभ आवें, अशुभ आवें, पुण्य–पाप के परिणाम भी आवें, परन्तु दृष्टि तो अन्दर द्रव्य पर पड़ी है। ध्रुव के ध्येय पर से दृष्टि हटे नहीं। समुद्र में जहाज चलते हैं, वह ध्रुव तारे अनुसार चलते हैं। ध्रुव तारा एक ही सरीखा रहता है, उस पर से जहाज है। वैसे यह ध्रुव चैतन्य भगवान–इसकी दृष्टि रखकर, चाहे जैसे परिणाम आवे परन्तु दृष्टि ध्रुव पर रहे, तब तो उसका जहाज चलता है, वरना उसका जहाज चलता नहीं। मोक्ष का मार्ग तो चलेगा; नहीं तो नहीं चलेगा, ऐसा कहते हैं।

आहा...हा...! दृष्टि द्रव्य पर रखना। द्रव्य अर्थात् ये पैसा नहीं, हों! द्रव्य अर्थात् वस्तु। जिसमें शरीर तो नहीं, वाणी तो नहीं, राग तो नहीं, मैं पर्याय भी नहीं–ऐसा जो त्रिकाली द्रव्य, उस पर पर्याय की दृष्टि रखना। दृष्टि है, वह पर्याय है, परन्तु उसका विषय है, वह द्रव्य है। आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म पड़ता है।

**दृष्टि द्रव्य पर रखना है। विकल्प आयें परन्तु दृष्टि एक द्रव्य पर है। जिस प्रकार पतंग आकाश में उड़ती है...** दृष्टान्त देते हैं। पतंग है, वह आकाश में उड़ती है तो भी.... **परन्तु डोर हाथ में होती है,...** डोर हाथ में होती है। पतंग भले उड़े, दूर जाये परन्तु डोर हाथ में होती है। आहा...हा...! **उसी प्रकार 'चैतन्य हूँ' यह डोर हाथ में रखना।** आहा...हा...! मैं तो एक जाननेवाला, देखनेवाला, ज्ञाता–दृष्टा चैतन्यरस के रस से भरा भगवान, वह मैं हूँ–ऐसी दृष्टि रखे, फिर विकल्प भले हो! पतंग भले ही उड़े परन्तु डोर हाथ में है। वैसे दृष्टि द्रव्य पर रखे, फिर विकल्प भले ही हो; उसे जाने परन्तु उसे अपना माने नहीं। आ...हा...हा...!

**जिस प्रकार पतंग आकाश में उड़ती है परन्तु डोर हाथ में होती है, उसकी**

**प्रकार 'चैतन्य हूँ' यह डोर हाथ में रखना।** ये तो रात्रि में बोले थे, जो थोड़ा-थोड़ा लिख लिया गया। अकेला माल भरा है। आहा...हा...! गुजराती भाषा (है) परन्तु सरल (है इसलिए) हिन्दी में समझ सके ऐसा है। हिन्दी में समझ में न आये, ऐसा नहीं है।

**मुमुक्षु**—आप हिन्दी में बोलिये तो गुजरातीवाले समझ सकते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री**—हिन्दीवालों को समझ में आये, गुजरातीवाले ठीक तरह नहीं समझ सकेंगे।

**जिस प्रकार पतंग आकाश में उड़ती है परन्तु डोर हाथ में होती है, उसी प्रकार 'चैतन्य हूँ' यह डोर हाथ में रखना।** विकल्प आयेंगे, परन्तु चैतन्यतत्त्व, वह मैं हूँ—'चैतन्यतत्त्व है, वह मैं हूँ।' जानने-देखनेवाला तत्त्व आत्मा जो है, जिसकी सत्ता की मौजूदगी में (यह सब) जानने में आता है, वह जाननेवाला है, जो कि जानने की (ज्ञात होनेयोग्य) चीज़ से भिन्न है, उस पर दृष्टि रखना। जाननेवाला, जो चीज़ जानने में आयी उससे भिन्न है, उस पर दृष्टि रखना। जो जानने में आता है, उस पर दृष्टि मत रखना। आहा...हा...हा...!

वह बात तो सरल थी—व्रत करो, उपवास करो और पूजा करो, भक्ति करो व दान दो और दया करो, एकदम सरल था, लो! और ये बहुत महँगा निकला! सरल तो कुछ नहीं था, सब भटकने का (कारण) था! वह सब कर-करके चार गति के भव किये हैं। आहा...! अनन्त बार मुनिपना भी धारण किया। आता है न? पूर्व में अनन्त बार मुनिपना धारण किया परन्तु क्रियाकाण्ड पर दृष्टि (थी) जो दया, दान, व्रत, भक्ति व पूजा, उस पर दृष्टि (थी)। (तो) वह तो राग पर दृष्टि है; आत्मा पर दृष्टि नहीं।

'मुनिव्रत धार अनन्त बैर ग्रैवेयक उपजायो' मुनिव्रत धार—मुनिव्रत को धारण करके अनेक बार ग्रैवेयक उपजायो। नौवें ग्रैवेयक में गया। 'पण आत्मज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना, राग से भिन्न हुए बिना, आत्मा का आनन्द नहीं आया। क्योंकि पंच महाव्रत के परिणाम हैं, वे भी दुःखरूप हैं। आहा...हा...! पंच महाव्रत के परिणाम, आस्रव हैं, वह शुभभाव है, वह दुःख है; इसीलिए कहा कि 'मुनिव्रत धार अनन्त बैर ग्रैवेयक उपजायो। पण आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना

जीव को आनन्द के अंश का स्वाद आया नहीं। पंच महाव्रत के परिणाम में आनन्द नहीं, दुःख (है) और राग है। आहा...हा...! इतना कठिन कैसे बैठे? अभी तो बाहर में निवृत्ति का कोई ठिकाना नहीं, उसे (यह कैसे जँचे)? बापू! करना पड़ेगा यह! इसके बिना तुझे सुख (नहीं होगा)।

जो–जो दिन जा रहे हैं, उतना–उतना मृत्यु के समीप जा रहा है। जिस देह की जितनी अवधि लेकर आया है, वह अवधि पकने में एक समय भी इधर–उधर नहीं हो सकता। जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस निमित्त से, जिस संयोग में देह छूटनेवाली है, सो छूटेगी, छूटेगी और छूटेगी ही! लाख इन्द्र आयें तो भी इसमें एक समय की हेरफेर हो सके, ऐसा है नहीं। तो देह की (स्थिति में) जितना समय–जितने दिन गये, उतना मृत्यु के समीप जाता है। वह मृत्यु एक बार आकर खड़ी रहेगी तो यह देह छूट जायेगी... एक ही झटके में...! सब उसका पड़ा रहेगा। रुपये, स्त्री, बच्चे... आहा...हा...!

एक बार गाया नहीं था? एक बार भावनगर (से एक) वैरागी आया था। (वह ऐसा गाता था) 'ऊँचा मन्दिर ने माळीया–सोड़ ताणी ने सूतो, काढो काढो रे अेने सौ कहे, जाणे के जन्म्यो ज नहोतो' 'ऊँचा मन्दिर ने माळीया' 'ऊँचा मन्दिर ने माळीया, सोड ताणी ने सूतो' (अर्थात्) मर गया वह! आहा...हा...! उसको कौन शरण है? फिर कहा कि 'आ रे काया मां हवे कांई नथी' पत्नी देख रही है कि अब इस काया में कुछ नहीं रहा। 'ऐसे टकटकी लगाकर फूट–फूटकर रोये कि हाय... हाय...!' ये ले गया! बापू! देह की तो जो स्थिति होनेवाली है, वही होगी! वही होगी! इसमें फेरफार होगा नहीं। क्रमबद्ध में देह की स्थिति का (छूटने का) जो समय (है), उसे आना ही आना है। उसमें–क्रमबद्ध में कोई फेरफार सम्भव हो, ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! डॉक्टर के इन्जेक्शन काम में नहीं आयेंगे वहाँ!

**मुमुक्षु**–क्रमबद्ध में जीना लिखा हो तो काम आयेगा न!

**पूज्य गुरुदेवश्री**–(तो भी) काम नहीं आते। डॉक्टर स्वयं मर जाते हैं न!

भावनगर का बड़ा डॉक्टर था। सर हेमन्तकुमार! उसमें (कहे कि) बड़ा, पाटनी का रिश्तेदार था। पाटनी है न? नहीं था? पाटनी। वह ऐसे आपरेशन कर रहा था। मुझे कुछ हो रहा है! मुझे कुछ दर्द हो रहा है। ऐसा कहता हुआ ज्यों कुर्सी पर बैठा कि देह छूट गयी।

डॉक्टर पूरी अस्पताल का सर (था) बड़ा! कौन डॉक्टर? दवाई क्या करे? और डॉक्टर भी क्या करे? डॉक्टर की देह छूटेगी, तो उसको भी पता नहीं चलेगा कि कैसे छूट गयी यह? आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि **'चैतन्य हूँ' यह डोर हाथ में रखना। विकल्प आयें, परन्तु चैतन्यतत्त्व, सो मैं हूँ–ऐसा बारम्बार अभ्यास करने से दृढ़ता होती है।** 'मैं तो जानने–देखनेवाला हूँ'; विकल्प आये, वह मेरी चीज़ नहीं। राग आये, पुण्य–पाप का भाव आये, वह मेरी चीज़ नहीं। ऐसा जानने से दृढ़ता होती है। आत्मा में इसकी दृढ़ता होती है। ज्ञायक... ज्ञायक.... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... इसका परिणमन हो जाये। ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... होने पर ज्ञायाक का परिणमन हो जाये। परिणमन (हो जाये) अर्थात् आनन्द की दशा का परिणमन हो जाये। इसका नाम सम्यग्दर्शन (है)। और क्रमबद्ध में अवस्था का फल वह आया। आहा...हा...! इसके क्रम में वह (सम्यग्दर्शन) आया। उस समय वह दृष्टि यदि द्रव्य पर चली जाये तो जीव को आनन्द का अनुभव हो। इसके क्रमबद्ध में वह फल आयेगा। क्योंकि क्रमबद्धवाला दृष्टि द्रव्य पर रखता है। आहा...हा...! क्रम अनुसार जो होनेवाला है, वह ही होगा, इसमें कोई फेरफार होनेवाला नहीं। उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है, (अर्थात्) ज्ञायक–चैतन्य पर जाती है। अतः ज्ञायक को आनन्द में अनुभव करते हुए उसकी देह छूटती है परन्तु जिसे ज्ञायक की खबर नहीं है, वह भगवान... भगवान का स्मरण करते–करते देह छूटे तो भी वह शुभभाव है, वह कोई धर्म नहीं।

वह यहाँ पर कहते हैं। **विकल्प आयें, परन्तु चैतन्यतत्त्व, सो मैं हूँ–ऐसा बारंबार अभ्यास करने से दृढ़ता होती है।** आहा...हा...! अब जरा थोड़ा कठिन आया।

**ज्ञानी के अभिप्राय में राग है, वह ज़हर है, काला साँप है। अभी आसक्ति के कारण ज्ञानी थोड़े बाहर खड़े हैं, राग है, परन्तु अभिप्राय में काला साँप लगता है। ज्ञानी विभाव के बीच खड़े होने पर भी विभाव से पृथक् हैं–न्यारे हैं॥19॥**

(बोल 19 वाँ।) **ज्ञानी के...** (अर्थात्) धर्मी (अर्थात्) जिसको आत्मा का ज्ञान

हुआ है उसको, आत्मा जिसको अनुभव में आया है उसको **अभिप्राय में राग है, वह ज़हर है,...** 'समयसार' 'मोक्ष अधिकार' में कहा है कि शुभराग है, वह विषकुंभ है, ज़हर का घड़ा है। वहाँ 'समयसार' के 'मोक्ष अधिकार' में दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को ज़हर कहा है। उसे विष का घड़ा कहा है। ज़हर का घड़ा...! आहा...हा...! कैसे बैठे? विषकुंभ आता है न? 'समयसार'–'मोक्ष अधिकार'! विषकुंभ है। वह यहाँ कहते हैं।

**मुमुक्षु**–वह तो मुनि को लागू पड़ता है न?

**पूज्य गुरुदेवश्री**–यह तो अज्ञानी को लागू पड़े, ऐसी बात है। अज्ञानी, राग को ज़हर न माने और मिठास माने तो मिथ्यादृष्टि है। **ज्ञानी के अभिप्राय में राग है, वह ज़हर है,...** अज्ञानी के अभिप्राय में राग है, सो अमृत है। राग ही सर्वस्व है। उसने राग के अलावा भीतर में जो चीज़ है, उसे तो देखी नहीं और देखने का प्रयत्न भी किया नहीं। आहा...हा...! यह कहा न पहले? 'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रैवेयक उपजायो, पण आत्मज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' आत्मा के ज्ञान बिना आनन्द का आंशिक स्वाद भी उसे नहीं आया।

वही यहाँ कहते हैं–धर्मी के अभिप्राय में राग है, वह ज़हर है, **काला साँप है।** काला नाग है! आहा...हा...! अब यहाँ तो (अज्ञानी लोग) शुभभाव में धर्म मनाते हैं! शुभभाव आते हैं, अशुभ को टालने–अशुभ से बचने के लिये शुभ(भाव) आते हैं, ज्ञानी को भी आते हैं; भक्ति का, वन्दना का, पूजा का भाव आता है परन्तु है तो वह ज़हर! आत्मा के अमृतस्वरूप से विरुद्ध है; (इसलिए) उसे ज़हर कहा जाता है। ज़हर से विरुद्ध आत्मा का स्वरूप जो (है), उसे अमृत कहा जाता है। आहा...हा...हा...! कठिन लगे जगत को!

**ज्ञानी के अभिप्राय में...** अभिप्राय में अर्थात् क्या? श्रद्धा में–प्रतीति में, राग है वह ज़हर है, काला नाग है। आहा...हा...हा...! **अभी आसक्ति के कारण ज्ञानी थोड़े बाहर खड़े हैं,...** आत्मा का ज्ञान हुआ, समकित हुआ, फिर भी आसक्ति होती है, राग होता है। (पूर्ण) वीतराग न हो, तब तक उन्हें राग आता है परन्तु उस राग के ज़हर–समान जानते हैं। (स्वरूप में से) बाहर थोड़े आते हैं, आत्मा के स्वरूप में से निकलकर धर्मी को भी थोड़ा राग आता तो अवश्य है। जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक राग आता है, परन्तु

वह राग, अभिप्राय में काला साँप लगता है। काला साँप अर्थात् काला नाग जैसे ज़हरीला (होता है वैसा लगता है)। आहा...हा...हा...!

अभी वहाँ सोनगढ़ अस्पताल में (एक प्रसंग बना)। अस्पताल है न? क्षय, क्षय की! वहाँ एक बड़ा डॉक्टर था, लो ठीक! वह डॉक्टर ऐसे बैठा था, वहाँ नीचे से नागिन निकली होगी (तो)। बैठते हुए नागिन पर पैर आ गया। नागिन निकली और पैर आया (इसलिए नागिन ने) दंश मारा। वहीं का वहीं मर गया! अभी–अभी सोनगढ़ में बना है। डॉक्टर को साँप–नागिन ने काटा! तुरन्त मर गया, नागिन जीवित रही! आसपास के लोग इकट्ठे हो गये! पैर तले दब गयी थी, इसलिए थोड़ा उपचार करके छोड़ दिया (अर्थात्) मरी नहीं, और वह डॉक्टर मर गया! काटते ही! नागिन ने ऐसे पैर काटा कि देह छूट गयी। अभी सोनगढ़ में ऐसा बना है।

वह (जैसे) ज़हर है, वैसे राग भी ज़हर है। उस ज़हर को (राग को) यदि अपना माना तो दंश (मारे वैसे) मर गया। उसके आत्मा के स्वरूप की शान्ति मर जाती है। उसका ज्ञायकभाव सत्ता में मर जाता है (अर्थात्) उसकी श्रद्धा उसे नहीं रहती। आहा...हा...! राग को यदि कुछ अंश में भी ठीक माना तो रागरहित चीज़ को उसने अठीक माना है! (उसका) अनादर किया है। आहा...हा...! **'द्वेष अरोचक भाव'** आत्मा के प्रति जिसको राग नहीं–प्रेम नहीं और राग के प्रति जिसको प्रेम है, उसको आत्मा के प्रति द्वेष है। समझ में आया? जिसको राग के प्रति प्रेम है, उसको आत्मा के प्रति द्वेष है, आत्मा के प्रति उसको अरुचि है। राग के प्रति जिसकी रुचि है–जिसको राग की रुचि है, उसको आत्मा के प्रति अरुचि है। अरुचि है, वह द्वेष है। आहा...हा...! श्वेताम्बर में एक 'आनन्दघनजी' हो गये हैं, उन्होंने ऐसे शब्द लिये हैं कि **'द्वेष अरोचक भाव'** (यदि) तुझे ज्ञायकस्वरूप नहीं रुचे और यदि राग रुचे तो तुझे आत्मा पर द्वेष है। आहा...हा...! **'द्वेष अरोचक भाव'** आत्मा सुख (स्वभावी) आनन्दकन्द है, वह रुचे नहीं–वही द्वेष है। वह अरोचक (भाव) है, वही द्वेष है और द्वेष है, वह ज़हर है। आहा...हा...! कठिन बात है, भाई! लोग तो शुभभावों में धर्म मनाते हैं। (कहते हैं) शुभभाव करो–करते-करते (धर्म) होगा! लहसुन खाते–खाते कस्तूरी की डकार आयेगी!! ऐसा है।

(यहाँ कहते हैं) **अभी आसक्ति के कारण ज्ञानी थोड़े बाहर खड़े हैं, राग है, परन्तु अभिप्राय में काला साँप लगता है।** आहा...हा...! धर्मी जीव को अभिप्राय में राग, नाग जैसा–काले नाग जैसा दिखता है। आहा...हा...! अज्ञानी को राग से प्रेम (है), (उसके) प्रेमवाला है, उसको राग का ही प्रेम है। आत्मा के प्रति उसको द्वेष है। आहा...हा...! ऐसा सुनना भी कठिन लगे अन्दर में! यहाँ तो शुभभाव को ज़हर कहा है। अभिप्राय में काला साँप (लगता है)।

**ज्ञानी, विभाव के बीच खड़े होने पर भी...** धर्मी जीव को, आत्मा का ज्ञानस्वरूप राग से भिन्न है–ऐसा अनुभव हुआ (होने) पर भी राग के संयोग में खड़े (दिखते) हो तो भी **विभाव से पृथक् हैं,...** आहा...हा...! विभाव के परिणाम में खड़े होते हुए भी, उससे भिन्न है। वह विभाव मेरा नहीं। विभावस्वभाव, विकार और ज़हर है! मेरा अमृतस्वरूप उस विभाव से भिन्न है। ऐसा धर्मी को–समकिती को अनुभव में आये बिना रहता नहीं। ऐसा अनुभव में नहीं आये और राग का प्रेम रहे, उसको आत्मा के प्रति द्वेष है और (वह) मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! फिर भले ही जैन सम्प्रदाय में जन्मा हो परन्तु यदि राग से प्रेम है और स्वभाव के प्रति द्वेष है, उसे मिथ्या है (तो वह मिथ्यादृष्टि है)। आहा...हा...! **विभाव के बीच खड़े होने पर भी, विभाव से पृथक् हैं...** न्यारे हैं। आहा...हा...! (19 वाँ बोल पूर्ण हुआ।)

**मुझे तो कुछ नहीं चाहिए, किसी परपदार्थ की लालसा नहीं; आत्मा ही चाहिए–ऐसी जिसे तीक्ष्ण तमन्ना लगे, उसे मार्ग मिलता ही है। अन्दर में चैतन्य ऋद्धि है, उस चैतन्य ऋद्धि सम्बन्धी विकल्प में भी वह रुकता नहीं – ऐसा निस्पृह हो जाता है कि मुझे मेरा अस्तित्व ही चाहिए – ऐसी अन्दर जाने की तीक्ष्ण तमन्ना लगे तो आत्मा प्रगट हो और प्राप्त हो॥20॥**

20 वाँ (बोल) **मुझे तो कुछ नहीं चाहिए, किसी परपदार्थ की लालसा नहीं; आत्मा ही चाहिए–ऐसी जिसे तीक्ष्ण तमन्ना लगे....** आहा...हा...! मेरा आत्मा ज्ञान

और आनन्दस्वरूप है—इसके अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिए। शुभराग आवे, वह भी ज़हर है, ऐसे यदि आत्मा में तन्मयता लगे। आहा...हा...! **उसे मार्ग मिलता ही है...** उसे आत्मा प्राप्त हुए बिना रहता नहीं। आहा...हा...! जिसने आत्मा की पकड़ की है और राग की पकड़ छूट गयी है, उसे आत्मा की प्राप्ति हुए बिना रहती नहीं। **अन्दर में चैतन्य ऋद्धि है, उस चैतन्य ऋद्धि सम्बन्धी विकल्प में भी वह रुकता नहीं...** आहा...हा...! क्या कहते हैं? चैतन्य में तो अनन्त ऋद्धि भरी है; अनन्त सम्पदा-अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त कर्ता-कर्म-करण सम्प्रदान की शक्तियों का अनन्त का सागर है; परन्तु ऐसे गुण के प्रति... आत्मा ही चाहिए—ऐसी जिसे तीक्ष्ण तमन्ना लगे, वह परपदार्थ (नहीं), आत्मा ही चाहिए ऐसी जिसे तीक्ष्ण (तमन्ना) लगे, उसे मार्ग मिलता ही है। अन्दर में चैतन्य सम्बन्ध ऋद्धि के विकल्प में भी वह रुकता नहीं है। ओहो...हो...! मैं ऐसा! मैं आनन्दस्वरूप! मैं ज्ञानस्वरूप! ऐसा जो विकल्प आवे, उसमें भी ज्ञानी रुकता नहीं। आहा...हा...! जानने-देखनेवाला रहता है। ऐसी बात है प्रभु! मार्ग तो ऐसा है! है?

उस **ऋद्धि सम्बन्धी विकल्प में भी वह रुकता नहीं – ऐसा निस्पृह हो जाता है कि मुझे मेरा अस्तित्व ही चाहिए....** आहा...हा...! धर्मी जीव को—समकिती को तो ऐसा लगता है (कि) मेरे तो मेरा अस्तित्व जो कि त्रिकाल शुद्ध है, वही चाहिए; इसके अतिरिक्त कोई चीज़ मुझे नहीं चाहिए। आहा...हा...! (मुझे) **मेरा अस्तित्व ही चाहिए...** अस्तित्व 'ही'! दूसरे का अस्तित्व जरा भी नहीं; मेरा अस्तित्व ही मुझे चाहिए। मेरा ज्ञायक अस्तित्व जो चिदानन्द है, वही मुझे चाहिए। **ऐसी अन्दर जाने की तीक्ष्ण तमन्ना लगे** ऐसी अन्दर जाने की अर्थात् आत्मा में जाने की **तीक्ष्ण तमन्ना लगे तो आत्मा प्रगट हो और प्राप्त हो।**

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**चैतन्य को चैतन्य में से परिणमित भावना अर्थात् राग–द्वेष में से नहीं उदित हुई भावना–ऐसी यथार्थ भावना हो तो वह भावना फलती ही है। यदि नहीं फले तो जगत को–चौदह ब्रह्माण्ड को शून्य होना पड़े अथवा तो इस द्रव्य का नाश हो जाय। परन्तु ऐसा होता ही नहीं। चैतन्य के परिणाम के साथ कुदरत बँधी हुई है–ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। यह अनन्त तीर्थंकरों की कही हुई बात है॥21॥**

## प्रवचन–2 वचनामृत–21 से 25

यह वचनामृत, 21 वाँ बोल है, 20 (बोल) तो चले। विचार करने में थोड़ा अवकाश हो, उसको समझने के लिये यह बात है, बापू! आहा...! अभी तो जिसे लौकिक नीति का ठिकाना न हो, उसे तो यह बात सुनने भी मिले नहीं। सुनने मिले तो उसे रुचे भी नहीं। लौकिक नीति (अर्थात्) जिसे दारू, माँस और परस्त्री का त्याग, इस अनैतिक का त्याग तो पहले होता है। दारू–शराब, माँस, परस्त्री–इसका त्याग तो (यदि) पहले से न हो तो वह नरकगामी जीव है। उसके लिये यह बात नहीं। आहा...हा...!

जिसे **चैतन्य को चैतन्य में से परिणमित भावना...** है शब्द? क्या कहते हैं? यह चैतन्य आनन्दस्वरूप भगवान, (ऐसे) चेतन को चैतन्य में से परिणमित (अर्थात्) अन्तर में से हुई दशा। जिसको संसार के पाप के परिणाम तो मानो न हो, परन्तु पुण्य के परिणाम (की) भी जिसको अन्दर में रुचि न हो। जिसके पाप के परिणाम तीव्र हैं, उसको यह सुनना भी अन्तर (में) रुचेगा नहीं। ऐसी चीज़ है भगवान!

**मुमुक्षु**—हमें छूटने के लिये कोई रास्ता तो चाहिए न?

**पूज्य गुरुदेवश्री**—यह रास्ता छूटने का (है)। वही कहते हैं न भगवान! **चैतन्य को चैतन्य में से परिणमित भावना...** यह छूटने का रास्ता। पहले शब्द में बहिन की वाणी। अनुभव की वाणी है।

असंख्य अरब वर्षों का जातिस्मरणज्ञान है। जातिस्मरण अर्थात् यह जाति पहला भव... पहला भव... पहला भव... पहला भव... ऐसे नौ भव, उनका बहिन को प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसके असंख्य अरब वर्ष होते हैं। क्योंकि सुधर्म स्वर्ग में गये थे। उसमें उन्हें जैसे कल की बात याद आयें, वैसे असंख्य अरब (वर्षों) की बातें याद आयी हैं। उन बातों के आने से पहले अन्दर से उन्हें ऐसा उगा कि लौकिक नीति का जिसका ठिकाना नहीं हो, उसको तो चैतन्य की बात किसी भी तरह बैठेगी नहीं। समझ में आया?

जिसको दारू, माँस, मछली, और परस्त्री का त्याग नहीं है, उसके तो नैतिक जीवन का भी ठिकाना नहीं है। आहा...हा...! यहाँ तो लोकोत्तर नीति की बात चलती है। वह लौकिक नीति है, ऐसा तो साधारण सज्जन जीव की भी ऐसी स्थिति नहीं होती। दारू, माँस, मछली, परस्त्री—ये सब तो साधारण लौकिक नैतिक जीवन में भी ऐसी बात नहीं हो सकती। आहा...! यहाँ तो तदुपरान्त जिसको आत्मकल्याण करना हो (इसकी बात है)। उसमें तो (अनैतिकता में तो) नरक और निगोद में भव हैं।

जिसको **चैतन्य को चैतन्य में से परिणमित...** यह क्या कहा? चैतन्यस्वरूप जो पुण्य और पाप के विकल्प से रहित है, ऐसे चैतन्य को चैतन्य में से परिणमित (अर्थात्) उसमें से प्रगट हुई दशा। आहा...हा...! थोड़ी सूक्ष्म बात है प्रभु! (परन्तु) बात तो ऐसी है। यह कोई नयी नहीं है। अनादि से यह बात... जैन परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ कर रहे हैं। यह बात कोई नयी है नहीं। इसे समझने में नयी लगे परन्तु परमात्मा की वाणी—जिनेश्वर त्रिलोकनाथ—इनकी दिव्यध्वनि महाविदेह में तो अनादि से चलती है। यहाँ तीर्थंकर का विरह पड़ता है (भरतक्षेत्र और यूरोप में), महाविदेह में कभी भी तीर्थंकर का विरह नहीं होता। आहा...हा...! वहाँ भी अनन्त बार जन्म लिया और समवसरण में भी गया, परन्तु अन्तर में, अन्दर आत्मा में चोट नहीं लगी। आहा...हा...! यह बाहर के प्रेम की रुचि में पड़कर वहीं का वहीं भटकता रहा! आ...हा...हा...हा...!

यहाँ कहते हैं, (यह) थोड़ी सूक्ष्म बात है। बहिन थोड़ा बोल बोले। वहाँ लड़कियाँ बैठी होगी। बहिन के आश्रय में 64 बाल ब्रह्मचारी लड़कियाँ हैं। बाल ब्रह्मचारी, हों...! कई लाखोंपतियों की लड़कियाँ और अंग्रेजी पढ़ाई, ये तुम्हारी पढ़ाई को क्या कहते हैं? (ग्रेज्युएट) ग्रेज्युएट लो! भाषा तुम्हारी भूल जाते हैं। यह धर्म की भाषा आने पर यह लौकिक भाषा भूल जाते हैं। ऐसी ग्रेज्युएट... ग्रेज्युएट... हुई लड़कियाँ हैं! उनके बीच ये बोले थे, उन लोगों ने थोड़ा लिख लिया, सो प्रसिद्धि में आया। वरना तो (प्रसिद्धि) में आता ही नहीं। वे तो बाहर से मर गये हैं। (चलते हुए देखे तो जैसे) मुर्दा चलता हो! अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द इतना उमड़ पड़ा है कि जिसके रस के आगे कौन सामने देखता है और कौन नमस्कार करता है, इसकी कोई दरकार नहीं! उसमें रात्रि–(चर्चा) में ये वचन निकल गये हैं!

प्रभु! चैतन्य को (अर्थात्) इस आत्मा को चैतन्य में से (अर्थात्) आत्मा में से परिणमित (भावना), **परिणमित** ऐसा क्यों कहा? क्योंकि मात्र कल्पना–जानकारीरूप धारणा कर रखी हो, ऐसा नहीं, परन्तु अन्दर में उसका परिणमन हुआ है। आत्मा ज्ञानानन्द है, ऐसी दशा हुई है। जानकारी–धारणा रखकर बात नहीं की। आहा...हा...हा...!

जिसे, **चैतन्य को चैतन्य में से परिणमित...** शब्द थोड़े हैं परन्तु भाव बहुत ऊँचे हैं! आहा...हा...! समझ में आया? 'चैतन्य को' (ऐसा कहा तो) अब चैतन्य कहना किसको? (कि) यह परम आनन्द और परम ज्ञान की शक्ति का पिण्ड, अतीन्द्रिय आनन्द और सच्चिदानन्द प्रभु, द्रव्यस्वभाव जो अनादि-अनन्त (है), उस चीज़ को तो आवरण भी नहीं – ऐसी चीज़ अन्दर है। ऐसी चीज़ की दृष्टि हुई और चैतन्य को चैतन्य में से (अर्थात्) उसमें से परिणमित दशा। आहा...! अर्थात् कि सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट करने की भावना। समझ में आया? बात तो यहाँ बापू! भव के अभाव की है प्रभु! बाकी तो सब बहुत देखा है यहाँ तो दुनिया को! इस चीज़ को हम 72 साल से तो देख रहे हैं।

घर की दुकान थी, वहाँ भी मैं तो शास्त्र ही पढ़ता था। घर की बड़ी दुकान चलती है, पालेज में है। पाँच साल वहाँ दुकान चलायी परन्तु तब भी मैं तो ये शास्त्र ही पढ़ता था। **पूर्व के संस्कार थे न!** तब से अन्दर से बात उठी है कि **चैतन्य को चैतन्य में से परिणमित...** आहा...हा...! राग–द्वेष नहीं, पुण्य–पाप नहीं। आहा...! जिसके नैतिक

जीवन भी ऊँचे होते हैं, उस जीवन के प्रति भी लक्ष्य नहीं। आहा...हा...! अन्तर के चैतन्य में से चैतन्य वस्तु है, वैसी दृष्टि होने पर, उसमें से निकली हुई परिणमनरूप दशा। आहा...हा...! उस चैतन्य के प्रवाह में से, परिणति में से अवस्था का प्रवाह आया। जैसे कुएँ में से बर्तन में पानी आता है, वह प्राप्त की प्राप्ति है। कुएँ में था, वह बर्तन में आया। बर्तन कहते हैं न? आहा...हा...! वैसे चैतन्य में अन्दर वस्तु से आहा...हा...हा...! उसमें से परिणमित हुई दशा वह, **भावना अर्थात् राग–द्वेष में से नहीं उदित हुई....** आहा...हा...हा...! सूक्ष्म बात तो है प्रभु! तेरी प्रभुता की बात तो, बापू! भगवान भी पूर्णरूप से नहीं कह सकें। आहा...!

**जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,**
**जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,**
**कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।**
**उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,**
**अनुभवगोचार मात्र रहा वह ज्ञान जब॥**
**अपूर्व.....॥**

'श्रीमद् राजचन्द्र' हो गये। 33 वर्ष की उम्र में देह छूट गयी है परन्तु वे एकावतारी हो गये हैं। मुम्बई में लाखों का जवाहरात का व्यापार था। फिर भी अन्दर में भिन्न हो चुके थे। नारियल का जैसे गोला भिन्न पड़ता है; वैसे धर्मी को सम्यग्दर्शन में राग से और देह से अन्दर (चैतन्य) गोला भिन्न पड़ गया होता है। आहा...हा...!

वे 'श्रीमद्' 33 साल की उम्र में देह छूट गयी, फिर भी इस अनुभव की दृष्टि के ज़ोर से इतना अधिक आया था कि हमें अब एकाध भव करना है, बापू! हम अब हमारे स्वदेश जायेंगे। हमारा स्वदेश अन्दर चैतन्य भगवान, यह हमारा देश है। यह (बाहर का) देश नहीं। अरे...! पुण्य और पाप के परिणाम भी प्रभु! हमारा देश नहीं! यह बात अन्दर बहिन के (वचनामृत में से) चल गयी, परसों कही थी। 401 (नम्बर का) बोल है। आ...हा...हा...! यह तो संसार से पागल होनेवाले की बातें हैं।

(यहाँ) कहते हैं कि जिसकी भावना चैतन्यस्वरूप भगवान (आत्मा)! उसमें से

उदित, प्रगट अंकुर परिणमन करे, वह पर्याय–भावना कैसी होती है? कि जिसमें पुण्य और पाप, राग–द्वेष रहित भावना होती है। आहा...हा...! है (अन्दर)? अर्थात् **राग–द्वेष में से नहीं उदित हुई –ऐसी भावना।** आहा...हा...!

अरेरे...! ऐसा अवतार मिला, इसमें यदि आत्मा का (हित) कुछ नहीं किया (तो) फिर से मनुष्यपना कब मिलेगा प्रभु? चौरासी के अवतार में अनन्त काल से भटक मरा है। नरक और निगोद के दुःख...! तेरे दुःख देखकर देखनेवालों को रोना आया है बापू! ऐसे दुःख सहन किये हैं। परन्तु भूल गया! थोड़ी बाहर में अनुकूलता मिली, दो–पाँच करोड़ रुपये मिले और लड़के-लड़कियाँ आदि अनुकूल हों, शरीर थोड़ा सुन्दर मिला हो कि बस! मर गया उसमें! मेरी चीज़ अन्दर में कौन है? इसको देखने का, विचार करने का अवकाश भी नहीं लेता!!

यहाँ तो कहते हैं कि आहा...हा...! चैतन्य में से उदित भावना, राग–द्वेष रहित (होती है)! राग–द्वेष रहित...! आहा...! यहाँ तो धर्म की बात है न प्रभु! धर्म (प्राप्ति हुए) पहले नैतिकता की बात तो कही। नैतिक जीवन तो होना ही चाहिए। साधारण प्राणी–सज्जन जिसको कहे उसको भी दारू, माँस और परस्त्री तो हो ही नहीं सकते। सर्व माता (स्त्रियाँ) बेटियाँ, माता और बहिन समान उसको तो होती हैं। आहा...हा...! ऐसा तो जिसका नैतिक जीवन होता है।

ऐसे जीवन में से जब चैतन्य में से परिणमित पर्याय आती है, वह राग और द्वेष रहित दशा आती है। आहा...हा...! थोड़ा कठिन लगे परन्तु प्रभु! सुनना हों....! कठिन लगे तो भी...! दूसरी बात क्या करें? यहाँ तो 45 साल से यह बात चलती है। 45 साल हुए! 45 यहाँ हुए और 45 इसमें (अर्थात्) संसार में 45 हुए! संसार में तो 23 वर्ष गये परन्तु बाद में भी वहाँ सम्प्रदाय में इसमें (मुहपत्ती में) रह गये न! ऐसे करके 45 हुए और 45 यहाँ (सोनगढ़ में) हुए। किन्तु यह बात जो उगी...! आहा...हा...हा...!

राग और द्वेष रहित हुई भावना। है? **ऐसी यथार्थ भावना हो....** 'ऐसी' यथार्थ भावना–यथार्थ भावना क्यों कही? क्योंकि शास्त्र की जानकारी करके बात की धारणा कर रखी हो परन्तु अन्दर की भावना न हो। आहा...हा...! शास्त्रों को पढ़कर धारणा कर ली

हो परन्तु अन्दर में राग–द्वेष रहित होकर चैतन्य की भावना परिणमित न हुई हो। (यहाँ तो यथार्थ भावना हुई हो) ऐसे जीव की बात ली है।

वह जीव चैतन्य में परिणमन करता है। आहा...हा...! भगवान अन्दर चैतन्य के नूर का पूर (बाढ़) है! ध्रुव चैतन्य का प्रवाह है। जैसे पानी का प्रवाह धारावाहीरूप से यों चलता है। नदी में पानी जब बहुत ज़ोर से दोनों तट को छूता है... हमारे उमराला–जन्मधाम में बड़ी नदी है। सैलाब आता है तब 20–25 फुट पानी आता है। पूरा किनारे पर पानी छा जाता है। सामने देख न सके उतना पानी...!

यहाँ यह कहते हैं कि नदी में बाढ़ इतने जोर से ऐसे प्रवाह में चलती हो, इससे भी अनन्त गुना प्रवाह अन्दर आत्मा (का) चैतन्यप्रवाह है! आहा...! चैतन्य के तेज का–प्रकाश का नूर का पूर है! अरेरे...! उसमें से उदित हुई भावना (अर्थात्) **ऐसी यथार्थ भावना हो...** यहाँ 'यथार्थ' पर ज़ोर है। कल्पना करके (कुछ परिणमन हुआ) वह नहीं परन्तु 'यथार्थ' (भावना है)। जैसी चीज़ है, वैसी अन्दर भावना हो **तो वह भावना फलती ही है।** तो वह भावना फलती ही है! (अर्थात्) उस भावना में से केवलज्ञान आयेगा ही! दूज का उदय हुआ, अब पूर्णिमा न हो – ऐसा तीन काल में नहीं बनता। क्या कहा?

दूज उगती है न? दूज के बाद तेरहवें दिन पूर्णिमा होती ही है। वह पूर्णिमा न हो – ऐसा कभी नहीं बनता। आहा...हा...हा...! वैसे जिसको आत्मा के सम्यक्रूपी दूज का जहाँ अन्दर में उदय हुआ...! भगवान चैतन्यमूर्ति आनन्द का नाथ! अन्दर में राग और द्वेष के भाव से रहित होकर, अन्दर चैतन्य की दूज उगी...! आहा...हा...! परिणमित दशा का उदय हुआ वह दूज है। उस दूज में से जैसे पूर्णिमा होगी ही। वैसे यह सम्यग्दर्शन की परिणति हुई, उसको केवलज्ञान होगा ही। जैसे यह दूज (का चन्द्र) तेरह दिन बाद (पूर्णरूप से परिणमित) होता है, वैसे इसे एक या दो भव में केवलज्ञान आये बिना नहीं रहता। आहा...हा...हा...! ऐसी बातें हैं भाई। है (अन्दर)? (चैतन्य में से) उदित भावना ऐसी यथार्थ हो तो वह भावना फलती ही है। आ...हा...हा...!

बहिन विचारपूर्वक अनुभव में से बोलते थे कि **...यदि नहीं फले तो जगत को–चौदह ब्रह्माण्ड को शून्य होना पड़े...** यह क्या कहा? आहा...हा...! चैतन्य की भावना

(अर्थात् कि) राग–द्वेष से रहित होकर अन्दर चैतन्यस्वरूप प्रभु की भावना हुई, उसका फल अवश्य आता ही है। (अर्थात्) केवलज्ञान होकर ही रहेगा। न फले तो जगत को– चौदह ब्रह्माण्ड को शून्य होना पड़े। क्योंकि यदि इस भावना का फल न आये, तब तो जगत शून्य हो जाये। क्योंकि प्रत्येक (द्रव्य की) पर्याय का (यदि) फल न आये, तब तो जगत शून्य हो जाये। आ...हा...हा...हा...!

पाप के परिणाम का फल भी नरक–निगोद न आये; पुण्य का फल भी स्वर्ग और मनुष्यपना न आये; और चैतन्य के परिणाम का फल केवलज्ञान न आये (तो) जगत को शून्य होना पड़े!! आहा...हा...! समझ में आया? पाप के बीज बोये, उसको नरक और निगोद न मिले; पुण्य का भाव हुआ, उसे स्वर्ग या मनुष्यत्व न मिले; और चैतन्य की भावना हुई, उसे केवलज्ञान न मिले, (तो) जगत को शून्य होना पड़े!! (परन्तु) ऐसा तीन काल में होता नहीं! आहा...हा...हा...! सूक्ष्म बात है भगवान! दुनिया से अलग प्रकार की लगे परन्तु बात तो यह है प्रभु! आ...हा...हा...!

उसको मनुष्यपना मिला तो मनुष्य कहना किसको? 'गोम्मटसार' में एक पाठ है। मनुष्य किसको कहें? आहा...हा...! **ज्ञायक ते इति मनुष्यः** (अर्थात्) आत्मा का चैतन्य स्वरूप जाने, उसे मनुष्य कहते हैं, बाकी सबको पशु कहते हैं। आहा...हा...! 'गोम्मटसार' में (आता) है। **ज्ञायक ते इति मनुष्यः** आत्मा चैतन्यस्वरूप है, उसे जो जाने, वह मनुष्य कहलाये। **मनन कर्ते इति मनुष्यः** चैतन्य का मनन करे, ध्यान करे, वह मनुष्य (है)। बाकी इसके बिना (सबको) पशु कहा जाता है। आहा...हा...!

शास्त्र में तो यहाँ तक पाठ है कि जिसको चैतन्य की भावना-सम्यग्दर्शन नहीं है, –वे सब चलते हुए मुर्दे हैं!! पाहुड़ में है। 'मोक्षपाहुड़' में है। 'अष्टपाहुड़' है न? इसमें यह है–चलते हुए मुर्दे हैं। जैसे मरे हुए को उठाकर श्मशान में ले जाते हैं, वैसे ये भी चलते हुए मुर्दे हैं!! चैतन्यस्वरूप अन्दर भगवान पूर्ण वीतरागमूर्ति! इसकी जिसको रुचि नहीं, इसके प्रति सन्मुखता नहीं, इसकी ओर का झुकाव नहीं, इसकी ओर का प्रेम नहीं, वे सब चलते हुए मुर्दे हैं। ऐसा है, बापू! आहा...हा...!

यहाँ वही कहते हैं कि **चौदह ब्रह्माण्ड को शून्य होना पड़े...** अर्थात्? जैसी–जैसी भावना (हो), उसका फल न आये तो जगत रहे नहीं। पाप करे (उसे) नरक, निगोद

न मिले तो जगत रहे नहीं। पुण्य करे और मनुष्यपना–स्वर्ग न मिले तो जगत रहे नहीं। वैसे आत्मा की भावना करे, उसे केवलज्ञान न हो तो तत्त्व रहे नहीं और जगत रहे नहीं! आहा...हा...! बापू! मार्ग तो कोई अलग है प्रभु! आहा...हा...!

ये तो आमन्त्रण था और आ गये! वरना हम तो सोनगढ़ से बाहर...!

**मुमुक्षु**–हमारे अहोभाग्य कि हमें समझने मिला!!

**पूज्य गुरुदेवश्री**–बापू! यह तो 'वननी महि कोयल' बिछड़ जाती है, वैसे कोयल आ गयी है। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं प्रभु! एक बार सुन तो सही! जिसको आत्मा की भावना हो, उसका फल सर्वज्ञपना न आये तो जगत में पाप का फल नरक–निगोद और पुण्य का फल (मनुष्य)–स्वर्ग, वह सब नष्ट हो जाये। समझ में आया? इन शब्दों में ऐसी भावना भरी है!! चन्दुभाई! आहा...हा...!

**मुमुक्षु**–बहुत अच्छा अर्थ आया।

**पूज्य गुरुदेवश्री**–क्या कहा?

**मुमुक्षु**–बहुत अच्छा अर्थ आया आज!

**पूज्य गुरुदेवश्री**–वस्तु ऐसी है, प्रभु! आहा...हा...!

पाप के परिणाम करे और उसे नरक–निगोद न मिले, तब तो वह वस्तु–नरक और निगोद रहेंगे ही नहीं। पुण्य के परिणाम करे और स्वर्ग, मनुष्यत्व न मिले तो वह वस्तु ही नहीं रहती। इसी तरह चैतन्य के परिणाम करे और केवलज्ञान न हो तो वह वस्तु ही नहीं रहती। आहा...हा...! बोल आया है ऊँचा!! चौदह ब्रह्माण्ड को शून्य होना पड़े, इसका यह अर्थ (है) हों! क्या कहा इसमें, समझ में आया?

जगत है, पुण्य और पाप के फलस्वरूप स्वर्ग–नरक है और आत्मा की भावना के फलस्वरूप सिद्धपद है। तो यह (ऐसी) जो वस्तु हैं (अर्थात्) सिद्धपद है, नरक–निगोद है, स्वर्ग–मनुष्य है–यह सब भाव अनुसार न मिलते हो, तब तो ये वस्तुएँ रहती नहीं। इसी तरह चैतन्य की भावना हुई और केवलज्ञान न हो, तब तो सिद्धपद नहीं रहता। आहा...हा...! दूज उगे और पूर्णिमा न हो तो वह दूज उगी ही नहीं। आहा...हा...! वैसे भगवान आत्मा!

(जिसने) चैतन्य के बीज अन्दर बोये, वह यदि उगे नहीं और केवलज्ञान न हो, तब तो यह आत्मा ही नहीं रह सकता। आ...हा...हा...! ऐसी बातें हैं, प्रभु!

**चौदह ब्रह्माण्ड को शून्य होना पड़े अथवा तो इस द्रव्य का नाश हो जाय।** देखा? क्योंकि उसकी पर्याय है और (उसका) फल यदि न आये तो द्रव्य ही न रहे। जिस आत्मा ने नरक-निगोद के भाव किये, उस भाव अनुसार नरक में (न जाये तो वह द्रव्य ही नहीं रहता)। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती! छः खण्ड का धनी! 96 हज़ार स्त्रियाँ और 96 करोड़ सैनिक...! उसका नायक मरकर सातवीं नरक में गया। (यहाँ) कहते हैं कि उस पाप का फल यदि न आये तो जगत ही नहीं रहता, ऐसा कहते हैं। बात समझ में आती है न? वैसे पुण्य के फलस्वरूप स्वर्गादि, मनुष्यादि न मिले तो वस्तु ही नहीं रहती; इसी प्रकार चैतन्य के परिणाम हुए, और केवलज्ञान न होवे तो यह वस्तु ही नहीं रहे; जगत शून्य हो जाये। आहा...हा...! बहुत गहरी (और) सूक्ष्म बात है। **परन्तु ऐसा होता ही नहीं।** आ...हा...हा...! **अथवा तो इस द्रव्य का नाश हो जाय।** अर्थात्? परिणाम है, उसका फल यदि न आये तो द्रव्य रह ही नहीं सकता। जैसी पर्याय की, उसका फल यदि न आये तो पर्याय के बिना द्रव्य रह ही नहीं सकता। द्रव्य का नाश हो जाय। थोड़ी सूक्ष्म बात है परन्तु ऊँची बात है। आ...हा...हा...! **परन्तु ऐसा होता ही नहीं।** आहा...हा...हा...! जैसे परिणाम किये, वैसा फल आये बिना रहता ही नहीं। आहा...! चार गति और सिद्धगति-यह परिणाम का फल है। तो उन परिणामों का फल यदि न आये तो चार गति और सिद्धगति ही नहीं रह सकती। आहा...हा...! समझ में आया? वैसे आत्मा में राग और द्वेषरहित चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान की भावना (जिसको हुई), उसको केवलज्ञान और परमात्मपद न हो, तब तो उस पर्याय रहित द्रव्य का नाश हो जाये, तो उसका नाश होने पर जगत का भी नाश हो जाये। ऐसा अन्दर कहते हैं, देखो! है?

**चैतन्य के परिणाम के साथ कुदरत बँधी हुई है।** पाप किये हों तो नरक-निगोद, पुण्य किये हों तो स्वर्गादि और चैतन्य के परिणाम किये हों तो मुक्ति (मिले बिना रहती नहीं)। ऐसा... है? **चैतन्य के परिणाम के साथ कुदरत बँधी हुई है।**-कुदरत में इसका फल आये बिना रहता ही नहीं। आहा...हा...! जिसको चैतन्य की भावना प्रगट हुई, उसका मोक्ष हुए बिना रहता ही नहीं। दूज उगी उसकी पूर्णिमा हुए बिना रहती ही नहीं। आहा...हा...!

बात तो थोड़ी सूक्ष्म (है) परन्तु...! बहिन के शब्द हैं। आप सब ने लिखाया है न! झवेरचन्दभाई ने और सबने इकट्ठे होकर। लक्ष्मीचन्दभाई ने, कि दोपहर में यह पढ़ना। वहाँ पत्र आया था। सुबह 'समयसार' और दोपहर में यह ('वचनामृत' पढ़ना)। आहा...हा...!

**परिणाम के साथ कुदरत बँधी हुई है** अर्थात् क्या कहा? जैसे पुण्य, पाप और धर्म के परिणाम करेगा, इसके अनुसार में इसका फल जगत में आये—ऐसे कुदरत बँधी हुई है।

**मुमुक्षु**—महा सिद्धान्त है!

**पूज्य गुरुदेवश्री**—इसका फल आये बिना रहे ही नहीं। आहा...हा...हा...! माँस, दारू, और मछली खाये, परस्त्री का सेवन करे और वह नरक में न जाये (तो) जगत को शून्य होना पड़े। इस परिणाम के फलस्वरूप (जो) गति है, वह गति ही नहीं रहेगी। वैसे जिसने पुण्य के परिणाम किये और उसे स्वर्ग न मिले तो वह स्वर्ग ही नहीं रह सकेगा। वैसे जिसने चैतन्य के परिणाम किये, (उसको) मुक्ति न मिले तो वह सिद्ध (गति) नहीं रह सकती। आहा...हा...! सूक्ष्म है परन्तु प्रभु! तेरे घर का है! तेरे घर की बात है, प्रभु! आहा...हा...! **ऐसा (ही) वस्तु का स्वभाव है।** कहा न? शुभ, अशुभ और शुद्ध—इन परिणामों का फल यह जगत है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। आहा...हा...! **यह अनन्त तीर्थंकरों की कही हुई बात है।** है उसमें? आहा...हा...!

बहिन तो तीर्थंकर के पास थे। महाविदेह में (सीमन्धर) भगवान विराजते हैं, उनके पास थे। वहाँ हमारे साथ थे।

(बहिन) ऐसा कहते हैं कि यदि इन परिणामों का फल ऐसा नहीं आये, आहा...हा...! तो अनन्त तीर्थंकरों की कही हुई बात मिथ्या सिद्ध होगी! यह बात अनन्त तीर्थंकरों ने कही है कि, जो पाप के परिणाम करे, उसे नरक—निगोद मिलता है; पुण्य के परिणाम करे, उसे स्वर्गादि मिलता है, फिर भले ही चार गति में भटके! और चैतन्य के परिणाम करे तो उसे मुक्ति मिले—वह अनन्त तीर्थंकरों ने यह बात कही है। है न उसमें प्रभु? आ...हा...हा...! अरेरे...! दरकार कहाँ है? इसमें फिर पैसे जरा 5-50 लाख, करोड़-दो करोड़ मिल गये, तब तो हो गया...! 'मैं चौड़ा और गली सकड़ी'। ऐसा हो जाय! उलझ जाय... इसी में उलझ जाय!

एक बार दृष्टान्त नहीं दिया? गोवा में—एक शान्तिलाल था... खुशाल शान्तिलाल।

240 करोड़ रुपये, उसके पास 240 करोड़ ! ढाई अरब ! दो अरब चालीस करोड़ !.. फिर बढ़ गये थे। लड़का आया था, हमारे पास आया था। आता है। परन्तु वह अन्त में अन्दर दुःख ऐसा आया, अरे... ! मुझे दर्द होता है, डॉक्टर को बुलाओ। इकसठ वर्ष की उम्र। यह दो अरब चालीस करोड़ और साठ लाख के तीन मकान हैं, गोवा में है। वह मर गया। लड़के हैं। यह मुझे दर्द होता है, डॉक्टर को बुलाओ। डॉक्टर जहाँ आता है, वहाँ तो भाईसाहब की देह छूटकर चौरासी के अवतार में जाए भटकने। आहा... ! तेरे पैसे और तेरे स्त्री-पुत्र कोई साथ नहीं आये।

यहाँ कहते हैं कि इसके परिणाम का फल जगत में न आये तो जगत को शून्य होना पड़े। जगत, जगतरूप रह सके नहीं। पुण्य–पाप का फल और धर्म का फल न मिले तो यह दुनिया–जगत रह सके नहीं। चारगति और सिद्धपद नहीं रह सकता। झवेरचन्दभाई ! आहा...हा... ! जिसने जो बोया, उसका बीज उगे बिना रहता नहीं और यदि उगे नहीं तो उसने बीज बोया ही नहीं, और उगा तो बीज बोया है और उसका फल आया तो उसका फल आकर यह जगत टिका रहा। इस तरह जगत में जैसे परिणाम किये, वैसा उसका फल आया तो जगत यों का यों टिक रहा है। आहा...हा... ! **यह अनन्त तीर्थंकरों की कही हुई बात है**। इस एक बोल में इतना समय गया ! ऐसी बात है।

प्रभु ! तू है न ! वह तो त्रिकाली द्रव्य है परन्तु अब तेरे वर्तमान परिणाम होते हैं इन परिणामों का फल नहीं आवे तो इस जगत में स्वर्ग–नरक ही नहीं रहते। और मोक्ष के परिणाम करे और मोक्ष न आये तो सिद्धपद ( –सिद्ध ) गति ही नहीं रहती। ये चारगति और सिद्धगति–सबका नाश हो जाता। आहा...हा... ! ऐसी बात है प्रभु !

**मुमुक्षु**–तीर्थंकर के पास थे, यह अनुभव की बात है।

**पूज्य गुरुदेवश्री**–यह अनुभव की बात है। जेठालालभाई ! यह ज्येष्ठ की बात है श्रेष्ठ, यह 21 वाँ बोल हुआ।

22 वाँ बोल पढ़ने जैसा है। 23 वाँ बोल।

**मुमुक्षु**–22 वाँ भी भले ही वाँचें !

**पूज्य गुरुदेवश्री–22वें में मेरा नाम आता (है इसलिए) इसमें हमारा काम**

नहीं! बहिन स्वयं तो कहें परन्तु मेरे मुँह से यह बात कहना शोभा नहीं देता। बहिन को तो स्वयं के भाव में जो आया, सो कहा। वह बात अपने स्थान में रही। मुझसे मेरी बात नहीं कही जा सकती। समुच्चय बात हो। समुच्चय समझें? वरना तो कहाँ से आयें और यहाँ से कहाँ जानेवाले हैं, ये सब अन्दर से निश्चित हो गया है! अन्दर से निश्चित हो गया है!! ऐसा है, बापू! (सब) निश्चित हो गया है।

मुमुक्षु—अब हमको कहिये!

पूज्य गुरुदेवश्री—महाविदेह से आये हैं! प्रभु विराजते हैं, सर्वज्ञदेव सीमन्धर प्रभु समवसरण में महाविदेह में विराजते हैं। वहाँ मैं राजकुमार रूप से था। पिताजी को हाथी, घोड़े (और) अरबों की आमदनी थी। महीने की अरबों की आमदनी और घर में हाथी, घोड़े थे। उसका मैं राजकुमार था।

'कुन्दकुन्दाचार्य' संवत 49 में यहाँ से भगवान के पास गये थे। उस समय मैं भी हाथी के ओहदे भगवान के दर्शन करने, 'कुन्दकुन्दाचार्य' के दर्शन करने समवसरण में गया था। आ...हा...हा...! ऐसी बात है, बापू! बहुत सूक्ष्म बातें हैं! और भगवान के श्रीमुख से निकली हुई बातें हैं। ऐसी बातें हैं कि यह जीव...!

मुमुक्षु—बहिन कौन थे?

पूज्य गुरुदेवश्री—बहिन वहाँ नगरसेठ के पुत्र थे। हम चार लोग वहाँ थे। एक वे थे, एक शान्ताबहिन हैं, वे भी सेठ के लड़के थे। एक नारणभाई थे जिन्होंने (यहाँ) हमारे पास दीक्षा ली थी, गुज़र गये। वे वहाँ वेश्या के लड़के थे। मैं राजकुमार था, वहाँ हम चार लोग थे। वहाँ से यहाँ भरत में आये हैं। अब यहाँ की बात एक ओर रखो... हमारी बातें बहुत सूक्ष्म हैं, ऐसी बातें बहुत मुँह से कहना शोभा नहीं देता। बाकी यहाँ से मरकर हम स्वर्ग में जानेवाले हैं। वहाँ देव होनेवाले हैं। दूसरे भव में तीर्थंकर के पुत्र के रूप में अवतार है। तीसरे भव में स्वर्ग है। चौथे भव में तीर्थंकर होकर केवल(ज्ञान)पाकर मोक्ष जानेवाला हूँ। यह भाई ने पूछा, यह सेठ ने पूछा, इसलिए उत्तर देते हैं।

मुमुक्षु—हम तो आपके पुत्र समान हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री**—हमारे लिये तो सब बड़े सेठ ही कहलाये न!

**मुमुक्षु**—गुरुदेव! सभा में प्रथम बार आपने प्रसिद्ध किया है!

**पूज्य गुरुदेवश्री**—ऐसी बातें नहीं कही जाती। ये तो बहिन ने इसमें लिखा है, इसलिए थोड़ा कहा, बापू! इससे भी सूक्ष्म बातें तो बहुत दूर हैं। हमें तो भीतर में प्रत्यक्ष हो चुकी हैं!! परन्तु अभी थोड़ा जीवन है, तब तक ये बातें आये। फिर तो स्वर्ग में जाना है, देवलोक में... वैमानिक में...! वैमानिक...! वैमानिक देव है! देव चार हैं। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक (ऐसे) चार प्रकार के देव हैं। उसमें मेरा वैमानिक में अवतार है। (अब) इस बात को रखो एक तरफ....!

**ऊपर—ऊपर के वांचन—विस्तार आदि से कुछ नहीं होता, अंदर अंतडियों से भावना उठे तो मार्ग सरल होता है। अन्तःस्तल में से ज्ञायक की खूब महिमा आनी चाहिए॥23॥**

अब यहाँ 23 वाँ बोल (लेते हैं)। 23 वाँ बोल। **ऊपर—ऊपर के वांचन—विस्तार आदि से कुछ नहीं होता,....** आहा...हा...! ऊपर—ऊपर से (कुछ) पढ़ लिया और थोड़ा विचार कर लिया, इससे कुछ मिले, ऐसा नहीं, बापू! अन्दर गहराई में जाना पड़ेगा। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! ऊपर—ऊपर का वांचन, सुनना, विचार आदि! 'आदि' शब्द है न? ऊपर—ऊपर से सुना हो, इसमें कुछ मिले, ऐसा नहीं। आहा...हा...! उसे आत्मा में उतारना होगा, प्रभु! अन्दर में उतारने के लिये पहले श्रद्धा व भावना तो इसे करनी पड़ेगी। श्रद्धा और ज्ञान में तो लेना पड़ेगा कि इस आत्मा में उतरूँगा, तब मेरा कल्याण होगा। ऐसा पहले इसे ज्ञान में निर्णय करना होगा। भले ही कर सके नहीं परन्तु इसके ज्ञान में वैसा निर्णय तो पहले होना चाहिए कि मुझे इस द्रव्य / आत्मा जो है, उसमें जाना ही होगा। इसके बिना मेरा कल्याण है नहीं। आ...हा...हा...हा...! सूक्ष्म बातें हैं, बापू!

(अब कहते हैं) **अंदर अंतडियों से भावना उठे...** आहा...हा...! अंदर से भावना

उठे (ऐसा) कहते हैं। ऊपर-ऊपर से वांचन, श्रवण और मनन (करे), वह नहीं। आहा...हा...! अन्दर में से भावना उठे, आत्मा में से जागृतदशा हो **तो मार्ग सरल होता है।** तो मार्ग सरल होता है। **अन्तःस्तल में से ज्ञायक की खूब महिमा आनी चाहिए।** आहा...हा...! प्रभु! जो ज्ञायक है, जो जाननेवाली चैतन्य ज्योति है, अन्दर में झिलमिलाती ज्योति प्रज्वलित है, प्रभु! चेतन का पूर (बाढ़)-ज्ञान का पूर भरा है। जैसे पानी का प्रवाह ऐसे बहता है, वैसे यह चैतन्य का नूर ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ऐसे जाता है। ऐसा जो पानी के चैतन्य के पूर का ध्रुवपना आहा...! इसकी अन्तर में से भावना उठे तो मार्ग सरल हो। आहा...हा...! पहले जीव को सुनना तो चाहिए न प्रभु! सुनने को मिले नहीं, वह जाये कहाँ? आ...हा...हा...!

**अन्तःस्तल में से ज्ञायक की खूब महिमा आनी चाहिए।** आहा...हा...! शास्त्र की धारणा भी की हो, पढ़ा हो परन्तु वह तो ऊपर-ऊपर की बात है। आहा...हा...! अन्तर में ज्ञायकभाव...! अन्तःस्तल में। ज्ञानज्योति चैतन्य ध्रुव विराजमान है, प्रभु! इसकी अन्तःस्तल में से खूब महिमा आनी चाहिए। तब उसे अन्तर में प्रवेश होकर सम्यग्दर्शन होता है, तभी उसकी धर्म की प्रथम दशा होती है। प्रथम दशा...! आहा...हा...! थोड़े शब्द में बहुत गहरा भर दिया है!

क्या कहा यह? (कि) **अन्तःस्तल में से खूब महिमा आये,** बाहर से नहीं। पुण्य-पाप के भाव के फल की महिमा, वह तो धूल की (महिमा है)। (यहाँ तो) अन्तःस्तल-जो क्षेत्र है आत्मा (का), जिस क्षेत्र में आनन्द की फसल है। (इसके महिमा की बात है)। जगत में भी... क्या कहते हैं उसे? चावल के अलावा वह क्या...? तुम्हारे नाम भी भूल जाते हैं! कुलथी...! कुलथी के खेत-जमीन साधारण होती हैं, और चावल के खेत ऊँचे होते हैं। अच्छे खेत में चावल पकता है। कुलथी अच्छे खेत में नहीं पकती। वह साधारण पत्थर की जमीन में कुलथी पकती है। हमारे वहाँ साथ (साथ में-बगल में) गाँव है, वहाँ कुलथी पकती है, चावल पकते हैं सब बगल-बगल में हैं। वैसे यह आत्मा-जमीन (अर्थात्) अन्तःस्तल, (वह) अतीन्द्रिय आनन्द की फसल हो, ऐसा यह खेत है। आहा...हा...! और पुण्य-पाप के खेत में से संसार की गति फले, ऐसा यह खेत है। आहा...हा...!

पुण्य और पाप के भाव, वह खेत है, वह चार गति में भटकने का (खेत) है, और यह अन्तर खेत जो है, आहा...! उसमें आनन्द की फसल हो, ऐसा यह खेत है। इसमें से अतीन्द्रिय आनन्द का अंकुर फूटता है! आहा...हा...! ऐसा आत्म–तल अन्दर तल है!! वर्तमान पर्याय से अन्दर देखने से, उसका तल–तल अर्थात् ध्रुव (स्वरूप को) देखने से उसकी पर्याय में आनन्द के अंकुर फूटे, ऐसा वह क्षेत्र है, ऐसा वह आत्मा तल है। अरे... अरे...! ऐसी बातें...!

यहाँ तो बाहर में कुछ पैसा हो जाये वहाँ हो गया... खान–पीन का ठिकाना नहीं, अभक्ष्य खा रहे हैं या नहीं... (इसकी भी खबर नहीं रहे)। यह आता है न, वह (क्या कहते हैं?) अण्डा और आहा...! मछली का तेल और कॉडलीवर आता है न? काफ़ी कुछ पता है न! ऐसा आये और दुनिया प्रयोग करे...! अरर्र...! इसका फल तो, बापू! नरक है! उस नरक के दुःख का वर्णन प्रभु करते हैं। प्रभु! तेरे क्षण के दुःख...! प्रभु कहते हैं कि नरक के दुःख का वर्णन मैं क्या करूँ? करोड़ो भव व करोड़ों वर्ष से, करोड़ जीभों से कहे तो भी पूरा न हो, इतना वहाँ दुःख का वेदन है!! नरक में...!

एक आदमी का खून करे (और) यदि उस खून की साक्षी मिले तो राजा उसे कदाचित् एक बार फाँसी दे, परन्तु उसने 25-50-100 (आदमी) के खून किये हों तो राजा उसे (100 बार) फाँसी किस प्रकार दे? क्या कर सकेगा? 100 बार फाँसी देगा? एक बार खून किया हो, उसे एक बार फाँसी और 25-50 खून किये हो, उसके लिये क्या? उसके लिये कुदरत में नरक है। यहाँ राजा उसका फल नहीं दे सकता। उसको 25 बार फाँसी पर नहीं लटका सकता। आहा...हा...हा...! उसका फल अन्दर (नरक में) है। आहा...हा...!

वह यहाँ कहते हैं कि अन्दर में से भावना उठनी चाहिए। ऊपर–ऊपर से विचार (चलते) हो, उसका फल कुछ नहीं आता। **(हृदय से भावना उठे तो) मार्ग सरल होता है। अन्तःस्तल में से ज्ञायक की खूब महिमा आनी चाहिए।** आहा...हा...! (23 पूरा हुआ)।

**आत्मार्थी को स्वाध्याय करना चाहिए, विचार–मनन करना चाहिए; यही आत्मार्थी की खुराक है।।24।।**

(अब) 24, **आत्मार्थी को स्वाध्याय करना चाहिए,...** बहिन की भाषा है, (कि) स्वाध्याय करना चाहिए। दो–चार घण्टे शास्त्र स्वाध्याय के लिये समय निकालना। एक घण्टा, आधा घण्टा पढ़ जाए, उसमें कुछ पार नहीं आता। संसार हेतु–पाप हेतु कैसे चौबीस घण्टे निकालते हैं? तो उसमें से दो–चार घण्टे आत्मा के शास्त्रवांचन के (लिये) समय निकालना चाहिए। भगवान के कहे हुए आगम, तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि–वाणी–आगम का वाँचन करना चाहिए, उसका विचार करना चाहिए, उसका मनन करना चाहिए। **यही आत्मार्थी की खुराक है।** आहा...हा...! इसके बिना उसे रुचे नहीं, सुहाता नहीं। समझ में आया? दो लाईन में इतनी बात भर दी है!!

**आत्मार्थी को स्वाध्याय करना चाहिए,...** स्वाध्याय अर्थात् ये शास्त्र (स्वाध्याय)। स्वाध्याय के दो प्रकार हैं–एक वाँचन, श्रवण, मनन, वह स्वाध्याय और एक स्वाध्याय अर्थात् आत्मा–स्व का अन्दर मनन (और) आनन्द का अनुभव, वह स्वाध्याय है–वह निश्चय स्वाध्याय (है)। आहा...हा...! और शास्त्र वांचन आदि करना, वह व्यवहार स्वाध्याय (है)। परन्तु पहले व्यवहार स्वाध्याय आना चाहिए। वांचन चाहिए, विचार चाहिए, मनन चाहिए, चिन्तवन चाहिए। (इसलिए कहते हैं कि) स्वाध्याय करना चाहिए। आहा...हा...! वांचन करना, पूछना, प्रश्नोत्तर करना, इसका विचार करना, ऐसा पहले इसे होना चाहिए। बापू! भगवान द्वारा कथित आगम–शास्त्र के विचार करना चाहिए। आहा...हा...!

यहाँ तो 64 की साल से शास्त्र वांचन है। 64 की साल से! पिताजी की–घर की दुकान है न! वहाँ पालेज में दुकान है। अभी भी दुकान चल रही है। बड़ी दुकान है। 40 लाख रुपये हैं। चार लाख की आमदनी है। चार लाख! अभी लड़के हैं परन्तु मैं तो (वहाँ भी) स्वाध्याय करता था। 19 साल की उम्र से इन शास्त्रों का स्वाध्याय कर रहा हूँ। दसवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूयगडांग, आहा...हा...! (ये सब पढ़ा है)। उसमें जब 78 में 'समयसार' हाथ आया वहाँ तो पुकार उठा और कहा कि, **'बापू! इस शरीर**

**रहित होना हो तो यह पुस्तक है!!'** दामनगर के एक सेठ थे। 'दामोदर सेठ!' तब दस लाख रुपये (उनके पास) थे। 60 वर्ष पहले। घर का खेत था। एक गाँव भी था, कैसा नाम? 'मूलियापाटण' नाम का गाँव था... उसको वांचन बहुत था, परन्तु दृष्टि में अन्तर था; इसलिए वांचन-बांचन व्यर्थ गया और अन्त में मरते हुए, कोई मुझे खींचता है, मुझे कोई खींचता है, कोई मुझे खींचता है—ऐसा हो गया, (क्योंकि) ज्ञान की अवस्था न्यून होने लगी, घटने लगी। पाप किये थे तो घटने लगी। मुझे कोई खींचता है। मैं कहाँ जाता हूँ, इसका पता पड़ता नहीं—ऐसा अन्दर से हो गया था। उसको मैंने कहा था, **'सेठ! यह समयसार शरीररहित होने की चीज़ है!'** 78 की (साल की) बात है। कितने वर्ष हुए? 55 हुए न? 57-57 (हुए न)! उन दिनों की बात है। कहा कि.... यह पुस्तक.... पण्डितजी! तुम्हारे जीवन (जन्म) के पहले की बात है यह तो। उस समय तो उसमें थे, इसलिए मानते। शेठ कहा यह पुस्तक शरीररहित होना हो तो यह 'समयसार' है। इसमें आत्मा की बात है। और आत्मा का मोक्ष कैसे हो? (और) सम्यग्दर्शन (कैसे हो)? यह चीज़ इसमें है। ऐसी चीज़ और जगह है नहीं। उसने उस समय स्वीकार किया था, परन्तु फिर मैंने परिवर्तन किया, तब फिर फेरफार हो गया था। फिर तो गलती निकालने लगे इस समयसार में भी।

यहाँ कहते हैं **आत्मार्थी को स्वाध्याय करना... चाहिए,** आहा...हा...! वांचन करना, विचार करना, पूछना, पर्यटन करना। आहा...हा...! दूसरों के समक्ष इस बात को रखना कि यह कैसे है? **विचार—मनन करना चाहिए; यह आत्मार्थी की खुराक है।** आत्मार्थी की खुराक यह है। श्रीखंड, पुड़ी और पत्तरवेलीयां...! पत्तरवेलीयां समझते हैं? अरवी के भुजिये! अरवी के पत्ते की पकौड़ी को पत्तरवेलीयां कहते हैं न! श्रीखंड, पुड़ी और अरवी के पत्ते की पकौड़ी!! अरवी के पत्ते होते हैं न? फिर उसमें चने का आटा डालकर गोल बीड़ा बनाते हैं न! बीड़ा बनाकर इसके टुकड़े करते हैं! सब देखा तो है न! किया नहीं है कुछ! (परन्तु) देखा है सब! उस पत्ते के बीड़े के टुकड़े करके उसे घी में तलते हैं और यहाँ साथ श्रीखण्ड (हो)...! (तो मानो ऐसा हो जाता है कि) आहा...हा...हा...!

**मुमुक्षु**—सब बातों में आप निष्णात लगते हो!

**पूज्य गुरुदेवश्री**—सब बातें देखी हैं। बापू! एक—एक! एक स्त्री के साथ शादी नहीं की, इतना फ़र्क है। इसके अलावा बाकी सब देखा है।

यहाँ यह कहते हैं कि आत्मार्थी की तो यह खुराक है। 24 घण्टे में से स्वाध्याय, मनन का समय निकाल लेना चाहिए। चाहे कैसे भी दो–चार घण्टे निकालने चाहिए। देखो! 'चन्दुभाई' चार घण्टे पढ़ते हैं। 'चन्दुभाई डॉक्टर'! बड़े डॉक्टर हैं। राजकोट के बड़े डॉक्टर हैं। हमेशा चार घण्टे पढ़ते हैं।

**मुमुक्षु**–.....बड़े डॉक्टर नहीं, किन्तु बड़े के डॉक्टर है।

**पूज्य गुरुदेवश्री**–क्या कहा यह?

**मुमुक्षु**–बड़े के डॉक्टर। बड़े के डॉक्टर यह। बड़े के डॉक्टर हुए। बड़े यह हुए।

**पूज्य गुरुदेवश्री**–यह 24 वाँ बोल हुआ।

**प्रथम भूमिका में शास्त्रपठन–श्रवण–मनन आदि सब होता है, परन्तु अन्तर में उस शुभभाव से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। इस कार्य के साथ ही ऐसा खटका रहना चाहिए कि यह सब है किन्तु मार्ग तो कोई अलग ही है। शुभाशुभभाव से रहित मार्ग भीतर है–ऐसा खटका तो साथ ही लगा रहना चाहिए॥25॥**

(अब) 25 (वाँ बोल)। **प्रथम भूमिका में शास्त्रपठन–श्रवण–मनन आदि सब होता है,...** पहले (ये सब) होता है। एकदम अनुभव हो सके, ऐसे नहीं। प्रथम भूमिका में शास्त्रपठन (अर्थात् कि) भगवान द्वारा कथित शास्त्र का पठन, उसका श्रवण–सुनना, उसका मनन आदि सब होता है। **परन्तु अन्दर में उस शुभभाव से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए।** आहा...हा...! ऐसा जो शुभभाव, वह सब शुभभाव है, पुण्य है। इससे सन्तुष्ट नहीं हो जाए। आहा...हा...! यह होता है जरूर...।

**प्रथम भूमिका में शास्त्रपठन–श्रवण–मनन आदि सब होता है, परन्तु अन्दर में उस शुभभाव से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए।** कि हमने तो काफ़ी पठन कर लिया, बहुत श्रवण किया, अब बहुत स्मरण में है–(ऐसे) सन्तोष नहीं करना। **इस कार्य के साथ ही ऐसा खटका रहना चाहिए...** कौन–सा कार्य? पठन, श्रवण और मनन। शास्त्र का मनन।

**इस कार्य के साथ ही ऐसा खटका रखना चाहिए कि यह सब है, किन्तु मार्ग तो कोई अलग ही है।** शास्त्रवांचन करे, सुने, विचार करे परन्तु अन्दर में से देखे है कि भाई ! मार्ग तो अन्दर कोई अलग ही है। इन शुभ के विकल्पों से भी कोई (मोक्ष)मार्ग नहीं। शुभभाव (हो) किन्तु वह कोई मार्ग नहीं–ऐसा खटका तो अन्दर रहना चाहिए। आ...हा...हा... ! ये यहाँ (बहुतों को) तो शास्त्रवांचन का भी ठिकाना नहीं होता !

(आत्मार्थी को) प्रथम भूमिका में शास्त्रवांचन (के भाव) आते हैं परन्तु अन्दर शुभभाव में सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। (उन सब) कार्यों के साथ खटका रहना चाहिए कि **यह सब है, किन्तु मार्ग तो कोई अलग ही है।** आहा...हा... ! शास्त्र पढ़े, सुने परन्तु जानता है कि यह तो शुभ विकल्प हैं। अन्दर में मार्ग कोई अलग है। शुभराग से हटकर अन्दर चैतन्यस्वरूप में जाना, वह मार्ग कोई अलग प्रकार का है। शास्त्रवांचन किया, इसलिए मार्ग मिल गया–ऐसा इसे सन्तोष नहीं लेना है। आहा...हा... ! इसका भी (अभी तो) कईयों को ठिकाना नहीं ! ये तो (इतना सब होता है) उसको (कहते हैं कि) परन्तु अन्दर का खटका तो रहना ही चाहिए। आहा...हा... ! (कि) **मार्ग तो कोई अलग ही है। शुभाशुभभाव से रहित मार्ग भीतर है...** शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप के विकल्प–भाव हैं, (उन) दोनों भाव से रहित, आहा...हा... ! अन्दर मार्ग है। उन शुभाशुभभावों में मार्ग नहीं। पुण्य–पाप के भाव में मार्ग नहीं। (कोई) पहले ऐसा कहे कि हम पापी हैं, इसलिए हम पुण्य में तो आये, परन्तु पुण्य में आये तो भी वैसा पुण्य तो अनन्त बार किया है। वह कोई मार्ग नहीं। जिसको जन्म-मरण रहित होना हो, उसके लिए वह मार्ग नहीं है। आ...हा...हा... !

**ऐसा खटका तो साथ ही लगा रहना चाहिए।** उन सब में यह खटका तो लगा ही रहना चाहिए। शास्त्रवांचन करे, विचार करे, कहे, बोले, कथा करे परन्तु खटका तो रहना ही चाहिए कि इन विकल्पों से मार्ग भीतर में कोई अलग है। ऐसा खटका लगे बिना यदि विचार में अटक जाये तो आगे नहीं बढ़ सकता। अतः इस वांचन में भी अन्दर में खटका तो (रहना चाहिए)। शुभाशुभभाव से भिन्न मार्ग है–ऐसा रहना चाहिए।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

**भीतर आत्मदेव बिराजमान है उसकी सँभाल कर। अब अन्तर में जा, और तृप्त हो। अनन्त गुणस्वरूप आत्मा को देख, उसकी सँभाल कर। वीतरागी आनन्द से भरपूर स्वभाव में क्रीड़ा कर, उस आनन्दरूप सरोवर में केलि कर–उसमें रमण कर॥26॥**

## प्रवचन–3 वचनामृत–26 से 30

वचनामृत 26 वाँ बोल है। 25 वाँ (पूरा) हुआ। इसके पहले जो ऐसा कहा न? कि 'णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं।' पाठ तो अभी इतना है कि 'णमो अरिहंताणं' परन्तु अन्तिम पाठ ऐसा है कि 'णमो लोए सव्व साहुणं।' (ऐसा) आता है न? वह ('सव्व') सब पद को लागू पड़ता है और इसके अतिरिक्त 'धवल' (शास्त्र में) एक बात है कि, 'णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं' ऐसा पाठ है। णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं। भूतकाल के, भविष्य के और वर्तमान अरिहंतों को नमस्कार! ऐसे 'णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती सिद्धाणं'–जो सिद्ध हुए, हो रहे हैं और होंगे, उन्हें भी अभी से नमस्कार करता हूँ। ऐसे 'णमो लोए सव्व आयरियाणं'। 'णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आयरियाणं' – वैसे आचार्य... वैसे तो आत्मा में पाँच पद भरे हुए हैं। सूक्ष्म बात है। आत्मा में पाँच पद स्वरूप भरे हैं। उन्हें यहाँ सम्यक्दृष्टि नमस्कार करते हैं कि तीन काल में वर्तते सर्व आचार्य और उपाध्याय को; और अभी कोई जीव नरक में भी हो (तो उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ)।

जैसे तीर्थंकर श्रेणिक राजा अभी पहली नरक में हैं। आगे होनेवाली चौबीसी में पहले तीर्थंकर होनेवाले हैं। वे भी अभी नमस्कार करने त्रिकालवर्ती नमस्कार में आ जाते हैं।

आहा...हा...! तीनों काल में बिराजमान पंच परमेष्ठी–भूतकाल, वर्तमान और भविष्य – तीनों काल वर्तते सर्व पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करके वचनामृत की शुरुआत करते हैं। ऐसे यह 26 वाँ बोल आया (है)। आहा...हा...हा...!

**भीतर आत्मदेव बिराजमान है....** कठिन पड़े जगत को! (क्योंकि) अभ्यास नहीं होता। दुनिया के अभ्यास के आड़ में यह बात एक तरफ पड़ी रही! संसार में भटकने के भाव–मिथ्यात्व और शुभाशुभभाव, ये तो चार गति में भटकने के भाव हैं।

यहाँ कहते हैं कि **भीतर आत्मदेव बिराजमान है....** सब में, हों...! आहा...हा...हा...! अन्तर आत्म दिव्य शक्ति, जैसी दिव्य अर्थात् प्रधान शक्ति, पंच परमेष्ठी की होनेयोग्य है, वैसी शक्ति इस आत्मा (में) अन्तर में बिराजमान है। आहा...हा...! **उसकी सँभाल कर।** आहा...हा...हा...!

भगवान आत्मा अन्तर (में) बिराजमान है। यह देह, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, आबरू, कीर्ति–जड़ ये तो धूल हैं–पर (हैं)। अन्दर में पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वे भी पर हैं और विकार व संसार का कारण और संसार है। उनसे भिन्न आत्मा अन्दर में बिराजमान है–वह आत्मदेव है! (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! नाप कैसे कर सके? कभी करता नहीं और करने की दरकार कभी की नहीं। (इसलिए कहते हैं, अब) **उसकी सँभाल कर।** सब की सँभाल करने के लिए तू तत्पर हो रहा है परन्तु अन्तर (में) यह भगवान बिराजमान है, उसकी सँभाल कर! एक बार इसके सन्मुख तो देख! कि अन्दर कौन है? आहा...हा...!

बाह्य की व्यवस्था करने के (पीछे) निवृत्त नहीं? सारा दिन यह व्यवस्था–यह धूल की, पैसे की, स्त्री और बच्चों की व कुटुम्ब की व्यवस्था के (पीछे) अकेला पाप (करता है)। धर्म तो नहीं, परन्तु पुण्य भी नहीं!! पुण्य तो कब होता है? कि जब चार–चार घण्टे, तीन–चार घण्टे सत्समागम करे, वांचन करे, श्रवण करे तो भले ही धर्म न हो परन्तु उसे पुण्य होता है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि इस पुण्य से भी पार भीतर में आत्मा बिराजमान है। आ...हा...हा...! **उसकी सँभाल कर।** उसकी सँभाल कर (ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...!

मैं एक आनन्दमूर्ति प्रभु हूँ! इसकी रुचि और दृष्टि अनन्त काल में एक सेकेण्डमात्र

नहीं की। इसकी तो सँभाल कर। **अब अन्तर में जा,...** अन्तर गहराई में–पाताल में भगवान परमात्मा बिराजमान है। आहा...हा...हा... ! वर्तमान पर्याय, शुभाशुभभाव के पीछे अन्तरात्मा भगवान बिराजमान है। वहाँ जा। है? **अन्तर में जा,...** ऐसा (करने की) निवृत्ति कहाँ थी?

भक्ति, पूजा, व्रत, तप आदि सब भाव, शुभभाव हैं। वह कोई धर्म नहीं। आते हैं... धर्मी जीव को भी ऐसे भाव आते अवश्य हैं, फिर भी उसे हेय जानते हुए अन्दर चिदानन्द भगवान की वे सँभाल रखते हैं। धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो अन्तर में बिराजमान चैतन्य भगवान है, उसकी सँभाल करते हुए अन्तर में जाते हैं। आ...हा...हा... !

(इसलिए यहाँ कहते हैं), **अन्तर में जा, और तृप्त हो।** बाहर में प्रभु तुझे कहीं तृप्ति नहीं मिलेगी। आहा...हा... ! अन्दर शुभ और अशुभ के विकल्प के राग के पीछे चैतन्यदेव दिव्यशक्ति का (धारक) भगवान बिराजमान है। आहा... ! जिसे परमात्मस्वरूप भी कहते हैं। वह परमात्मा–स्वभाव–शक्ति अन्दर बिराजमान है। परमात्मा स्वयं सिंह समान (है)। (ऐसा) परमात्मा का बल अन्दर भरा है। इसकी सँभाल कर, प्रभु ! और तृप्त हो। वहाँ तुझे शान्ति मिलेगी, वहाँ तृप्ति होगी। यहाँ बाहर में तुझे पाँच–पचीस लाख, करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़ मिले, तो तृप्ति नहीं होगी। तेरा भिखारीपना छूटेगा नहीं। भिखारी हो गया है भिखारी... ! यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ।

एक बार कहा था न? (वांचन में) भावनगर दरबार आये थे। उन्हें एक वर्ष की करोड़ की आमदनी है, पैदाइश है। हमारे पास में ही है–सोनगढ़ से नजदीक (है)। व्याख्यान में आये थे, तब कहा 'दरबार ! महीने में जो लाख या दो लाख माँगे, वह छोटा भिखारी है, करोड़ माँगे वह बड़ा भिखमंगा, भिखारी है।' यहाँ तो (हमको) कहाँ उनसे कुछ लेना-देना था? (वह) प्रसन्न हो जाये तो कुछ पैसे दे (जाये) ! यहाँ तो कुछ है नहीं। आहा... ! दरबार स्वयं सुनने आये थे। (उन्होंने कहा) 'सही बात, महाराज !' मैंने कहा – बापू ! यह धूल है तेरी ! इस राज्य की एक वर्ष की करोड़ की आमदनी है, वह धूल है ! अन्दर में भगवान बिराजमान है, उसे न देखकर भिखारी (होकर बाहर में भीख माँगता है)। माँगण... माँगण समझे? भिखारी को माँगण कहते हैं न ! जो माँगे... माँगे। भिखारी, यह

लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यहाँ कहते हैं कि भाई ! ऐसा भिखारीपना छोड़ दे ! और (अन्दर आत्मा में) तृप्त हो। अन्दर में तृप्ति हो, ऐसी चीज़ पड़ी है। प्रभु ! ऊपर के शरीर को तू मत देख ! स्त्री के, पुरुष के, नपुंसक के, तिर्यंच के, पशु के, सिंह–नाग (आदि) शरीर को न देख ! इसके आत्मा को अन्दर देखे तो वह चैतन्यदेव बिराजमान है। आहा...हा... !

(इसलिए कहते हैं कि) **अन्तर में जा और तृप्त हो।** वहाँ तुझे तृप्ति होगी। अन्तर में जा, वहाँ तुझे तृप्ति होगी, ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! लक्ष्मीचन्दभाई ! बाहर में–धूल में कहीं भी तृप्ति नहीं होगी। करोड़–करोड़ की महीने की आमदनी हो तो भी भिखारीपना (करे)... अधिक करूँ... अधिक करूँ और ज्यादा करूँ... भिखमंगे की तरह भिखारी (होकर घूमता है)। शास्त्र में उन्हें 'वरांका' कहा हैं। शास्त्र में वरांका अर्थात् भिखारी कहा है। सिद्धान्त में पाठ है। 'वरांका' शब्द आता है–'वरांका' ! आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं, प्रभु ! तू अन्तर में देख तो सही एकबार ! **अनंतगुणस्वरूप आत्मा को देख,...** अन्दर अनन्तगुणस्वरूप आत्मा है। आ...हा...हा... ! एक गुणरूप नहीं, रागरूप नहीं, अनन्त... अनन्त गुणस्वरूप... (है)। एकबार कहा था–आकाश के (जितने) प्रदेश हैं, इससे अनन्तगुने गुण एक जीव में हैं। जगत को जँचना मुश्किल पड़े। (क्योंकि कभी) सुना नहीं। जीव की संख्या अनन्त है। इससे इन परमाणुओं की संख्या अनन्तगुनी है। यह (अंगुली) एक चीज़ नहीं, यह तो अनन्त परमाणुओं का दल है। टुकड़े करते... करते... अन्तिम परमाणु रहे, उसे जिनेश्वरदेव परमाणु कहते हैं। ऐसे अनन्त परमाणुओं का यह पिण्ड है। तो आत्मा की संख्या से परमाणुओं की संख्या अनन्तगुनी है। आहा...हा... ! उससे अनन्तगुने तीन काल के समय हैं। एक सेकेण्ड में असंख्य समय जाते हैं। ऐसे तीन काल के समय, परमाणुओं की संख्या से अनन्तगुने हैं। इससे अनन्तगुने आकाश के प्रदेश हैं। यह चौदह ब्रह्माण्ड है। जितने में जीव, जड़ और छह द्रव्य रहते हैं, उसे लोक कहते हैं। लोक (से) बाहर खाली भाग (है)। खाली... खाली... कहीं भी जिसका अन्त नहीं, ऐसा दसों दिशा में आकाश (रहा है)। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... आकाश। इसमें एक परमाणु को रखे और वह जितने भाग को (रोके उसे) प्रदेश

कहते (हैं)। इस आकाश के जो प्रदेश हैं, उससे अनन्तगुने गुण एक जीव में हैं। आहा...हा...हा...! है?

**अनन्तगुणस्वरूप आत्मा को देख,...** आ...हा...हा...! परन्तु निवृत्ति कहाँ है? फुर्सत कहाँ है? आहा...! लिपट गया है–पुण्य और पाप में लिपट गया है। अन्दर भिन्न भगवान है, इसकी एक बार सँभाल कर! **उसकी सँभाल कर। वीतरागी आनन्द से भरपूर स्वभाव में क्रीड़ा कर,...** आ...हा...हा...! क्या कहा यह?

अन्दर वीतरागी आनन्द पड़ा है। अनादि–अनन्त वीतरागी आनन्द की मूर्ति ही प्रभु है। उसकी वर्तमान दशा में सब गड़बड़ है। पुण्य और पाप, संसार, नरक और निगोद (की गड़बड़ है)। वस्तु है, वह तो वीतरागी आनन्द से भरा हुआ स्वभाव है। आहा...! उसमें क्रीड़ा कर–उसमें केलि कर, उसमें जाकर मौज कर। अन्यत्र कहीं भी मौज है नहीं। आ...हा...हा...हा...!

देखो! ये बहिन अनुभव से बोले हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में से (बोले हैं)। बालब्रह्मचारी 64 लड़कियाँ हैं। बड़े लाखोंपति की लड़कियाँ हैं। कुछ एक ग्रेज्युएट हुई हैं। उनमें बहिन यह बोले थे, (वह) लिख लिया तो यह प्रकाशित हो गया। आहा...! लेकिन बोले हैं अन्तर के अनुभव के नाद से!! नाद अन्तर में आया, जो लड़कियों ने सुना है, उसे लिख लिया।

**वीतरागी आनन्द से भरपूर...** क्या कहा? वीतरागी आनन्द से भरपूर स्वभाव है। राग और पुण्य–पाप से भरा स्वभाव नहीं है। पुण्य और पाप तो कृत्रिम नये भाव विकार–ज़हर उत्पन्न करता है। पुण्य और पाप के भाव तो ज़हर है। पहले आ गया है। (बोल-19) शुभभाव है, वह काला नाग है, ज़हर है। पहले आ गया था। आहा...हा...! कैसे जँचे यह बात? आत्मा अन्दर में कौन है? इसकी कुछ खबर नहीं होती।

यहाँ कहते हैं, **वीतरागी आनन्द से भरपूर स्वभाव में क्रीड़ा कर,...** सार है, सार–केवल यह तो!! **उस आनन्दरूप सरोवर में...** अन्दर आनन्दरूप सरोवर है, प्रभु! वहाँ नज़र कर और वहाँ **केलि कर–उसमें रमण कर।** इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहा...! धर्म की पहली सीढ़ी इसका नाम है। बातें करने से कोई बड़ा

(पकौड़ी) हो ऐसा नहीं है! (हम लोग) वैसे भी नहीं कहते कि, 'बाते वड़ा थाय नहीं! यह वड़ा (पकौड़ी बनाने) का सामान चाहिए–आटा, घी–तेल या ऐसी कोई चीज़ (चाहिए)– यूँ ही बातों से वड़ा नहीं बनता। यह तो भाषा से कुछ नहीं मिलता।

अन्तर में भगवान आत्मा में उतरकर उसमें क्रीड़ा कर, वहाँ रमण कर। वहाँ तुझे आनन्द होगा और तेरे दुःखों का अन्त आ जायेगा। आ...हा...हा...! यह 26 (वाँ पूरा हुआ)। 27 वाँ बोल तुम्हें पढ़ लेना है।

**भविष्य का चित्रण कैसा करना है, वह तेरे हाथ की बात है। इसलिए कहा है कि–'बंध समय जीव चेतो रे, उदय समय क्या चिंत!' ॥28॥**

28 वाँ बोल। क्या कहते हैं अब? **भविष्य का चित्रण कैसा करना है, वह तेरे हाथ की बात है।** आज के बाद भविष्य का चित्रण करना–नरक का, तिर्यंच का, मनुष्य का, देव का या सिद्ध का–इन पाँच प्रकार का चित्रण करना, यह वर्तमान तेरे हाथ में है (ऐसा कहते हैं)। पूर्व के जो कर्म हैं, वे तो समाप्त हो गये। अब कहते हैं कि नये कर्म बाँधना हो तो शुभाशुभभाव (कर) और यदि मोक्ष चाहिए हो तो सिद्ध भाव (प्रगट कर)। यहाँ भविष्य के चित्रण में तो पाँचों गति आ जाती हैं।

वर्तमान में नरक के परिणाम करेगा तो नरक मिलेगा, तिर्यंच के भाव करेगा तो पशु होगा, मनुष्य के भाव करेगा तो मनुष्य होगा, देव के भाव करेगा तो देव होगा, सिद्ध के भाव करेगा तो सिद्ध होगा। इन पाँचों गति का चित्रण करना तेरे हाथ में है। तू जैसा चित्रण करेगा, वैसा होगा। आ...हा...हा...! कहो, झवेरचन्दभाई!

**वह तेरे हाथ की बात है। इसलिए कहा है कि–'बंध समय जीव चेतो रे, उदय समय क्या चिंत!'** 'सलुणा...! बंध समय जीव चेतो रे।' बंध के समय ही चेत जा। पुण्य-पाप के भाव का बन्ध हो, उस समय ही चेत जा। 'बंध समय जीव चेतो रे'– यह एक स्तुति है–देवचन्दजी का स्तवन है। देवचन्दजी (नाम से) एक (साधु) श्वेताम्बर में हो गये। यह स्तवन इनकी कृति है। 'बंध समय जीव चेतो रे, उदय समय क्या चिंत! सलुणा!' यह उदय

आवे, तब तू क्या करेगा? वह उदय तो आयेगा ही और इसका फल तुझे भुगतना ही पड़ेगा। उस समय चिन्ता करेगा तो कुछ काम नहीं आयेगा।

**उदय समय क्या चिंत!** (अर्थात्) कर्म के उदय में तू चिन्तवना करे कि अरे...! यह टल जाये (तो अच्छा)! मुझे न मिले, वह काम नहीं आयेगा। उस समय तेरी चिन्ता काम नहीं कर सकेगी। आहा...हा...हा...! यह 28 (पूरा हुआ)।

**ज्ञान को धीर–गम्भीर करके सूक्ष्मता से भीतर देख तो आत्मा पकड़ में आ सकता है। एक बार विकल्प का जाल तोड़कर भीतर से अलग हो जा, फिर जाल चिपकेगा नहीं॥29॥**

29 (बोल)। **ज्ञान को धीर–गम्भीर करके...** आहा...हा...! यह ज्ञान जो है– जानने की दशा है, उसे धीर करके (अर्थात्) यह ज्ञान की दशा जो पुण्य–पाप की ओर झुककर ढल गयी है, वे संसार (में) भटकने के लक्षण हैं। आहा...हा...! ज्ञान को धीर-गम्भीर करके (अर्थात्) अन्तर जानपने में सूक्ष्मता लाकर, अन्तर में ढल सके, ऐसी भावना करके... आहा...! **भीतर देख...** अरे...! अरे...! ऐसी भाषा है!!

ज्ञान को–जानपने को धीर (करके), जो पर की ओर झुक रहा है, उसे और धीर करके जिसकी वह पर्याय है, उसे तू देख। उस पर्याय के पीछे पाताल–चैतन्य पाताल भगवान बिराजमान है। आहा...हा...! यहाँ तो कुछ पाँच–पचीस लाख जहाँ मिले, वहाँ तो प्रसन्न–प्रसन्न हो जाता है। (कहेगा) 'लापसी का अदहन करो आज।' 25 लाख की आमदनी हुई है। 25 लाख (मिले हैं)। जेठालालभाई! पिछले साल तो एक करोड़ की आमदनी हुई है! करो लापसी का अदहन! लापसी चढ़ाईये (बनाने का प्रबंध करो)!! सब ज़हर सुलगा है वहाँ!! आहा...!

यहाँ कहते हैं कि उसके अन्दर जा। **आत्मा पकड़ में आ सकता है।** आ...हा...हा...हा...! ज्ञान को धीर व सूक्ष्म करके, बाहर में भटक रहे ज्ञान को, ज्ञान की

वर्तमान दशा, बाहर में भटक रहे ज्ञान को अन्दर में लाने के लिए धीर कर प्रभु! सूक्ष्म कर! धीर–गम्भीर हो!

**ज्ञान को धीर–गम्भीर करके सूक्ष्मता से भीतर देख...** 'सूक्ष्मता' से अन्दर देख! स्थूल (उपयोग में) अन्दर देखना नहीं होगा। स्थूल (उपयोग से) तो राग, द्वेष और ये अनादि से भटक रहा है, वह संसार दिखेगा। आहा...हा...! शब्द थोड़े हैं (परन्तु) भाव बहुत गहरे भरे हैं।

अनुभव में से–आनन्द के वेदन में से आयी हुई वाणी है। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हैं। ज्ञानी अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हैं। उस वेदन में से वाणी (का) जो विकल्प आता है, वह राग है। आ...हा...हा...! परन्तु उसमें यह आया है।

ज्ञान को धीर करके... आहा..हा...! सूक्ष्म करके भीतर देख.... **तो आत्मा पकड़ में आ सकता है।** अन्दर भगवान आत्मा पकड़ में (आये ऐसा है) अर्थात् अनुभव हो सके, ऐसा है। आहा...हा...! **एक बार विकल्प का जाल तोड़कर...** राग और पुण्य–पाप के ज़हर की जो जाल (है), उसे एक बार तोड़कर (अर्थात्) इसकी महिमा और कीमत तोड़कर, अन्दर में चैतन्य की महिमा में जा! तुझे अन्दर भगवान मिलेगा!! आहा...हा...! ऐसी बात है। **वचनामृत, मक्खन है!**

**भीतर देख तो आत्मा पकड़ में आ सकता है।** आहा...! जिस स्थिति में–सूक्ष्म उपयोग (से) पकड़ में आये, वैसे भीतर में देख तो पकड़ में आ सकता है। पुण्य और पाप के विकल्प से वह पकड़ में नहीं आ सकेगा। आ...हा...हा...हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के परिणाम से यह पकड़ में आये, वैसा प्रभु नहीं है। 'सँड़सा से सर्प पकड़ा जाता है।' छोटे–छोटे मोती पकड़ने में सँड़सा काम नहीं आता। मोती पकड़ने (के लिये) सुनार की पतली सँड़सी (सवाणी) होती है या हाथ होता है। बहिनें–बेटियाँ ये तोरण बनाते हैं न? तोरण... तोरण...! सर्प पकड़ने का सँड़सा से मोती पकड़ने में आता है? सुनार की बारीक सँड़सी (सवाणी) होती है या हाथ हो, (उससे) धीरे से लगाते हैं। मोती के बनाते हैं न? क्या कहते हैं उसे? तोरण... तोरण...! तुम्हारे नाम भी भूल जाते हैं। तोरण बनाते हैं, तब उसमें धीरे से मोती लगाते हैं। वह हाथ से पकड़कर लगाते हैं, लकड़े से पकड़कर नहीं।

वैसे भगवान को पकड़ना हो तो पुण्य–पाप (के भाव) से पकड़ में नहीं आयेगा। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

यहाँ तो संसार का अभाव (करने) की बातें हैं, प्रभु! जिससे जन्म-मरण न मिटे, उस बात में कोई दम नहीं है। वह तो मरकर नरक और निगोद (में जायेगा)। करोड़पति–अरबोंपति मरकर पशु होंगे। हाथी, घोड़ा और सूअर होगा, और सूअर वहाँ विष्टा खाते हुए मरकर फिर नरक में जायेगा!! सूअर बहुत विष्टा खाता है। आहा...! ऐसे भव तूने अनन्त बार किये, प्रभु! (अब) एक बार अन्दर में देख! आत्मा पकड़ में आये वैसा है।

**एक बार विकल्प का जाल तोड़कर भीतर से अलग हो जा,...** आ...हा...हा...! ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म में सूक्ष्म अन्दर राग का विकल्प–जो भाव है, उसे भी छोड़कर, उस विकल्प के पीछे भगवान चिदानन्द बिराजमान है। अन्दर में पाताल में, इसके तल में प्रभु बिराजमान है। ऊपर–ऊपर राग दिखता है, अन्दर में भगवान है, वहाँ जा! वहाँ जा, उनकी सँभाल कर और विकल्प का जाल तोड़, अन्दर से अलग हो जा। **फिर जाल चिपकेगा नहीं।** आ...हा...हा...हा...!

मकड़ी होती है न मकड़ी? उसको आठ पैर होते हैं और उन आठ पैरों से उसे ऐसी लार निकलती है कि उस लार में वह फँस जाती है। करोळिओ...! (हिन्दी में) क्या कहते हैं? मकड़ी। ये दो पैरवाले मनुष्य को मनुष्य कहते हैं; परन्तु स्त्री से शादी करके चार पैरवाला हुआ तो पशु हुआ! कहो, जेठालालभाई! चार हुए न? चार पैर। और इसमें लड़का हुआ तो छह पैर हुए, भँवरे को छह पैर होते हैं। फिर भँवरे की तरह भूँ–भूँ करता रहता है–यह मेरा बेटा है और यह मेरा वह है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा व्यवसाय है और यह मेरी नौकरी चलती है और यह मेरी (मुझे) पचास हज़ार की नौकरी मिल रही है और सालभर की आमदनी एक लाख की है। (वैसे) भँवरे की तरह भूँ–भूँ करता रहता है। और फिर उस बेटे की शादी करे, तब आठ पैर होते हैं। मकड़ी को आठ पैर होते हैं। देखा है कभी? भँवरे को छह पैर होते हैं, मकड़ी को आठ होते हैं और आठ पैर (वाला) हुआ तो लार निकालकर उसमें ही उसमें बैठ जाता है! लार निकालकर उसी में फँस जाता है। 'मकड़ी' कहते हैं न तुम्हारे क्या कहते हैं (हिन्दी में)? 'मकड़ी'!

ऐसा यहाँ कहते हैं कि पर में इस प्रकार जा रहे हो, इसके बदले उसे छोड़कर अन्दर (आत्मा) में जा न! आहा...हा...! जहाँ सिद्धपद प्राप्त हो, ऐसी अन्दर दशा है। **एक बार विकल्प का जाल तोड़कर भीतर से अलग हो जा, फिर जाल चिपकेगा नहीं।** जो चना सिक गया, वह फिर से उगेगा नहीं। जो चना दाळिया हुआ... 'दाळिया' कहते हैं न? भूने हुए चने को 'दाळिया' कहते हैं न? क्या कहते हैं तुम्हारे? (दाळिया... दाळिया) वह भूना हुआ चना फिर उगेगा नहीं। वैसे एकबार अन्तर में आत्मज्ञान हुआ और राग को जला दिया, वह अब फिर से उगेगा नहीं। (अर्थात्) उसको अवतार हो सकता नहीं। एक–दो अवतार हो तो भी उसे ज्ञेयरूप जानते हैं और अपने आनन्द में रहकर उसे ज्ञेयरूप जानकर छोड़ देते हैं। आ...हा...हा...! वह जाल फिर चिपकेगा नहीं। आहा...हा...! वे भूने हुए चने फिर से नहीं उगेंगे। वैसे एक बार अज्ञान को जला दिया और यदि आत्मज्ञान किया, वह (अज्ञान) फिर से उगेगा नहीं। उसे भवभ्रमण नहीं होगा, उसका चौरासी में भटकना नहीं होगा। (यदि अज्ञान को नहीं जलाया) तो मरकर चौरासी में भटकने जायेगा। आहा...हा...हा...!

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती! 96 करोड़ सैनिक, 72 हजार नगर, 48 हज़ार पाटन, 96 करोड़ गाँव, 96 करोड़ सैनिक के बीच मौज़ कर रहे, हीरा का...! क्या कहते हैं तुम्हारे? पलंग। पलंग, भूल जाते हैं! ये हीरे के पलंग! उसमें सोता था। उसमें उसे इतनी ममता थी कि यह मेरा... यह मेरा... यह मेरा... रानी को याद करके, रानी को...! एक रानी थी, जिसकी (एक) हज़ार देव सेवा करते थे, ऐसी 64 हज़ार (रानियाँ) होती (हैं) परन्तु एक रानी ऐसी होती (है)। उस रानी को याद करते–करते देह छूटकर सातवीं नरक में चला गया!! अभी सातवीं नरक में है। 33 सागर की (आयुष्य की) स्थिति में है। अभी तो 85 हज़ार साल बीते। इससे असंख्य अरब वर्ष अभी तो वहाँ रहना होगा। आहा...हा...! ऐसे अवतार अनन्त बार किये हैं। प्रभु! तूने भी अनन्त बार ऐसा किया है।

(अब) एक बार (अन्दर आत्मा को) देख और (विकल्प के) जाल को तोड़ तो वह जाल चिपकेगा नहीं। फिर जाल चिपकेगा नहीं। भूने हुए चने उगेंगे नहीं। आहा...! यह 29 वाँ (पूरा) हुआ।

**जब बीज बोते हैं तब प्रगटरूप से कुछ नहीं दिखता, तथापि विश्वास है कि 'इस बीज में से वृक्ष उगेगा, उसमें से डालें–पत्ते–फलादि आयेंगे', पश्चात् उसका विचार नहीं आता; उसी प्रकार मूल शक्तिरूप द्रव्य को यथार्थ विश्वासपूर्वक ग्रहण करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है; द्रव्य में प्रगटरूप से कुछ दिखायी नहीं देता, इसलिए विश्वास बिना 'क्या प्रगट होगा' ऐसा लगता है, परन्तु द्रव्यस्वभाव का विश्वास करने से निर्मलता प्रगट होने लगती है॥30॥**

३० (वाँ बोल)। **जब बीज बोते हैं, तब प्रगटरूप से कुछ नहीं दिखता,...** क्या कहते हैं? बीज... बीज बोये, तब प्रगटरूप से अभी कुछ नहीं दिखता। **तथापि विश्वास है कि 'इस बीज में से वृक्ष उगेगा',...** बीज बोया उसमें से वृक्ष होगा। **उसमें से डालें–पत्ते–फलादि आयेंगे;...**–उसमें से इसके फल भी आयेंगे। गेहूँ का दाना बोया होगा तो गेहूँ का फल भी आयेगा। एक गेहूँ से अनेक गेहूँ होंगे। एक दाना बोया इसके बहुत होंगे – ऐसा इसे उसका विश्वास है। आहा...! एक बाजरे का दाना बोया (तो इसे) विश्वास है कि इसमें से भुट्टा लगेगा, उसमें सैकड़ों बाजरे के दाने पकेंगे। ऐसा इसे उसमें विश्वास है। आ...हा...हा...! इस बीज में से वृक्ष फलेगा, उसमें से फलादि आयेंगे। **पश्चात् उसको विचार नहीं आता,...** आहा...हा...! फिर उसे विश्वास आ गया और फल आने के बाद ये विचार नहीं आते।

**उसी प्रकार मूल शक्तिरूप द्रव्य को यथार्थ विश्वासपूर्वक....** आहा...हा...हा...! बीज की तरह, द्रव्यस्वरूप भगवान को एक बार पकड़ने से, उसका विश्वास आने पर कि इसमें से मुझे सिद्धपद मिलेगा, इसमें से मुझे केवलज्ञान होगा, इसमें से अब मुझे अनन्त आनन्द (मिलेगा), ऐसा समकितरूपी बीज यदि बोया... आहा...हा...! उस बीज में इतनी ताकत है कि जैसे एक बीज में से हज़ारों दाने पकते हैं, वैसे इस समकितरूपी बीज में से केवलज्ञान की फसल होगी। आहा...हा...! भाईचन्दभाई! ऐसी बातें हैं ये! किस प्रकार का उपदेश है यह? यह करो और यह करो और यह करो और यह करो–ऐसा उपदेश तो (अन्यत्र) चलता ही है। (और) अनादि से वैसा करता ही रहा है। परन्तु कुछ करना नहीं

है; अन्दर में जम जाना है–इस चीज़ को उसमें सुना भी नहीं। रुचिपूर्वक सुना नहीं।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि, **मूल शक्तिरूप द्रव्य को यथार्थ विश्वासपूर्वक ग्रहण करने से...** (अर्थात्) भगवान आत्मा को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान द्वारा पकड़ने से– अनुभव करने से, **विश्वासपूर्वक ग्रहण करने से...** ऐसा कहा है न? अकेले द्रव्य को नहीं परन्तु द्रव्य का विश्वास करके। सम्यग्दर्शन, ज्ञान का विकास करके। आहा...हा...! है? **द्रव्य को यथार्थ विश्वासपूर्वक ग्रहण करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है;...** बीज बोने से जैसे फल होता है, वैसे भगवान पूर्णानन्द के नाथ को बीजरूप पकड़ने से; जैसे बाहर में चन्द्र में दूज (उगे) तो पूर्णिमा हुए बिना रहती नहीं, वैसे चैतन्यमूर्ति भगवान (आत्मा) राग से रहित (है), (ऐसा) एक बार अन्दर बीज बोया तो उस बीज में से केवलज्ञान हुए बिना रहता नहीं। ऐसा (किये) बिना अन्य कोई रास्ता अपनायेगा तो वह तो चारगति में भटकने का रास्ता है। आहा...हा...!

नरक, निगोद और एकेन्द्रिय... आहा...हा...! मूली...! मूली समझें? यह कांदा। उसमें पड़ा था, (तब) मुफ्त में बिका है। पहले चार पैसे का सेर (मिलता) था। अभी तो मँहगा हो गया है। चार पैसे की सेर लौकी है! एक या दो सेर लौकी ली हो, लड़का (साथ में) हो (और) लड़का कहे, बापू! मुझे मूली दिला दो!' तो (सब्जीवाला) एक मूली मुफ्त में दे देता है। मूली...! उस (मूली में) यह मुफ्त में बैठा था! (इस प्रकार) मुफ्त में बिका है। आहा...हा...! जिसकी कीमत भी नहीं दी लोगों ने। बैगन या लौकी के सेर के चार पैसे दिये हो। अभी तो यहाँ महँगा है और आपके यहाँ (नैरोबी) में तो काफ़ी महँगा है। यहाँ की बात सुनी है कि यहाँ तो बहुत महँगा (है)! ओ...हो...हो...हो...! वहाँ सेब छह पैसा– छह आना का मिलता है, यहाँ कहते हैं कि सेब पाँच से छह रुपया का मिलता (है)! हैं। 'सफ़रजन'... एपल... एपल... सेब। वहाँ हमारे सेब छह आने–आठ आने में इतना बड़ा मिलता है। यहाँ इतना सेब लेने जाए तो पाँच रुपये–छह रुपये चाहिए उसके। इतनी तो कीमत बढ़ गयी। आहा...हा...! ये सब बाहर की कीमत बढ़ा ली है। जैसे इस देश में इसकी कीमत बढ़ी है, वैसी काठियावाड़ में (इसकी) कीमत बढ़ी नहीं। इस तरह आत्मा ने अपनी कीमत छोड़कर पर की कीमत बढ़ा ली है। शरीर की, वाणी की, पैसा की, पुण्य की, पाप की–यह कीमत बढ़ाकर आत्मा की कीमत छोड़ दी है। आ...हा...हा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं, **मूल शक्तिरूप द्रव्य को यथार्थ विश्वासपूर्वक ग्रहण करने से...** विश्वासपूर्वक अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक। अकेला पकड़ नहीं सकता – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

यह तो बहिन–बेटियों के बीच बोलने में आ गया, वह यह लिखकर बाहर आया है। अनुभव की वाणी है।

(हम) जब छोटी उम्र के थे, करीब 10-12 साल की उम्र (होगी)। तब हमारे पड़ोसी एक ब्राह्मण थे। वे ब्राह्मण जब नहाते... बाद में धोती पहनते हैं न, क्या कहते हैं उसे? 'अबोटियुं'! तब अबोटियुं पहनते-पहनते बोलते थे–'अनुभवीने एटलुं आनंदमां रहेवुं रे... भजवा परिब्रह्मने बीजुं कांई न कहेवुं रे...' आठ वर्ष की–दस वर्ष की उम्र में यह सुना था! मुझे लगा, यह क्या बोलते हैं मामा? क्योंकि हमारे माता भुंबली (गाँव के) थे, इसलिए हम ब्राह्मण को 'मामा' कहते थे। (मैंने कहा) 'मामा! आप ये क्या बोलते हो?' 'अनुभवीने एटलुं...' तो कहा 'मुझे कुछ ज्यादा पता नहीं–अनुभवी अर्थात्...? मैं तो भाषा बोलता हूँ।' 'अनुभवीने एटलुं रे आनन्दमां रहेवुं रे।' यह भगवान आत्मा आनन्द (स्वरूप) है, इसका ज्ञान करके आनन्द में रहना। आहा...हा...! 'भजवा परिब्रह्म...' परि अर्थात् सर्वथा प्रकार से महा आनन्द का नाथ, सागर आत्मा! 'भजवा परिब्रह्मने बीजुं कांई न कहेवुं...' यह वाणी ब्राह्मण में है। ब्राह्मण नहाते समय ऐसा बोलते हैं। सब सुना है... बहुत सुना है! छोटी उम्र से–आठ-नौ वर्ष की उम्र से...! अभी तो नब्बे और इक्यानवे हुए! आ...हा...हा...! धूल में भी कुछ नहीं इसमें बाहर में। अन्दर में बिराजमान है। 'अनुभवीने एटलुं आनंदमां रहेवुं रे...' ऐसा कहते हैं तब, लो! उसको कुछ पता नहीं था! भाषा ऐसी आती थी।

वैसे यहाँ कहते हैं कि अनुभवी को (अर्थात्) विश्वासपूर्वक–आत्मा का विश्वास करके–सम्यग्दर्शन प्रगट करके, मिथ्यात्व को टालकर, राग को जलाकर, **विश्वासपूर्वक ग्रहण करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है;...** उसे आनन्द की निर्मल दशा प्रगट होती है। आहा...हा...हा...!

यह आतमराम है। रामजीभाई! यह आतमराम की बात है। आहा...हा...! 'निजपद

रमे सो राम कहिये...' जो आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा है, उसमें रमे, उसे (राम कहिये)। निजपद (में) रमे, उसे आत्मा कहिये। राग में रमे उसे 'हरामी' कहिये!! आ...हा...हा...! कठिन बातें, बापू! कहते हैं कि पुण्य और पाप के भाव में रमे, वह हरामी है, क्योंकि वे अनात्मा हैं—वे पुण्य-पाप के भाव, आत्मा नहीं है। आत्मा तो पुण्य—पाप से रहित अन्दर चैतन्यमूर्ति आनन्द है। उसको ग्रहण करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। आ...हा...हा...!

जैसे बीज बोने से फल आते हैं; वैसे आत्मा का स्वभाव अनन्त गुण से भरा भण्डार (है), इसका एक बार भी अनुभव करने से उसको अनन्त फल पकते हैं और सिद्ध की पर्याय प्रगट होती है।

**द्रव्य में प्रगटरूप से कुछ दिखायी नहीं देता...** बीज बोते समय फल, फूल कुछ नहीं दिखता। क्या कहा? बीज बोते समय फल, फूल नहीं दिखते। वैसे पहले अन्दर आत्मा की ओर देखने से पहले कुछ नहीं दिखता। परन्तु बाद में उस बीज का विश्वास करे कि 'यह बीज है, इसलिए फलेगा ही।' आहा...! वैसे **द्रव्य में प्रगटरूप से कुछ दिखायी नहीं देता; इसलिए विश्वास बिना 'क्या प्रगट होगा' ऐसा लगता है....** उसको विश्वास तो आता नहीं। अनादि से बाहर में विश्वास करके भटक रहा है। आहा...हा...!

**इसलिए विश्वास बिना 'क्या प्रगट होगा' ऐसा लगता है,...** उसको पहले ऐसा लगता है। यह बीज बोता हूँ, वह अभी तो दिखता नहीं, परन्तु फल आये बिना रहेगा नहीं। वैसे एक बार आत्मा को प्रगट करने से, भले ही अस्तित्वरूप से पहले भासित हो, बाद में इसका विश्वास आये, इसके पहले विश्वास नहीं आता। परन्तु विश्वास आता है कि निश्चितरूप से इसमें से प्रगट होगा।

**परन्तु द्रव्यस्वभाव का विश्वास करने से निर्मलता प्रगट होने लगती है।** वस्तु का विश्वास करने से (निर्मलता प्रगट होती है)। भाई! सूक्ष्म बात है, बापू! आहा...हा...! यह बाहर की होली जल रही है, इसमें यह बात जँचना...! आहा...हा...! एक बार नहीं कहा था? गोवा में एक शान्तिलाल खुशाल थे। 'पाणसणा' के दशाश्रीमाली बनिये थे, उसके पास दो अरब चालीस करोड़ रुपये थे। दो अरब और चालीस करोड़। अभी उसके लड़के गोवा में हैं। वे भाई मरने पर..., उनकी पत्नी को हेमरेज हुआ था, इसलिए 'मुम्बई'

दवा कराने आये परन्तु यह तो उनकी पत्नी तो हेमरेज में ही बेहोश थी। उसमें दो-चार दिन वह रात्रि को उठा डेढ़ बजे। गोवा में जिसके साठ लाख के तो मकान है। चालीस लाख का एक बंगला और दस-दस लाख के दो, ऐसे तीन और लाख-लाख का एक छोटा जहाज, ऐसे तीन सौ-तीन सौ। उसका मेंगनीज का धन्धा था। (उसका) लोहे का धन्धा था। मेंगेनीज जो शब्द होता है वह। एक गाँव से दूसरे गाँव ले जाने के लिये तीन सौ जहाज थे। एक जहाज एक लाख का, ऐसे तीन सौ। मरते समय, ....अरे! मुझे दुःख होता है, मुझे अन्दर कहीं चैन नहीं पड़ता, बस ऐसा कहते हुए देह छूट गयी। गया भटकने चार गति में। तेरे धूल के दो अरब और चालीस करोड़ रुपये, ढाई अरब रुपये धूल में हैं। यह बड़ी मूल्यवान चीज़ तो यहाँ पड़ी है!! इसका तो तुझे विश्वास नहीं है कि यदि मैं आत्मा की प्रतीति कर लूँ तो केवलज्ञान हुए बिना रहेगा ही नहीं, यदि (मैं) आत्मा का अनुभव कर लूँ और आत्मा के बराबर विश्वास से पकड़ लूँ तो सिद्धपद (प्रगट) हुए बिना रहेगा नहीं, ऐसा विश्वास नहीं करता। (बाहर की चीज़ का) विश्वास करता है। आहा...!

(इसलिए कहते हैं कि) **द्रव्यस्वभाव का विश्वास करने से निर्मलता प्रगट होने लगती है।** बीज बोने से, बीज की श्रद्धा करने से फल अवश्य फलेगा ही—ऐसा विश्वास है। वैसे यह चैतन्य भगवान, पुण्य और पाप के राग से भिन्न (है)—इसकी श्रद्धा करने से, विश्वास करने से, इसमें से केवलज्ञान और परमात्म(पद) होगा ही, ऐसा उसे विश्वास हुए बिना नहीं रहता। लेकिन पकड़े तो विश्वास होवे न? पकड़े बिना विश्वास किसका करना? जो वस्तु दिखी नहीं, जो वस्तु ज्ञान में जानने में आयी नहीं, इसका विश्वास किस प्रकार आये?

यह तो अन्दर ज्ञान में ज्ञात हो, ज्ञान की पर्याय सूक्ष्म करने पर, उस ज्ञान में—'यह चीज़ आनन्दमयी और शुद्ध है' ऐसा ज्ञात हो। विश्वास तो उसको आता है, और उसका विश्वास, वह समकितदर्शन कहा जाता है और इस समकितदर्शन में से केवलज्ञान प्रगट हुए बिना रहता नहीं। आ...हा...हा...! दुकान में व्यापार के फल में इसे विश्वास (है) कि, हम दस लाख का कपड़ा रखते हैं तो इसमें प्रतिवर्ष दो लाख की आमदनी तो होगी ही। उसका इसे विश्वास (है)!! जेठालालभाई!

**मुमुक्षु**—आपकी वाणी से हमें ऐसा लगता है कि यह सब छोड़ दे किन्तु छोड़ा नहीं

जाता, इसका क्या करना? हमको ऐसा लगता है कि हमारे पूर्व भव के कर्म भी बहुत होंगे इसलिए ये पकड़ नहीं सकते।

**पूज्य गुरुदेवश्री**—यह कुछ नहीं, यह छोड़ देना। इसका फल छोड़ देना। पूर्व कर्म का लक्ष्य छोड़ देना! अभी 'मैं महान आत्मा हूँ।' इसका लक्ष्य करना, बस! पूर्व के कर्म थे, यह (बात) मेरे पास है नहीं। 'मैं तो एक आत्मा हूँ। आत्मा को कर्म का स्पर्श है नहीं। आत्मा कर्मों का स्पर्श नहीं करता।' आ...हा...हा...!

'समयसार' की तीसरी गाथा में प्रभु ने ऐसा कहा है, 'समयसार!' सबेरे अपन वाँचते है न? उसमें ऐसी बात है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चुंबता नहीं। आत्मा, परमाणु का स्पर्श नहीं करता। कर्म को आत्मा छूता नहीं। कर्म, जीव का स्पर्श नहीं करते। प्रत्येक द्रव्य अपने जो गुण और पर्याय हैं, उन्हें ही वह स्पर्श करता है, उन्हें ही वह चुंबता है। 'समयसार' है न? (उसमें) तीसरी गाथा में है, तीसरी गाथा...! प्रत्येक तत्त्व अपने गुण और पर्याय को स्पर्शता है। पर को (कभी) छूया ही नहीं और छूता भी नहीं। (मात्र) मान्यता कर रखी है कि मैं इसका स्पर्श करता हूँ और (मैं) इसको ऐसा करता हूँ। आहा...हा...!

**मुमुक्षु**—यह तो निश्चय की बात है, व्यवहार से छूता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री**—व्यवहार से छूता है—बिल्कुल नहीं, झूठी बात है। व्यवहार से स्पर्शता है—ऐसा कहते हैं, वह कथन ही झूठा है। कठिन बात है भगवान! एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को छूता नहीं। वह छूता है, ऐसी अज्ञानी की कल्पना व्यर्थ (की) है। क्योंकि एक तत्त्व है, वह दूसरे तत्त्व के अभावस्वरूप है। यह अँगुली है, वह इस अँगुली के अभावस्वरूप है। इसका उसमें अभाव है। उसका इसमें अभाव है। जब अभाव है तो यह, इसको स्पर्श करे—ऐसा बन नहीं सकता। यदि दूसरे का स्पर्श करे, तो इसका इसमें भाव हो जाए। इसका इसमें अभाव है। वैसे एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अभाव है। इसीलिए एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को तीन काल में छूता नहीं। आहा...हा...! 'समयसार' की तीसरी गाथा है। परमात्मा की वाणी है।

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ने दिव्यध्वनि में यह फरमाया है कि प्रभु! हमने ज्ञान में देखा है, आहा...हा...! 'प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल,...' 'प्रभु तुम

जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल, निज सत्ताए शुद्ध अमने पेखता हो लाल' प्रभु! आप तीन काल तीन लोक को देखते हो, उसमें हमारी इस सत्ता को आप शुद्ध देखते हो! यह आत्मा शुद्ध–पवित्र है, ऐसा आप देखते हो!! अन्दर पुण्य–पाप है, वह आत्मा है, ऐसा आप देखते ही नहीं। आ...हा...हा...! 'प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल,...' सीमन्धरस्वामी परमात्मा भगवान बिराजते हैं। महाविदेह में वर्तमान बिराजते हैं। 500 धनुष की काया है। करोड़ पूर्व की आयु है। आहा...हा...! समझ में आया? वे प्रभु ऐसा कहते थे। आहा...हा...! यह वाणी 'भर्तु' की है। प्रभु तुम जाणग रीति–प्रभु! तेरे ज्ञान की रीत में हमारे आत्मा को,... आप, हमारी सत्ता तो शुद्ध है, पवित्र है, सिद्ध समान है, ऐसे देखते हो, आहा...हा...! रागादि को पुण्य–पाप में डाल देते हो। वह आत्मा है–ऐसा आप नहीं कहते (और) नहीं देखते। हमारे आत्मा को आप ऐसा देखते हो। आ...हा...हा...! अतः भगवान जैसे देखते हैं, वैसे यदि (अपने) आत्मा (को) देखे तो सम्यग्दर्शन हो जाये। आ...हा...हा...! यहाँ तो ऐसी बातें हैं, बापू! आहा...!

'आनन्दघनजी' कहते हैं–कृष्ण किसको कहे? 'कर्म कृशे वह कृष्ण' (अर्थात्) कर्म को, राग–द्वेष को कृश कर दे अर्थात् कि खेल करके नष्ट कर दे, उसे कृष्ण कहते हैं। राम किसको कहना? 'निजपद रमे सो राम कहिये' (अर्थात्) अपने आनन्द में रमे, उसे राम कहते हैं; बाकी राग और पुण्य में रमे, उसे हराम कहते हैं। आहा...हा...!

यहाँ तो बाहर में फूला-फला दिखता हो! बड़े मकान पाँच-पाँच करोड़ के और दस-दस करोड़ के! देखा है न हमने तो सब! क्या कहलाता है वह? मैसूर। मैसूर में साढ़े तीन करोड़ का एक मकान है। साढ़े तीन करोड़ का...! एक राजा का था, (वह) सरकार ने ले लिया, इसलिए खाली पड़ा था, तो देखने गये थे। साढ़े तीन करोड़ का एक मकान! राजा था परन्तु सरकार ने खाली करवा (दिया)। तेरा अधिकार अब नहीं, अब छोड़ दे! रैयत को दे दें! (फिर) छोड़ दिया। साढ़े तीन करोड़ का...! (राजा को ऐसा लगा कि) हाय...! हाय...! मेरी बनायी हुई चीज़ ऐसे चली गयी! वह बेचारा रोता था...! वैसे अनादिकाल से परवस्तु मेरी है–ऐसा माना है, इसलिए वह जहाँ थोड़ी ढीली पड़े या कुछ फेरफार हो वहाँ रोने रोने लगता है... रोने...! आ...हा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **द्रव्य में प्रगटरूप से कुछ दिखायी नहीं देता, इसलिए विश्वास बिना 'क्या प्रगट होगा'...** विश्वास आना चाहिए। अनन्त परमात्मा हो गये हैं। अनन्त आत्माओं में से अनन्तवें भाग में अनन्त परमात्मा हो गये हैं। तू भी परमात्मा होने के योग्य है न प्रभु! इतना विश्वास तो कर! और विश्वास लाकर राग का और पुण्य-पाप का विश्वास छोड़ दे कि, वह कोई चीज़ मेरी नहीं और मेरे में नहीं।

(विशेष कहेंगे...) (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**सम्यग्दृष्टि को ज्ञान–वैराग्य की ऐसी शक्ति प्रगट हुई है कि गृहस्थाश्रम में होने पर भी, सभी कार्यों में स्थित होने पर भी, लेप नहीं लगता, निर्लेप रहते हैं; ज्ञानधारा एवं उदयधारा दोनों भिन्न परिणमती हैं; अल्प अस्थिरता है, वह अपने पुरुषार्थ की कमज़ोरी से होती है, उसके भी ज्ञाता रहते हैं॥31॥**

## प्रवचन–4 वचनामृत–31 से 33

(वचनामृत का) 31 वाँ बोल। 30 (बोल) चले हैं। **सम्यग्दृष्टि को ज्ञान–वैराग्य की ऐसी शक्ति प्रगट हुई है...** (ये) बहिन के अन्दर के (अन्तर के) वचन हैं। सम्यग्दृष्टि उसको कहते हैं कि जिसको आत्मा आनन्दस्वरूप, अखण्ड अभेदस्वरूप... सुबह कहा था न अनुभूति... आत्मा चिदानन्दस्वरूप है, उसका अनुभव हो, ऐसे अनुभवपूर्वक प्रतीति हो, वे शुरुआत में सम्यग्दृष्टि जीव कहलाते हैं। प्रथम-प्रारम्भ का सम्यग्दृष्टि जीव कहा जाता है। (धर्म की) शुरुआत वहीं से होती है।

पहले वह अखण्ड अभेद चीज़ है, उस पर दृष्टि पड़ने से पर्याय और राग गौण होने से शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, उसको सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहा...! उस सम्यग्दृष्टि को ज्ञान-वैराग्य की ऐसी शक्ति प्रगट होती है। (अर्थात्) आत्मा का ज्ञान और पुण्य-पाप के भाव से विरक्त-वैराग्य (प्रगट हुआ है)। वैराग्य की यह व्याख्या है।

'समयसार' के पुण्य-पाप अधिकार में यह अधिकार लिया है कि वैराग्य किसे

कहना? कि अन्तर में शुभ और अशुभराग होता है, उससे विरक्त हो (अर्थात्) रक्त है, वह विरक्त हो और स्वसन्मुख का ज्ञान हो, इसे यहाँ वैराग्य कहा जाता है। आहा...हा...! ऐसी व्याख्या है। सम्यग्दृष्टि को ज्ञान-वैराग्य की (ऐसी शक्ति प्रगट हुई है)।

यह तो जिसको जन्म-मरण का अन्त लाना हो, इसकी बात है। वरना अनन्त काल से जन्म-मरण किया करता है। अशुभभाव करे तो नरक, निगोद में जाता है। शुभभाव करे तो कोई स्वर्गादि या इस धूल का सेठ आदि बनता है। परन्तु वह पुनः चार गति में भटकता है। चौरासी के अवतार में नरक, निगोद और एकेन्द्रिय में जाता है। आहा...हा...! इससे (बचने के लिये) जिसको धर्म की गरज़ है, उसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए और यह सम्यग्दर्शन होने पर, ज्ञान और वैराग्य की ऐसी शक्ति प्रगट हुई हो। आहा...हा...!

आत्मा की ओर धुन लगी तथा राग की ओर का वैराग्य हुआ, उसको यहाँ ज्ञान और वैराग्य कहते हैं। समझ में आया? आहा...! भगवान आत्मा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु! इसका जिसे ज्ञान और दृष्टि हुई है, उसको ज्ञान कहते हैं। और पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ भाव से विरक्त होना, उसे वैराग्य कहते हैं। (सम्यग्दृष्टि को) ऐसी ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्रगट हुई है।

**गृहस्थाश्रम में होने पर भी,....** सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में होने पर भी, आहा...हा...! श्रेणिक राजा! भगवान के समय में हो गये हैं। जिसको हज़ारों राजा चँवर डुलाते थे, ऐसा बड़ा राजा था, श्रेणिक राजा...! हज़ारों रानियाँ थी। 32 हज़ार राजा चँवर डुलाते थे, इतना बड़ा राज्य! किन्तु मुनि के पास एकबार... एक मुनि थे, ध्यान में थे, तब सर्प को–मरे हुए सर्प को (श्रेणिक राजा ने) उनकी गर्दन में डाला। (राजा) बौद्धधर्मी था। गले में डाल दिया, इसमें लाखों चींटियाँ हुई। घर आकर पत्नी को कहा – 'चेलनारानी समकिती हैं। स्त्री है परन्तु आत्मज्ञानी हैं। उनको कहा कि, 'मैं तेरे गुरु के (गले में) साँप डालकर आया हूँ! जो कि उसने निकाल दिया होगा।' चेलना कहती है, 'अन्नदाता!' पति को कहती है 'मेरे गुरु ऐसे नहीं होते, जो उपसर्ग आये, उसे निकाल दें ऐसे नहीं होते। चलो! आपको देखना हो तो।' (राजा को) लेकर जहाँ (मुनि के पास) आते हैं, वहाँ मुनि ध्यान में, अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में अन्दर डूब गये हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में; यह सर्प है या नहीं,

उपसर्ग आया है या नहीं, करोड़ों चींटियाँ हो गयी हैं या नहीं?—इसकी भी जिन्हें खबर तक नहीं। ऐसे ध्यान में थे। चेलना आयी, श्रेणिक आये— दोनों आयें—पति-पत्नी। चेलना ने कहा कि 'देखो! स्वामी! यह मुनि ध्यानस्थ हैं। इस उपसर्ग का तो उन्हें पता भी नहीं!' (बाद में) मरे हुए सर्प को निकाला और फिर मुनि ध्यान में से बाहर आये। देखा कि ये राजा और रानी आये हैं। तब राजा ने कहा कि, 'साहब! ओहो...हो...! ऐसा आपका ध्यान!! कि सर्प डाला और करोड़ों चींटियाँ हो गयी, फिर भी आपका बाहर में लक्ष्य नहीं! आनन्द के धाम में (आप) मस्त हैं तो प्रभु! आपका मार्ग क्या है?'

ऐसा बौद्धधर्मी मिथ्यादृष्टि श्रेणिक राजा था। उसकी चेलनारानी समकिती थी। वे समकित प्राप्त कराने के लिये मुनि के पास ले गये। वे मुनि थे, ऐसा काम किया था, उसको फिर उपदेश देते हैं। उपदेश देते हैं, वहाँ वे समकित पाते हैं! आहा...हा...! ऐसा नहीं कि इसने इतना पाप किया, इसलिए नहीं हो सकता। आत्मा अन्दर तैयार है।

सुबह कहा था। महावीर भगवान का (पूर्व का) दसवाँ भव सिंह का (था)। वह सिंह ऐसे हिरन को खा रहा था। उस समय दो मुनि आकाश से उतरे और उन्होंने कहा, 'अरे...! सिंह! तू कौन है? तेरा आत्मा तो महावीर का आत्मा (है)। दसवें भव में तू तीर्थंकर होनेवाला है।' अब वह भाषा मुनि ने कैसी कही होगी, और सिंह ने कैसे समझ लिया होगा!! आ...हा...हा...! उस सिंह की कितनी पात्रता होगी कि (वे) मुनि ऊपर से उतरे और (उनकी) भाषा कौन सी होगी? वह सिंह समझ गया!! 'यह क्या किया तूने? तेरा आत्मा तीर्थंकर का आत्मा है। दसवें भव में तू महावीर होनेवाला है!' ऐसा जहाँ सुना वहाँ... पेट में हिरन के माँस के टुकड़े थे, फिर भी जहाँ (यह) सुना कि भीतर से पलटा खा गया। अन्दर में से एकदम पलटा खा गया!! चैतन्यमूर्ति आत्मा! अरे...! मुनिराज ने भी मुझे बहुत उपदेश किया। इतना पापी प्राणी भी क्षण में समकित पाया!! इसके लिये कोई काल की अवधि की जरूरत नहीं। एक अन्तर्मुहूर्त—क्षण में भी पर की दिशा तरफ की जो दशा है,... पर की दिशा तरफ की दशा अर्थात्? राग और द्वेष की दशा पर की दिशा तरफ है; और सम्यग्दर्शन की दशा स्व तरफ है। आ...हा...हा...! समझ में आया? दोनों की दशा की दिशा में अन्तर है। राग और द्वेष करनेवाले के लक्ष्य (की) दिशा बाहर की ओर है,

और सम्यग्दर्शन पाने के काल में उसकी दशा की दिशा द्रव्य पर जाती है। त्रिकाली चैतन्यमूर्ति पर उस क्षण में (लक्ष्य) गया और सिंह (की) आँखों से आँसू की धारा छूट रही थी। आ...हा...हा...! यह पाप...! ऐसे अन्दर में उतरकर उसी क्षण समकित पाया है। अतः समकित पाने के लिये अमुक प्रकार की शैली चाहिए या अमुक प्रकार की बहुत निवृत्ति चाहिए, ऐसा कुछ है नहीं। उसी क्षण ज्यों आत्मा की ओर अन्दर झुका, तो यहाँ कहते हैं कि (वहाँ वह) सम्यग्दृष्टि हुआ। आहा...हा...!

श्रेणिक राजा...! वहाँ समकित को प्राप्त हुआ और फिर भगवान महावीर परमात्मा के समवसरण में गया (और) वहाँ उसने तीर्थंकरगोत्र का बन्धन किया—शुभभाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधा। परन्तु उन्हें पहले नरक की आयु का बन्धन हो चुका था—मुनि पर सर्प डालकर सातवीं नरक की आयु का बन्धन हो चुका था। परन्तु जब आत्मज्ञान और धर्म अन्दर में एक क्षण में (प्रगट किये), आहा...हा...! (वहाँ) सातवीं नरक की स्थिति तोड़ डाली! सम्यग्दर्शन हुआ और चौरासी हज़ार वर्ष की स्थिति रह गयी।

लड्डू (बनाया) हो। उसमें जो घी, शक्कर, गुड़ और आटा डाला हो, उसमें से घी निकालकर दूसरा कुछ नहीं होता। वह तो घी गया सो गया। वह तो लड्डू खाना ही पड़े। वैसे नरक की आयु का बन्धन हो गया वह तो उसे भोगना ही पड़े। स्थिति घटाकर—33 सागर की थी, वह चौरासी हजार वर्ष की रखी। लेकिन उस लड्डू में से घी अलग करके वह पूड़ी तले या आटा अलग करके रोटी हो, ऐसा नहीं बन सकता। वैसे नरक-आयु का बन्धन नहीं बदलता, स्थिति बदल गयी। चौरासी हज़ार वर्ष की स्थिति रह गयी। अभी पहली नरक में है। समकिती हैं, नरक में गये हैं। अगली काल चौबीसी में तीर्थंकर होनेवाले हैं। वहाँ से निकलकर प्रथम तीर्थंकर होंनेवाले हैं। यह सारा प्रताप सम्यग्दर्शन का है। आ...हा...हा...हा...!

**मुमुक्षु :** स्थिति का क्रम टूट गया न?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** क्रमबद्ध ही हुआ है, टूटा कुछ नहीं। क्रमबद्ध में यह आया था। उनकी दृष्टि जहाँ द्रव्य पर गयी, तब क्रमबद्ध में उन्हें सम्यग्दर्शन हुआ। जहाँ अपने स्वरूप की दृष्टि में जाते हैं (वहाँ सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है)। भाई! परन्तु उस (स्वरूप का)

माहात्म्य कोई अलग चीज़ है। क्या हो? दुनिया ने सुना नहीं, दुनिया उस ओर के लक्ष्य के प्रेम में नहीं है। जगत के रस के रसिकजनों को आत्मा का रस क्या है? इसकी उसे खबर नहीं।

वह यहाँ आत्मा के रस में अन्दर उतरा, ऐसा श्रेणिक राजा, (उसने) तीर्थंकरगोत्र बाँधा। (अभी) नरक में गये हैं। परन्तु वहाँ से निकलकर प्रथम तीर्थंकर होनेवाले हैं। आहा...! यह सारा सम्यग्दर्शन का प्रताप है!! यह सम्यग्दर्शन–अभी चतुर्थ गुणस्थान (है)! श्रावक का पाँचवाँ और मुनि का छठ्ठा, यह तो कोई अलग प्रकार की बात है!! यह सम्प्रदाय के श्रावक कोई सच्चे श्रावक नहीं। वे सब हैं–सावज! राग को अपना माने वे सब सावज हैं। सावज अर्थात् सिंह। वह शिकार करता है विकारों का! विकार का शिकार करके विकार को खाते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! लक्ष्मीचन्दभाई!

यहाँ तो ऐसी बातें हैं, बापू! आहा...हा...! यह तो मूल की बातें हैं। जिसका जन्म-मरण रहे, एक अवतार भी होगा इसमें से फिर अनेक अवतार होंगे। यहाँ से मरकर कहाँ जायेगा? आत्मा अनन्त काल रहनेवाला है। इस देह का नाश होगा परन्तु आत्मा अनादि-अनन्त काल रहेगा। (तो) रहेगा कहाँ? यदि दृष्टि राग और पुण्य पर पड़ी होगी, पाप पर पड़ी होगी तो दृष्टि मिथ्यात्व में रहेगी और मिथ्यात्व में रहेगी तो अनन्त नरक और निगोद के भव करेगा। मिथ्यात्व है, वही संसार है। मिथ्यात्व ही अनन्त जन्त-मरण का गर्भ है। उस गर्भ में से अनन्त भवों धारण होते हैं। आ...हा...हा...! इस मिथ्यात्व के गर्भ का नाश करके जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसको ज्ञान-वैराग्य की शक्ति प्रगट हुई है, फिर (भले ही) वह गृहस्थाश्रम में हो।

श्रेणिकराजा गृहस्थाश्रम में थे। अरे...! भरत चक्रवर्ती...! समकिती थे, आत्मज्ञानी थे। उनके छोटे भाई बाहुबली भी समकिती थे, आत्मज्ञानी थे। फिर भी दोनों युद्ध में आ गये! राग है, आसक्ति है (परन्तु) अन्दर में भान है कि ये राग-द्वेष हैं, पाप है, मेरी कमज़ोरी है। यह मेरा स्वरूप नहीं। फिर भी दोनों लड़ाई में आ गये। बाहुबली को मारने भरत ने चक्र चलाया। परन्तु बाहुबलीजी चरमशरीरी थे, उसी भव में मोक्ष जानेवाले थे। तो उनका चक्र ने काम नहीं किया। चक्र वापिस मुड़ गया! बाहुबली पर छोड़ा था, वह चक्र वापिस भरत

के पास आ गया। क्योंकि चरमशरीरी जीव को चक्र लागू नहीं पड़ता। दोनों सगे भाई! सम्यग्दृष्टि...!! फिर भी युद्ध किया! तथापि अन्दर में सम्यग्दर्शन को नहीं भूले!! आ...हा...हा...! वह चीज़ क्या है, बापू! लोग बाहरी त्याग और बाह्य क्रियाकाण्ड में सर्वस्व मानते हैं परन्तु अन्दर की चीज़ कोई दूसरी है।

वह यहाँ कहते हैं कि **गृहस्थाश्रम में होने पर भी, सभी कार्यों में स्थित होने पर भी,...** (अर्थात्) सब कार्य होते हैं। व्यापार होता है, धन्धा होता है। अरे...! भरत को चक्रवर्ती का राज था! 96 हजार तो जिसको स्त्रियाँ थी (परन्तु) भीतर में निर्लेप हैं। आहा...! नारियल का गोला जैसे...! ऐसा नारियल (हो) उसका गोला पृथक् पड़े वैसे सम्यग्दृष्टि का आत्मा, राग व शरीर से गोले की तरह पृथक् पड़ जाता है। आ...हा...हा...! समझ में आया?

वह (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थाश्रम में हो, **सभी कार्यों में स्थित होने पर भी,...** संसार के सर्व कार्यों में खड़ा होने पर भी, **लेप नहीं लगता,...** आ..हा...हा...!

**मुमुक्षु :** गुरुदेव! लेकिन पाप के कार्य करे तो भी उन्हें (लेप) नहीं लगता?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नहीं, पाप का कार्य हो तो भी उन्हें कुछ नहीं लगता। उस राग को जानते हैं कि यह मेरा स्वरूप नहीं। ऐसा है, भाई! पाप के–लड़ाई के परिणाम हुए तो भी जानते हैं कि यह मेरी जाति नहीं, यह तो पाप है। इससे अन्दर में निर्लेप हैं!!

**मुमुक्षु :** फिर तो हम करें तो भी कोई हरज़ा नहीं न?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की बात है। केशवलालभाई! यह तो सम्यग्दृष्टि की बात (है), बापू! सम्यग्दृष्टि की बात (है)। मिथ्यादृष्टि राग को अपना माने, वे तो पाप में पड़े (हैं)। वे तो नरक और निगोद में जायेंगे! आ...हा...हा...! यह तो सम्यग्दृष्टि (की बात चलती है)। पहला शब्द यही लिया है न!

**मुमुक्षु :** मिथ्यादृष्टि को पाप छोड़ना, सम्यग्दृष्टि को पाप नहीं छोड़ना?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कमज़ोरी होने से आता है। छोड़ना–नहीं छोड़ना, (वह तो) छूटा हुआ ही पड़ा है। मेरा वह है ही नहीं, मैं इसका कर्ता नहीं। वास्तव में वह (सम्यग्दृष्टि)

उसका कर्ता नहीं!! आ...हा...हा...! 'करे करम सो हि करतारा, जो जाने सो जाननहारा, जाने सो करता नहीं होई, करता सो जाने नहीं कोई।' यह राग आता है तथापि सम्यग्दृष्टि उसका कर्ता नहीं होता। सूक्ष्म बात है, भगवान! आ...हा...हा...हा...! वह राग का कर्ता नहीं होता, उसका ज्ञाता रहता है। ज्ञानस्वरूप में वो जानता है कि मैं ज्ञान और यह राग भिन्न चीज़ है। ऐसा अन्दर में भेदज्ञान (वर्त रहा है)। दो (के बीच) दरार पड़ गयी है। राग और आत्मा के बीच दरार–सन्धि पड़ गयी है। राग और आत्मा के बीच सन्धि है, दरार है। सम्यग्दर्शन होने पर उस दरार में दोनों अलग हो जाते हैं, फट से...! आहा...हा...हा...! उन्हें यह राग होने पर भी उसका अल्प बन्धन है। वह कहेंगे, देखो!

**गृहस्थाश्रम में होने पर भी, सभी कार्यों में स्थित होने पर भी, लेप नहीं लगता, निर्लेप रहते हैं; ज्ञानधारा एवं उदयधारा दोनों भिन्न परिणमती हैं;...** ज्ञानधारा और राग – दोनों धारा एकसाथ आती हैं। धर्मी है, अभी वीतराग नहीं हुआ, आत्मज्ञान हुआ है तो ज्ञानधारा भी साथ में है और रागधारा भी साथ-साथ ही है। आ...हा...हा...! यह बात (कैसे) बैठे?

**ज्ञानधारा एवं उदयधारा दोनों भिन्न परिणमती हैं;...** (अर्थात्) दोनों भिन्न रहते हैं, (दोनों) एक नहीं होते, आहा...हा...! जहाँ अन्दर में चैतन्य गोला–(चैतन्य) प्रभु को भिन्न पिछाना, उसको फिर राग के परिणाम आने पर भी, कहते हैं कि वह भिन्न ही रहता है। सूक्ष्म बात है! आहा...हा...! 'सम्यग्दृष्टि जीवो करे कुटुंब प्रतिपाल, अन्तरंग से न्यारो रहे, जेम धाव खिलावे बाळ।' (अर्थात् कि) बालक को उसकी माता स्तनपान कराती है..., स्वयं (बालक की) माता न हो, वह मर गयी हो, तब धायमाता (स्तनपान कराये तो) भी वह ऐसा नहीं मानती कि यह मेरा लड़का है। दूध पिलाये, सब काम करे लेकिन लड़का किसी और का है, ऐसा मानती (है)। वैसे धर्मी (को) आत्मज्ञान होने पर, राग की धारा होती हैं। उदयधारा कहा न? ज्ञानधारा होती है और उदयधारा (होती है), दोनों होती हैं। आहा...हा...! वीतराग होने पर केवल एक ज्ञानधारा होती है। मिथ्यादृष्टि हो, तब केवल कर्मधारा होती है। सम्यग्दृष्टि होता है, तब ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों होती हैं। समझ में आया? आ...हा...हा...!

सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा हो जाये, तब अकेला आनन्द और ज्ञानधारा रहती है। मिथ्यादृष्टि, राग को अपना मानकर, जब तक उसमें रस है, तब तक उसको केवल कर्मधारा–विकारधारा रहती है। सम्यग्दृष्टि हुआ, (पूर्ण) वीतराग नहीं हुआ, उसको दो धारा वर्तती हैं। अन्तर की ओर (ज्ञान) धारा होती है और बाहर की ओर के राग का विकल्प भी होता है। फिर भी वह विकल्प को अपना नहीं मानता और अपना जानकर अनुभव करता नहीं। आहा...हा...! 'करे करम सो ही करतारा' वह राग का कर्ता बने तो ही कर्ता (है), (परन्तु) वह कर्ता नहीं बनता, ज्ञाता रहता है। गज़ब बात है, बापू! आहा...हा...!

धायमाता किसी बच्चे को स्तनपान कराती हो, परन्तु उसे पता है कि यह लड़का बड़ा होकर मेरा पालन नहीं करेगा। यह तो पराया बच्चा है। सिर्फ स्तनपान कराने यहाँ लाया गया है। वैसे समकिती (को) सांसारिक कार्य के समय राग आता है, फिर भी यह राग मेरी चीज़ नहीं है, मैं उसमें नहीं आता, मेरे स्वरूप को छोड़कर–आत्मानुभव से निकलकर राग में एकाकार नहीं होता। सूक्ष्म बात है, प्रभु! मार्ग कोई न्यारा है, भाई!

यह तो भव का अन्त नहीं हुआ तो भव कर-करके मर जायेगा। मनुष्य मरकर पशु होगा, पशु होकर–तिर्यंच बनकर नरक में जायेगा और वहाँ पुनः अनन्त भव (करेगा)। नरक से निकलकर पुनः पशु होगा। सातवीं नरक में जाए, वह वहाँ से मरकर फिर से एक बार तो सातवीं नरक में जाता ही है, ऐसा पाठ है। बहुत पाप करके सातवीं नरक में गया हो, वह वहाँ से निकलकर तिर्यंच होता है, मनुष्य नहीं होता और वह तिर्यंच मरकर फिर से सातवीं नरक में ही जाता है। आहा...हा...! ऐसा सिद्धान्त वीतराग की वाणी में आया है। ऐसे पाप जिसने किये, उसको दो बार तो सातवीं नरक में जाना ही पड़ता है।

(श्रेणिक राजा) सम्यग्दृष्टि 84 हज़ार वर्ष की स्थिति लेकर (नरक में) गये हैं। लेकिन वहाँ से निकलकर अगली चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होनेवाले हैं। वहाँ से निकलकर जब माता के गर्भ में आयेंगे, तब इन्द्र और इन्द्राणी (माता के) गर्भ को साफ करेंगे। (क्योंकि) प्रभु जो पधारनेवाले हैं! आहा...हा...हा...! अभी तो सम्यग्दर्शन है! वहाँ से निकलकर माता के गर्भ में पधारेंगे, तब इन्द्र-इन्द्राणी माता के गर्भ को साफ करेंगे। जैसे कोई महापुरुष आनेवाले हों, तब मकान साफ करते हैं, वैसे भगवान का आत्मा तेरे गर्भ

में आनेवाला है, इससे पहले साफ करते हैं। सवा नौ महीने गर्भ में रहते हैं, (उन) सवा नौ महीने तक रत्नों की धारा–वर्षा करते हैं। इन्द्र सवा नौ महीने तक रत्नों की धारा बरसाते हैं। आहा...हा...! और इसके छह महीने पहले भी रत्नों की धारा बरसती है। माता के गर्भ में आने से पहले भी, सम्यग्दृष्टि जीव था और तीर्थंकर होनेवाला है; इसलिए छह महीने पहले से रत्न बरसाते हैं। पन्द्रह महीने तक रत्नों की वृष्टि बरसती है! आहा...हा...!

उनका जन्म होता है, तब इन्द्र कहते हैं, 'माता! यह जगत का पिता है! यह केवल तेरा पुत्र नहीं है (परन्तु) जगत का तारणहार है! माता! इसका ख्याल रखियेगा!' (वहाँ) एक देव को रखते हैं। माता के गर्भ में आवे तब, उनकी सँभाल के लिये उसके साथ एक देव रखते हैं। यह सारा सम्यग्दर्शन का प्रताप है!! आ...हा...हा...! यह सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, बापू! यह यहाँ कहते हैं। उसको (सम्यग्दृष्टि को) **ज्ञानधारा एवं उदयधारा दोनों भिन्न परिणमती हैं; अल्प अस्थिरता है...** देखा? अस्थिरता है, राग आता है परन्तु वह अल्प है। उन्हें अनन्तानुबन्धी का कषाय नहीं होती। अनन्त संसार बढ़ा दे–ऐसी कषाय उनको नहीं होती, आहा...! **अल्प अस्थिरता है...** वे लड़ाई करे तो भी अल्प अस्थिरता है। अन्दर में समकित हुआ, तब अनन्तानुबन्धी गयी और आत्मा के आनन्द का अनुभव-वेदन वर्तता है।

**वह अपने पुरुषार्थ की कमज़ोरी से होती है,...** ऐसा वे जानते हैं। मेरे पुरुषार्थ की कमज़ोरी की वज़ह से यह राग थोड़ा उत्पन्न होता है, परन्तु यह मेरी चीज़ नहीं। मैं तो आनन्दस्वरूप हूँ। ऐसा सम्यग्दृष्टि को प्रथम भूमिका में होता है। आ...हा...हा...! इसके बिना सब थोथा है। सम्यग्दर्शन के बिना जो भी बाह्य प्रवृत्ति और क्रियाकाण्ड में पुण्यादि होता है, वह सब संसार है, धर्म नहीं। धर्म तो यह सम्यग्दर्शन होता है, तभी शुरु होता है। यह यहाँ कहते हैं।

**अपने पुरुषार्थ की कमज़ोरी से होती है, उसके भी ज्ञाता रहते हैं।** है? यह कैसे बैठे? सर्प को संडासी से पकड़ते हैं परन्तु जानते हैं कि इसे छोड़नेयोग्य है, घर में रखनेयोग्य नहीं–ऐसा मानते (हैं)। घर में रखने जैसा है? पकड़ेगा जरूर...! अरे...! होशियार आदमी तो हाथ से पकड़ता है। वह चलता हो, तब मुँह को ऊपर से यूँ पकड़ता है कि जिससे उसका

मुँह उसे काट न सके, फिर यूँ ही पकड़कर छोड़ आते हैं। ऐसे आदमी होते हैं। सर्प चलता हो, उसे मुँह के पास से पकड़ लेते हैं कि जिससे वह मुड़कर काट नहीं सके, फिर उसे बाहर में छोड़ आते हैं। उसको ज़हर चढ़ता नहीं, ज़हर उसको कुछ कर सकता नहीं। वैसे समकिती को राग पकड़ने पर, राग का ज़हर नहीं चढ़ता। वे राग को छोड़ने योग्य मानकर छोड़ (देते) हैं। सूक्ष्म बात है। प्रभु! दुनिया की पद्धति और (इस) मार्ग की पद्धति बिल्कुल अलग है।

इसके लिये तो बहुत सत्समागम चाहिए, शास्त्रवांचन चाहिए, मनन–(चिन्तन) चाहिए, ये सब प्रकार हों, तब तो चीज़ क्या है? वह इसके ख्याल में आता है। बाद में अनुभव तो उस राग से रहित होने पर होता है। यहाँ वही कहते हैं कि (समकिती को राग आता है) वह कमज़ोरी है, इसके भी वे ज्ञाता रहते हैं। यह 31 (वाँ बोल हुआ)।

**सम्यग्दृष्टि को आत्मा के सिवा बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता, जगत की कोई वस्तु सुन्दर नहीं लगती। जिसे चैतन्य की महिमा एवं रस लगा है उसको बाह्य विषयों का रस टूट गया है, कोई पदार्थ सुन्दर या अच्छा नहीं लगता। अनादि अभ्यास के कारण, अस्थिरता के कारण अन्दर स्वरूप में नहीं रहा जा सकता इसलिए उपयोग बाहर आता है परन्तु रस के बिना–सब निःसार, छिलकों के समान, रस-कस शून्य हो ऐसे भाव से–बाहर खड़े हैं॥32॥**

32 (वाँ बोल)। **सम्यग्दृष्टि को आत्मा के सिवा बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता,...** आहा...हा...! अन्तर आत्मा के आनन्द का जिसको स्वाद आया, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे धर्म की शुरुआतवाला कहते हैं, उसको (आत्मा के) आनन्द के सिवा बाहर कहीं नहीं सुहाता। आहा...हा...! 96 हज़ार स्त्रियाँ होती हैं तो भी उसमें उसे रस नहीं है। रस उड़ गया है, आ...हा...हा...! सर्प को पकड़ते तो है परन्तु छोड़ने के लिये पकड़ते हैं। वैसे (समकिती को) राग आता है, वह छोड़ने के लिये आता है; रखने के लिये नहीं आता। वह यहाँ 32 (वें बोल में कहते हैं)।

**(सम्यग्दृष्टि को) आत्मा के सिवा बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता,...** 'कहीं'

अर्थात् उन्हें पुण्य के परिणाम में भी अच्छा नहीं लगता। पाप के परिणाम में भी कमज़ोरी के कारण, हीनता देखकर उसके (भी) ज्ञाता रहते हैं। बाहर की किसी भी चीज़ में उन्हें उत्साह और वीर्य में प्रीति लगती नहीं। आहा...हा...! ऐसा सम्यग्दर्शन, बापू! जब इसकी बात भी सुनने नहीं मिली (तो) यह प्रयत्न कब करे? आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** सम्यग्दर्शन अलौकिक चीज़ है!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ऐसी चीज़ है! उसमें फिर यह अफ्रिका और परदेश में। कहाँ देश और कहाँ परदेश!! सारे दिन केवल व्यवसाय में मशगूल! और इसमें पाँच-पचीस लाख महीने में या सालभर में मिलते हो, तो हो गया! उलझ जाता है...! हो गया...! आहा...हा...! हमने तो मुम्बई कई लोगों को–बड़े करोड़पतियों को देखा है न! उसी में उलझ जाते हैं। सुनने तो आये किन्तु रस पड़े नहीं। आहा...हा...हा...!

अभी एक (भाई) मुम्बई में आया था। वैष्णव है परन्तु इनके घर में सब महिलाएँ श्वेताम्बर जैन हैं। मुम्बई में है। नाम क्या? भूल गये।

**मुमुक्षु :** 'रामदास कीलाचन्द।'

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, वह। 50 करोड़ रुपये। वैष्णव (है)। वहाँ जाते हैं, तब दर्शन करने आते हैं, व्याख्यान सुनने आते हैं। वैष्णव हो तो (क्या हुआ)? यहाँ तो तत्त्व की बात है, यहाँ कोई पक्ष की बात कहाँ है? सुनने आते हैं। एक बार पूछा, 'महाराज! हम तो वैष्णव हैं। (ईश्वर) कर्ता में मानते हैं न?' (हमने कहा) 'बापू! कर्ता मानते हो, लेकिन तुम्हारे में 'नरसिंह महेता' जुनागढ़ में हो गये, उन्होंने तो ऐसा कहा कि, 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चीन्यों नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी', 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व जान्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी, शुं कर्युं तीर्थ ने तप करवा थकी?' तीर्थ और तप आदि सब पुण्य परिणाम हैं। वे कोई भव के अभाव का कारण हैं नहीं। सुनते थे, सुनेंगे तो सही न! हमको कहाँ उनसे पैसे लेने थे? पचास करोड़वाला हो चाहे अरबवाला हो...! आया था बेचारा...!

**मुमुक्षु :** वास्तव में तो आप जैसे महात्मा यहाँ बहुत कम आते हैं। यहाँ अभी तक आये ही नहीं और यहाँ जमीन अच्छी है लेकिन इसकी जोताई नहीं हुई!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** तो अच्छा न, बापू! बात तो ऐसी है, बापू! आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** कोरी जमीन है। क्योंकि आप जैसे कोई नहीं पधारतें।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो सब की माँग थी, इसलिए आ गये...! कुदरती बनना होता है–क्षेत्र स्पर्शना...! वरना हम तो वहाँ काठियावाड़ में रहनेवाले...! और हमारी दुकान भी गुजरात में–पालेज। हमारा पूरा व्यापार सब गुजरात में! नहीं तो इस तरफ आने का तो कभी विचार भी नहीं था। लेकिन यहाँ तो कुदरती 'राचंदभाई' के.... (आ पहुँचे)।

**मुमुक्षु :** हमारे भाग्य से (आपका) आना हुआ!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बात सही है! केशवलालभाई! यह सुनने मिले, वह भाग्यशाली है...! यह तो तीन लोक के नाथ की–वीतराग की वाणी है!! परमात्मा विराजमान हैं, उनकी यह वाणी है। बहिन वहाँ से आये हैं।

(पहले) कहा था, बहिन वहाँ नगरसेठ के लड़के थे परन्तु थोड़ा कपट हो गया था, इसलिए स्त्री हो गये। परन्तु पूर्व का सब याद आया है। कल की बात जैसे याद आये, वैसे सब बातें प्रत्यक्ष याद आयी हैं। लेकिन मर गये हैं! उन्हें बाहर में कहीं नहीं रुचता, कहीं नहीं सुहाता। उनके कोई पैर छूए तो (उसके) सामने देखने तक की दरकार नहीं। अन्दर आनन्द में मस्त... मस्त हैं!! लड़कियों ने वाणी लिख ली थी तो यह पुस्तक प्रसिद्ध हो गई। वरना बाहर आतीं भी नहीं! यूँ चलें तो मुरदे जैसे दिखें!! वे अन्दर की मस्ती में–आनन्द की मस्ती में, बाहर की सब रुचि ही उड़ गयी है। है देह स्त्री का! 66 वर्ष की उम्र... 66 वर्ष! परन्तु अन्दर में कोई उम्र लागू नहीं पड़ती! वे बहिन यह कहते हैं।

**जगत की कोई वस्तु सुन्दर नहीं लगती।** आ...हा...हा...! जिसको आत्मा का रस चढ़ा... आहा...हा...! उसे जगत की किसी चीज़ में रस नहीं आता। देवलोक में इन्द्र और इन्द्राणी का स्थान मिले तो भी उसमें उसे रस नहीं आता। समकिती मरकर स्वर्ग में ही जाते हैं, वैमानिक (देवलोक) में जाते हैं। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक–(ऐसे) चार प्रकार के देव हैं। उसमें सम्यग्दृष्टि मरकर वैमानिक देव में ही जाते हैं। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष में वे नहीं जाते। मिथ्यादृष्टि हो और यदि विराधना हुई हो तो नीचे जाते हैं। समकितदृष्टि तो वैमानिक में ही जाते हैं।

अभी वैमानिक का देव जो है–सुधर्मदेवलोक, 32 लाख विमान! पहला देवलोक

है। 32 लाख विमान (हैं)। एक विमान में असंख्य देव! उनका वह स्वामी आत्मज्ञानी है। देवलोक में 32 लाख विमान का स्वामी वह समकिती है!! परन्तु वह पर को छूने तक नहीं देता। (अर्थात्) उस देव को रानी और देवांगनाएँ सब पर (हैं), वह मेरा स्वरूप है नहीं। (ऐसे भिन्न रहते हैं)। देवलोक में से भगवान के पास सुनने आते हैं। ये चन्द्र, सूर्य हैं, इनके ऊपर सुधर्म देवलोक है। सुधर्म देवलोक, ईशान, सनतकुमार, महेन्द्र देवलोक है, है न? वहाँ से अभी भगवान के पास सुनने आते हैं। प्रभु के पास हैं। वह इन्द्र एकावतारी हैं! एक भव करके मोक्ष जायेगा। आ...हा...हा...! वैसे (बाहर से) देखें तो 32 लाख विमान हैं किन्तु अन्दर में लेप नहीं है (अर्थात्) मेरा कुछ नहीं है। मेरा मेरे में है, मेरा परिवार मेरे में है। राग आदि मेरा परिवार नहीं। बहिन का, अपने नहीं लिया? राग हमारा देश नहीं, यह पुण्य और पाप के परिणाम हमारा देश नहीं। अरे...! हम कहाँ परदेश में आ पहुँचे? वैसे ज्ञानी को राग में आने पर ऐसा लगता है। रस नहीं आता। आ...हा...हा...! पढ़ा था न अपने? पढ़ाया था। हम कहाँ आ पहुँचे? अरेरेरे...!

हमारा आनन्द का नाथ, इसमें रुचि व दृष्टि होने पर भी, अस्थिरतावश हम यह कहाँ परदेश में (आ पहुँचे)? पुण्य के परिणाम में आये तो कहते हैं, हम परदेश में आ पहुँचे हैं। यह हमारा परिवार नहीं। हमारा परिवार तो अन्दर में आनन्द, ज्ञान और शान्ति का सागर (है)। वह परिवार अन्दर पड़ा है। वह हमारा वतन है, हमारा स्थान है, वह हमारा घर है, वहाँ हमारा परिवार बसता है, वहाँ हम जाना चाहते हैं। आ...हा...हा...हा...! अज्ञानी को बाहर में स्त्री, पुत्र और ये (पैसे आदि) कुछ मिले इसमें बहुत रस आ जाता है। ऐसा रस ज्ञानी को नहीं होता। वह (यहाँ) कहते हैं।

**जगत की कोई वस्तु सुन्दर नहीं लगती। जिसे चैतन्य की महिमा एवं रस लगा है...** आ...हा...हा...! पहले ज्ञान तो करे कि यह अन्दर में चैतन्य भगवान पूर्णानन्द सत्चिदानन्द प्रभु है। इसकी दशा में–पर्याय में पुण्य-पाप के, मिथ्यात्व के भाव हैं, वस्तु में नहीं। वस्तु तो त्रिकाल निरावरण, अखण्ड एकस्वरूप अविनश्वर परमस्वभावमय निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। ऐसे समकिती की मान्यता ऐसी होती है। आहा...हा...!

वही यहाँ कहते हैं, **जिसे चैतन्य की महिमा एवं रस लगा है, उसको बाह्य**

**विषयों का रस टूट गया है,...** आहा...हा...! जिसने दूधपाक खाया हो...! दूधपाक ही कहते हैं न? उसे लाल जुआर के छिलके की रोटी अच्छी नहीं लगती। जुआर दो प्रकार की होती हैं। हमें तो सबका अनुभव हुआ है न! एक सफेद जुआर–एक पीली (जुआर)। इसके ऊपर के छिलके पीले होते हैं। हमने तो स्थानकवासी में दीक्षा ली थी, इसलिए कहीं भी आहार लेने के लिये जाते थे। तो एक बार विरमगाम जाते हुए (बीच में) गाँव आया (तो वहाँ) पीली (जुआर के) छिलके की रोटी मिली! बनिये का घर नहीं था, तो उसके यहाँ गये तो ऐसा मिला। लेकिन जिसने दुधपाक का रस चखा हो, उसे पीली जुआर के छिलके की रोटी में रस नहीं आता। वैसे (जिसको) आत्मा का रस लगा, उसे राग में रस नहीं आता। आ...हा...हा...!

एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती। जिसको पर का रस है, उसे आत्मा का रस नहीं आता और जिसे आत्मा का रस है, उसे पर का रस नहीं आता। राग आता है परन्तु रस आता नहीं। उसमें एकाकार नहीं हो जाता, ऐसा दो के (बीच) अन्दर अन्तर रहता है। आहा...हा...! है? **(उसको) बाह्य विषयों का रस टूट गया है,...**

**कोई पदार्थ सुन्दर या अच्छा नहीं लगता।** आहा...हा...! इन्द्र और इन्द्राणी का पद भी अच्छा नहीं लगता। **अनादि के अभ्यास के कारण, अस्थिरता के कारण अन्दर स्वरूप में नहीं रहा जा सकता...** भान होने के बावजूद भी, स्वरूप में उपयोग जमता नहीं है, तब राग आता है–शुभराग आता है, अशुभराग आता है। यह कहते हैं।

**उपयोग बाहर आता है परन्तु रस के बिना–सब निःसार, छिलकों के समान, रस-कस शून्य हो...** आहा...हा...! मिथ्यादृष्टि को संसार का रस चढ़ गया होता है। आहा...हा...! वह भले शुभराग करे परन्तु उसका रस उसे चढ़ गया है। आत्मा का रस उड़ गया है, उसके पास आत्मा का रस है ही नहीं। और आत्मा का जिसे रस है, उसे इन छिलकों से रस उड़ गया है। है?

**परन्तु रस के बिना–सब निःसार, छिलकों के समान,...** आहा...हा...! **रस-कस शून्य हो – ऐसे भाव से–बाहर खड़े हैं।** धर्मी बाहर में ऐसे रस–कस रहित भाव में खड़े रहते हैं। भाव आते हैं (जरूर), शुभ आये; अशुभ भी आये, आर्तध्यान हो, फिर

भी वे भीतर में निर्लेप रहते हैं। इसके कर्ता–भोक्ता नहीं होते। ऐसी बात है, प्रभु! आहा...हा...! यह 32 (वाँ बोल) हुआ।

**'जिसे लगी है उसी को लगी है' ....परन्तु अधिक खेद नहीं करना। वस्तु परिणमनशील है, कूटस्थ नहीं है; शुभाशुभ परिणाम तो होंगे। उन्हें छोड़ने जायगा तो शून्य अथवा शुष्क हो जायगा। इसलिए एकदम जल्दबाजी नहीं करना। मुमुक्षु जीव उल्लास के कार्यों में भी लगता है; साथ ही साथ अन्दर से गहराई में खटका लगा ही रहता है, सन्तोष नहीं होता। अभी मुझे जो करना है वह बाकी रह जाता है–ऐसा गहरा खटका निरन्तर लगा ही रहता है, इसलिए बाहर कहीं उसे सन्तोष नहीं होता; और अन्दर ज्ञायकवस्तु हाथ नहीं आती, इसलिए उलझन तो होती है; परन्तु इधर–उधर न जाकर वह उलझन में से मार्ग ढूँढ़ निकालता है॥33॥**

(33 वाँ बोल) **'जिसे लगी है, उसी को लगी है'....** आहा...! है? **'जिसे लगी है, उसी को लगी है' ...परन्तु अधिक खेद नहीं करना।** बहुत खेद न करना कि अरर्र...! क्यों जल्दी से नहीं होता? धीरज रखना... धीरज रखना...! धैर्य रखना। **वस्तु परिणमनशील है,...** पर्याय परिणमती है। **कूटस्थ नहीं है;...** कूटस्थ अर्थात् बदले नहीं, ऐसी दशा नहीं है। अतः **शुभाशुभ परिणाम तो होंगे।** शुभाशुभ परिणाम तो होंगे। **उन्हें छोड़ने जायगा तो शून्य अथवा शुष्क हो जायगा।** सूक्ष्म बात है थोड़ी!

(क्यों ऐसा कहा?) क्योंकि तुझे दृष्टि की खबर नहीं है और शुभाशुभभाव पर लक्ष्य करके छोड़ने जायेगा (तो वैसे) नहीं छूटेंगे। (तो) शुष्क हो जायेगा। (क्योंकि) अन्तर (स्वरूप) की दृष्टि हुई नहीं। आहा...हा...! भगवानजीभाई! सूक्ष्म बात है, भाई!

***यह तो लड़कियों के बीच अनुभव की थोड़ी वाणी निकल गयी और बाहर आयी है। वरना तो ऐसी बात बाहर आती नहीं। बहिन तो अन्दर में समा गये हैं! यह देह छूटकर वैमानिक में जायेंगे। वैमानिक देव होनेवाले हैं। स्त्रीपना नष्ट हो जायेगा।***

*वैमानिक में पुरुषदेव होनेवाले हैं। सब निश्चित हो गया है। आहा...! रस बिना सब निःसार है। आहाहा!*

(यहाँ कहते हैं) **'जिसे लगी है, उसी को लगी है' ....परन्तु अधिक खेद नहीं करना। (वस्तु) परिणमनशील है, (कूटस्थ नहीं...) अतः शुभाशुभ परिणाम तो होंगे।** शुभाशुभ परिणाम होते हैं। **उन्हें छोड़ने जायगा...** उस पर लक्ष्य करने जायेगा (तो) नास्तिक हो जायेगा। वह तो यहाँ (स्वरूप की) दृष्टि होगी तो शुभाशुभ (परिणाम) छूटेंगे परन्तु तूं शुभाशुभ पर लक्ष्य रखकर छोड़ने जायेगा तो शुष्क हो जायेगा। थोड़ी सूक्ष्म बात कर दी है। क्या कहा?

शुभ और अशुभ परिणाम होंगे। उन्हें छोड़ने जायेगा (अर्थात्) उन पर लक्ष्य करके छोड़ने जायेगा तो शून्य हो जायेगा। क्योंकि सम्यग्दर्शन है नहीं, आत्मा का रस आया नहीं और शुभाशुभ परिणाम छोड़ने जायेगा तो शून्य हो जायेगा। आयेंगे (जरूर लेकिन) घबराना नहीं। शुभाशुभ परिणाम आयेंगे (परन्तु) घबराना नहीं। इससे हटकर अन्दर में जाने का प्रयास करना। आ...हा...हा...! थोड़ी सूक्ष्म बात की है। चन्दुभाई!

**उन्हें छोड़ने जायगा तो शून्य (अथवा) शुष्क हो जायगा।** आत्मा की दृष्टि हुई नहीं हो और अकेले शुभाशुभ परिणाम छोड़ने जायेगा तो शुष्क हो जायेगा। थोड़ी सूक्ष्म बात है! अन्दर की अनुभव की बात है। आ...हा...हा...! शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव हो, तब तो शुभाशुभ (परिणाम) भिन्न ही पड़े हैं। परन्तु उसकी दृष्टि अभी हुई नहीं, और तूं एकदम शुभाशुभ को छोड़ने जायेगा, (वैसे) शुभाशुभ को छोड़ने जायेगा (तो तेरी) दृष्टि तो आत्मा पर है नहीं, (तो) शुष्क हो जायेगा। समझ में आया? आहा...! शून्य हो जायेगा...! शुभाशुभ छोड़ने जायेगा (और) अभी शुभाशुभ से रहित आत्मा की दृष्टि तो तुझे हुई नहीं (तो तूं) शून्य हो जायेगा। थोड़ी सूक्ष्म बात की है।

कल आयी थी? परसों (आयी थी)? वह 21 वाँ बोल। 21 वाँ बोल...! चैतन्य के परिणाम–शुद्ध परिणाम हुए और सिद्धगति न हो (तो) जगत शून्य हो जायेगा। शुभाशुभ परिणाम हुए और उसकी गति में नरक या स्वर्ग न हो (तो) शून्य हो जायेगा। – (वह) गति शून्य हो जायेगी। गति रहित यह जगत भी शून्य हो जायेगा और परिणाम हुए, इनका फल

यदि नहीं आया तो परिणाम झूठे साबित होंगे, (उस) द्रव्य का ही नाश हो जायेगा। तेरा द्रव्य ही नहीं रहेगा! आहा...हा...हा...! थोड़ी अनुभव की बात हुई है...!

तूं मात्र पर को देखने जायेगा और स्व की खबर नहीं तो शुष्क हो जायेगा। चन्दुभाई! यह वाणी थोड़ी सूक्ष्म है। शुभ-अशुभ से रहित शुद्ध चैतन्य की दृष्टि हो, तब तो शुभाशुभ भिन्न ही पड़े हैं, इसलिए छोड़ने जायेगा तो छूट जायेंगे। परन्तु जब दृष्टि वहाँ है नहीं, पूरा अस्तित्व जो परमात्मस्वरूप है, वह अस्तित्व तो श्रद्धा में–सत्ता में आया नहीं और शुभाशुभ को छोड़ने जायेगा तो रहेगा क्या? (वैसे) छोड़ने जायेगा तो शुष्क हो जायेगा या शून्य हो जायेगा। सूक्ष्म बात है। समझ में आता है इसमें?

**मुमुक्षु :** बहुत पकड़ में नहीं आया।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** फिर से कहते हैं। अपने कहाँ कोई (जल्दी है)...! भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध है, इसकी दृष्टि की नहीं और शुभाशुभ परिणाम को छोड़ने जायेगा तो, शुद्ध में तो आया नहीं (और) शुभाशुभ छोड़ने जायेगा तो शून्य हो जायेगा। शुभाशुभरहित अर्थात् तू आत्मा ही नहीं है – ऐसा हो जायेगा। शुभाशुभ रहित तूं शुष्क हो जायेगा या शून्य हो जायेगा। शुभाशुभ रहित (होने जाएगा) और यहाँ द्रव्य पर दृष्टि तो है नहीं (और ऐसे) शुभाशुभ छोड़ने जायेगा तो शून्य हो जायेगा। शून्य हो जायेगा शून्य...!

**मुमुक्षु :** शुभाशुभ का अभाव तो होगा ही नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अभाव तो (स्वरूप की) दृष्टि करे तो अभाव हो। यहाँ तो (कहते हैं) दृष्टि की नहीं और छोड़ने जायेगा तो शून्य हो जायेगा।

**मुमुक्षु :** शून्य कैसे हो जायेगा? क्योंकि शुभाशुभ तो कायम रहेंगे।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वही यहाँ पर कहते हैं! शुभाशुभ परिणाम को शुद्ध स्वभाव के लक्ष बिना छोड़ने जायेगा, तो रहेगा क्या? शुद्ध तो दृष्टि में है नहीं (और) शुभाशुभ छोड़ने जायेगा तो शून्य हो जायेगा, शुष्क हो जायेगा। सूक्ष्म बात है! आ...हा...हा...! धीरे से बात को (समझना), बापू! यह वार्ता नहीं है, प्रभु! यह तो आत्मा के अन्तर की बातें हैं। आ...हा...हा...हा...! क्या कहा?

शुद्धस्वरूप की दृष्टि तो हुई नहीं और घबराहट में शुभाशुभभाव को छोड़ने जायेगा

तो यहाँ शुद्ध (स्वरूप की दृष्टि) है नहीं (और) शुभाशुभ को छोड़ने जायेगा तो शुष्क हो जायेगा या शून्य हो जायेगा। आहा...हा...! सूक्ष्म बात रखी है थोड़ी, सूक्ष्म बात है थोड़ी! पण्डितजी!

दो अस्तित्व हैं। एक त्रिकाल (स्वरूप का) अस्तित्व और एक पुण्य-पाप का अस्तित्व। अब कहते हैं कि तुझे त्रिकाल अस्तित्व को जानने की इच्छा हो तो जानने जा, परन्तु जानने से पहले, जाने बिना अकेले शुभाशुभ को छोड़ने जायेगा तो शुद्धता हाथ नहीं लगेगी, शुभाशुभ नहीं छूटेंगे (और) शून्य हो जायेगा, शुष्क हो जायेगा। आ...हा...हा...! सूक्ष्म बात है थोड़ी।

बहिन को अन्तर से बात आयी है। 64 लड़कियों के बीच यह बात की थी। आ...हा...हा...! क्या कहा यह?

**वस्तु परिणमनशील है,...** (इसलिए) शुभाशुभ (परिणाम) होंगे। **कूटस्थ नहीं है;...** (इसलिए) परिणमन न हो, वैसा नहीं। परिणमन तो होगा। **शुभाशुभ परिणाम तो होंगे। उन्हें छोड़ने जायेगा तो...** (आत्मा की) लगन लगे बिना (छोड़ने जायेगा) आहा...हा...! **तो शून्य अथवा शुष्क हो जायेगा। इसलिए एकदम जल्दबाजी नहीं करना।** धीरे से आत्मा के प्रति झुकने का प्रयास करना। परन्तु आत्मा (के प्रति झुकने के लिये) प्रयत्न न करके, शुभाशुभ को छोड़ने जायेगा वहाँ, न तो आत्मा रहेगा और ना ही शुभाशुभभाव! शुष्क हो जायेगा! समझ में आया इसमें? बहिन की वाणी तो अनुभव की है! आहा...!

अन्तर (की) चीज़ को तो देखी नहीं और घबराता है कि 'अरर्र...! अब ये शुभाशुभ छूट जाये।' परन्तु अन्तर की दृष्टि तो हुई नहीं, इसके प्रति का झुकाव भी नहीं और शुभाशुभ छोड़ने जायेगा, तो यहाँ शुद्ध (स्वरूप का लक्ष्य) तो है नहीं और शुभाशुभ छोड़ने जायेगा, वहाँ शुभाशुभ रहित शुष्क हो जायेगा, शून्य हो जायेगा। तेरा आत्मा ही नहीं रहेगा। आ...हा...हा...! सूक्ष्म बात आयी है थोड़ी! उन परिणाम जैसी आयी है (21 वाँ बोल)। चैतन्य के परिणाम का फल न आवे तो जगत शून्य हो जायेगा। आया था न? वैसी यह बात है। आ...हा...हा...!

(अब कहते हैं) **मुमुक्षु जीव उल्लास के कार्यों में भी लगता है; साथ ही साथ अन्दर से गहराई में खटका लगा ही रहता है,...** है? मुमुक्षु जीव (अर्थात्) आत्मा की जिसको पिपासा लगी हो, वैसा मुमुक्षु जीव, **उल्लास के कार्यों में भी लगता है; साथ ही साथ अन्दर से गहराई में खटका लगा ही रहता है,...** (कि) यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं... मेरी वस्तु भिन्न है। ऐसा खटका लगा ही रहे तो सम्यग्दर्शन पाने का लायक होता है। आ...हा...हा...! सूक्ष्म बात है थोड़ी। स्थूल दृष्टिवाले को समझना मुश्किल पड़े ऐसा है। परन्तु यह बात अन्दर से आयी है। आयी वैसी रखनी तो पड़े ही न! आहा...हा...!

धर्मी को (उल्लास के) कार्यों में जुड़े तो भी अन्दर से गहराई में खटका रहा ही करता है। शुभाशुभ परिणाम है, वह (मेरा स्वरूप) नहीं, मेरी चीज़ तो भिन्न है। (ऐसा) खटका तो अन्दर रहा ही करता है। आ...हा...हा...! **सन्तोष नहीं होता।** थोड़ा-सा शुभ घटाया, इसलिए सन्तोष नहीं होता, खटका रहा ही करता है कि इस शुभ से भी छूटकर अन्दर में जाऊँ, वह (सच में) मेरी चीज़ है। शुभ (से) छूटकर भी अन्तर में जाना-वह मेरा स्वरूप है। वह मेरा निज देश और मेरा निज घर है। वह घबराता नहीं। एकदम से न जाए तो धीरे से राग का आदर छोड़कर अन्दर (स्वरूप) के आदर में जाये। आ...हा...हा...!

**अभी मुझे जो करना है, वह बाकी रह जाता है-** मुमुक्षु को ऐसा है-रागादि घटाने जाये और घटे नहीं और दृष्टि न हो, तो उसको ऐसा लगता है कि मुझे तो अभी बहुत कुछ करना बाकी है। राग घटाकर स्वरूप में जाने का बहुत करने का बाकी है। शुभभाव किया, इसलिए मैंने बहुत कर लिया; इसमें कुछ नहीं है। भाषा थोड़ी (सूक्ष्म है)।

**ऐसा गहरा खटका निरन्तर लगा ही रहता है,...** मुमुक्षु जीव को (अर्थात्) जिसको आत्मा की दरकार है, उसको ऐसा खटका तो सदा-निरन्तर रहा ही करता है। आहा...हा...! **इसलिए बाहर कहीं उसे सन्तोष नहीं होता;...** बाहर में दिखता है परन्तु कहीं भी उसे सन्तोष नहीं होता। मेरे घर के अलावा इस पर में मेरा स्वरूप नहीं है। आ...हा...हा...!

**और अन्दर ज्ञायकवस्तु हाथ नहीं आती,...** क्या कहा? **गहरा खटका निरन्तर**

**लगा ही रहता है, इसलिए बाहर कहीं उसे सन्तोष नहीं होता; और अन्दर ज्ञायकवस्तु हाथ नहीं आती, इसलिए उलझन तो होती है; परन्तु इधर–उधर न जाकर...** (अर्थात्) जल्दबाजी करके उलझन में न आकर धीरे-धीरे, धैर्य से राग से रहित होने का अन्दर प्रयत्न करना। एकदम उलझन में नहीं आ जाना। (ऐसा) कहते हैं। राग रहित एकदम नहीं हुआ जाये तो घबराना नहीं। धीरे से, इसे आत्मा के लक्ष्य में जाने के लिये धीरज से काम लेना। वरना उलझन में जाएगा तो मूढ़ हो जायेगा, आहा...हा...! यह तो जिसे अन्दर का खटका लगा हो, उसकी बातें हैं, बापू! यह कोई वार्ता–कथा नहीं है, आहा...!

(इसलिए कहते हैं) **इसलिए उलझन तो होती है; परन्तु इधर–उधर न जाकर वह उलझन में से मार्ग ढूँढ़ निकालता है।** राग टूटे नहीं, अन्दर में जाना होवे नहीं; (इसलिए) उलझन होती है परन्तु उलझन में से मार्ग ढूँढ़ लेता है। उलझन में आकर वहाँ मूढ़ नहीं हो जाता। धीरे से... अन्दर वस्तु है, शुद्ध चैतन्य है, राग की मन्दता एकदम मेरे से छूटती नहीं है परन्तु धीरे से अन्दर में जाने पर वह राग हट जायेगा और आत्मा का अनुभव होगा, ऐसा (सोचकर) उसे उलझन में नहीं रहना चाहिए। आ...हा...हा...! समझ में आया यह? यह सूक्ष्म बात आ गयी है।

(कहते हैं) **इधर–उधर न जाकर वह उलझन में से मार्ग ढूँढ़ निकालता है।** कठिन पड़ता (हो, ऐसा) इसे लगता हो तो भी घबराता नहीं है। धीरे से राग को मन्द करके आत्मा की शुद्धता के प्रति झुकने (का) प्रयत्न भी छोड़ना नहीं है और उलझन में भी नहीं रहना है। उसके (स्वरूप) के प्रति जाने का प्रयत्न छोड़ना भी नहीं और राग आये व नहीं छूटता हो तो उलझन में भी रहना नहीं। ऐसी दशा की बात यहाँ की है। ऐसी मध्यमदशा, सम्यग्दर्शन पाने के पहले ऐसी दशा होती है, परन्तु ऐसी दशावन्त अन्दर में जाता है, तब राग की उलझन उसे मिट जाती है और आत्मा का ज्ञान हो जाता है।

(विशेष कहेंगे....) (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**जो प्रथम उपयोग को पलटना चाहता है परन्तु अन्तरंग रुचि को नहीं पलटता, उसे मार्ग का ख्याल नहीं है। प्रथम रुचि को पलटे तो उपयोग सहज ही पलट जायगा। मार्ग की यथार्थ विधि का यह क्रम है॥36॥**

## प्रवचन–5 वचनामृत–36 से 39

वचनामृत 36 वाँ बोल (चल रहा है)। सादी भाषा है परन्तु अन्दर गहराई में रहस्य है। **जो प्रथम उपयोग को पलटना चाहता है...** क्या कहते हैं? जानने–देखने का यह जो व्यापार है (अर्थात्) उपयोग, जो कि प्रथम पर तरफ है, उसे अन्तर में मोड़ना चाहता है। आहा...हा...! **परन्तु अन्तरंग रुचि को नहीं पलटता,...** क्या कहते हैं? (कि) उपयोग को पलटाना चाहता है कि पर तरफ से हटकर अन्दर में आना है परन्तु रुचि को पलटाता नहीं है। रुचि अर्थात् आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है; इसकी रुचि करता नहीं और उपयोग को पलटना चाहता है (तो) वह उपयोग नहीं पलटेगा। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहा...हा...!

रुचि पलटता नहीं है (अर्थात्) अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान, इसका पोषाण और रुचि करता नहीं और उपयोग को पलटना (चाहता है), अर्थात् जाननेरूप भाव को पर से (पलटकर) स्व में लाना–पलटना चाहता है परन्तु रुचि किये बिना वह पलटेगा नहीं। 'रुचि अनुयायी वीर्य' अन्तर आनन्दस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप इसकी इसे रुचि और तीव्र भावना हो तो उपयोग रच में से अन्दर में जाये। पर से (हटकर) स्व में जाये लेकिन रुचि को ही नहीं पलटेगा तो उसका उपयोग पलट सकेगा नहीं। सूक्ष्म बात है। आहा...हा...! अब इसमें

बाहर का क्या करना? और कहाँ जाना, सारे दिन ये धन्धा–पानी और व्यापार... आहा...हा...!

केशवलालभाई कहते थे कि सारा दिन इस पाप में पड़े हैं। यह तो दूसरा प्रकार है, भगवान! यहाँ तो जिसको जन्म-मरण का (अन्त लाना हो उसके लिये बात है)। क्योंकि यह देह छूटने पर कहीं न कहीं जाना तो है। देह छूट जायेगी परन्तु आत्मा छूटेगा? आत्मा तो नित्य है, तो जायेगा कहाँ? देह छूटने के पश्चात् आत्मा तो नित्य है, वह जायेगा कहाँ? इसका विचार आया है? कि यह देह छूटने के पश्चात् मैं कहाँ जाऊँगा? कहाँ अवतार लूँगा? कहाँ मेरी दशा होगी? ऐसा विचार आये, तब तो पर तरफ का उपयोग है, उसे स्व तरफ लाने का उद्यम करेगा परन्तु रुचि नहीं पलटेगी तो स्व में उपयोग जा सकेगा नहीं। आ...हा...हा...हा...! है?

**उसे मार्ग का ख्याल नहीं है।** आ...हा...हा...! अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान, उस तरफ की रुचि नहीं तो जानने-देखने के उपयोग को पलट नहीं सकता। वह बाहर में ही पलटा खाता रहेगा। राग-द्वेष और विकल्प और संकल्प-विकल्प, रति और अरति, शोक और दुःख (में ही पलटा खाता रहेगा) आहा...हा...! सूक्ष्म बात है प्रभु! **प्रथम रुचि को पलटे तो उपयोग सहज ही पलट जायगा।** कहो, धन्नालालजी!

अन्दर में रुचि होनी चाहिए। बाहर का जो रस लग गया है। सारा दिन उस रस के ही विकल्प आते रहते हैं, आ...हा...हा...! आत्मा अन्दर ज्ञायक सत्तास्वरूप वस्तु है, इसकी रुचि होगी तो उपयोग को पलट सकेगा, तो जानने का उपयोग स्व के प्रति झुकेगा। आहा...हा...!

**प्रथम रुचि को पलटे तो उपयोग सहज ही पलट जायगा।** आत्मा की रुचि होगी (अर्थात्) यदि आनन्द और ज्ञान की (रुचि होगी) तो उसका वर्तमान व्यापार पर तरफ झुका है, वह स्व तरफ झुके बिना रहेगा नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात है! क्या करना? यह बाहर का कुछ करना कि इसमें से कुछ हो सके ऐसा है? बाहर की तो धमाधम चलती है, बापू! अन्दर में उपयोग को पलटने का कार्य करना है। परन्तु इस उपयोग का पलटा कब हो? इसे अन्तर स्वभाव का माहात्म्य आये कि मैं एक आनन्द और सहजानन्द अनन्त गुण का पिण्ड हूँ। वह मेरी सत्ता और वह मेरा सत् और वही मेरा सत्त्व है। आत्मा सत् है और अनन्त गुण उसका सत्त्व है। सत् का सत्त्व यह है।

वैसे तो पर्याय को भी सत्त्व कहा था। आया था न? छठी गाथा के भावार्थ में (आया था)। परन्तु वह एक समय की पर्याय का सत् है, और वस्तु है वह त्रिकाली सत् है। सत् का त्रिकाली सत्त्व अर्थात् गुण है। यह ज्ञान और आनन्द जिसके सत् का सत्त्व है, इसकी यदि रुचि होवे तो वह (उपयोग) पलट सकेगा। उपयोग का पलटा सहज हो जायेगा।

**मार्ग की यथार्थ विधि का यह क्रम है।** आहा...हा...! यह मार्ग की विधि का यथार्थ क्रम यह है। इसके बिना दूसरा करने जायेगा तो होगा नहीं। आहा...हा...! कठिन काम बहुत!

(जन्म-मरण करते-करते) देह को छोड़कर अनन्त काल बीता। आहा...हा...! त्रस की स्थिति में दो हज़ार वर्ष (सागर) रहेगा। क्या कहा? यह त्रस है—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, मनुष्य, नारकी, देव, तिर्यंच—पशु, ऐसे त्रस में दो हज़ार सागर ही रहेगा। इन दो हज़ार सागर में (मिले हुए) मनुष्यत्व में यदि कुछ नहीं किया (तो) निगोद में जायेगा। समझ में आया?

परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ ने केवलज्ञान में देखकर कहा – प्रभु! तूं एकेन्द्रिय में से निकलकर मुश्किल से तो त्रस में आया और इस त्रस में दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय के भव अधिक से अधिक करेगा तो दो हज़ार सागर तक करेगा, लेकिन फिर तो निगोद में जायेगा। यदि इस मनुष्य का कर्तत्य (अर्थात्) आत्मा का अनुभव नहीं किया, आत्मा की प्रतीति, विश्वास और अनुभव नहीं किया तो परिभ्रमण करते हुए निगोद में जायेगा। आहा...हा...! क्योंकि देह नष्ट होगी परन्तु आत्मा का तो कोई नाश होनेवाला नहीं है। तो (यह) देह (छूटने के) पश्चात् जायेगा कहाँ? जिसकी जिसको रुचि, उसमें उसका जन्म होगा। आहा...हा...हा...! कठिन बात है। जगत (के जीव) इस बाहर की महिमा में और बाहर के मोह में उलझ गया हैं। अन्तर वस्तु रह गयी। साधु हुआ तो भी अन्तर (वस्तु) रह गयी! अन्तर का माहात्म्य जो आना चाहिए, वह माहात्म्य आया नहीं। आहा...हा...!

वही (यहाँ कहते हैं) **मार्ग की यथार्थ विधि का यह क्रम है।** उपयोग अर्थात् जानने-देखने का जो भाव है, वह तो अनादि से पर की ओर झुका हुआ है, उसे स्व तरफ मोड़ना हो तो, चैतन्यस्वरूप क्या है? उसकी इसे रुचि होनी चाहिए और रुचि होगी तो

उपयोग का पलटा होगा। भाषा समझ में आती है या नहीं? भाषा तो सब सादी, देशी (भाषा) है। भले गुजराती (है) परन्तु भाषा तो सादी है। आहा...हा...!

उपयोग को अन्दर पलटना हो तो (पहले) रुचि को पलट। सब जगह से रुचि उठा ले! और अन्तर में आनन्दस्वरूप भगवान (है) इसकी रुचि कर तो पर तरफ का उपयोग अन्दर में झुकेगा। यह मार्ग का क्रम है। इससे दूसरा क्रम करने जायेगा तो यह वस्तु मिलेगी नहीं। आहा...! ये 36 वाँ बोल हुआ।

**'मैं अबद्ध हूँ', 'ज्ञायक हूँ', यह विकल्प भी दुःखरूप लगते हैं; शान्ति नहीं मिलती, विकल्पमात्र में दुःख ही दुःख भासता है, तब अपूर्व पुरुषार्थ उठाकर वस्तुस्वभाव में लीन होने पर, आत्मार्थी जीव को सब विकल्प छूट जाते हैं और आनन्द का वेदन होता है॥37॥**

37 वाँ (बोल)। **'मैं अबद्ध हूँ', 'ज्ञायक हूँ', यह विकल्प भी दुःखरूप लगते हैं;...** आहा...हा...! 'समयसार' 143 नहीं 142 (गाथा) में कहा न? कि जिसको व्यवहार का (अर्थात्) पर्याय का, राग का पक्ष है, उसका तो हम निषेध करते ही आये हैं। परन्तु निश्चय स्वरूप जो आत्मा ज्ञायक और अबद्धस्वरूप है, इसकी हम बात करते हैं, परन्तु इसके पक्ष में–विकल्प में यदि खड़ा रहेगा तो उसको भी वस्तु की प्राप्ति नहीं होगी। व्यवहार का तो हम निषेध करते ही आये हैं। वहाँ 142 (गाथा) में (ऐसा कहा है)। पर्याय और राग का तो निषेध करते आये हैं। (क्योंकि) वह दृष्टि करने लायक नहीं है। परन्तु त्रिकाली ज्ञायक में दृष्टि करने पर 'मैं अबद्ध और ज्ञायक हूँ'–ऐसा जो विकल्प अर्थात् राग उठता है, उससे क्या? उससे क्या? क्या संस्कृत है? 'तत् किम' – संस्कृत में ऐसा है। 'तत् किम्'–उससे क्या? बापू! आहा...हा...! 'ज्ञायक हूँ'। सुबह ('समयसार' की) 14 वीं गाथा में 'अबद्ध' आया न? वहाँ अबद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ – ऐसा जो विकल्प है–राग, इसमें क्या प्रभु? वह अन्दर में आया नहीं। वह तो बाहर ही बाहर में घूमता रहता है। आहा...हा...!

काम बहुत कठिन लगे...! और इसमें परदेश में कमाने में उलझ गये हो, आहा...!

5-25 लाख की आमदनी हो,... हो गया...! मानो... ओहो...हो...! मैं बढ़ गया! भटकने में... (बढ़ा है)। एक शब्द ऐसा था, कहा था कि पैसा है, वह पुण्य से मिलता है। पुण्य के बिना प्रयत्न से नहीं मिलता। कितने ही ऐसे लोग देखे हैं... यहाँ तो लाखों का परिचय है। मुम्बई, कलकत्ता, दिल्ली सब जगह व्याख्यान दिये हैं। बड़े-बड़े शहरों में सब जगह गये हैं। भोपाल में 40-40 हज़ार लोगों के बीच व्याख्यान दिया है। इन बाहर की बातों में अटकने से अन्दर आत्मा वस्तु क्या है? इसका विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता। हमें सूक्ष्म लगता है... हमें सूक्ष्म लगता है... हमें सूक्ष्म लगता है। आहा...! ऐसा कहकर बाहर ही बाहर में उपयोग रहा करता है, परन्तु अन्दर जाने के लिये (उपयोग को अवकाश नहीं मिलता)। इस बाहर के माहात्म्य को देखकर मोहित हो गया है, उलझ गया है, पलटा खाता नहीं।

यहाँ तो कहते हैं **'मैं अबद्ध हूँ', 'ज्ञायक हूँ', यह विकल्प भी दुःखरूप लगते हैं;...** आहा...हा...! व्यवहार भले ही तूने लक्ष्य में से छोड़ा और व्यवहार छुड़ाते आये हैं, परन्तु निश्चय में अबद्ध और ज्ञायकस्वरूप है, उसका भी यदि विकल्प और राग रहेगा (तो) उससे क्या? इससे तुझे आत्मा की प्राप्ति क्या होगी? इससे आत्मा भविष्य में नरक और निगोद में से नहीं निकल सकेगा। आहा...हा...! इस विकल्प को तोड़कर (अन्दर में जा)। अबद्ध और ज्ञायक हूँ (–ऐसे) विकल्प में रहे तो **शान्ति नहीं मिलती, जब विकल्प में रहे तो...** आहा...हा...! कहो! ज्ञायक और अबद्ध का विकल्प भी नुकसानकारक है।

यह कहा था न? 14 प्रकार के अन्तर परिग्रह हैं, 10 प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं। शास्त्र में 24 प्रकार के परिग्रह का वर्णन है। समझ में आया? ये विकल्प से लेकर पैसा, मकान, स्त्री, कुटुम्ब आदि (मिलना), यह पुण्य का फल है, परन्तु है पाप! आहा...! सिद्धान्त में लेख है कि 24 परिग्रह में लक्ष्मी, सोना–चाँदी, मणिरत्न (आते हैं)। ऐसे दस-दस करोड़वाले मनुष्य (देखे) हैं। जिनके घर में... अकेले 'सरदार शहर' में एक है। 'दीपचन्द सेठिया' थे न, उनके मामा। बहुत वर्ष पहले दस करोड़ रुपये। अभी तो उनकी कीमत (बहुत) बढ़ गयी होगी। पैसा इतना करोड़ में देखा हो, चाँदी और सोना में, परन्तु (यहाँ) कहते हैं कि हम उसे परिग्रह कहते हैं और उसको हम पाप कहते हैं। आहा...हा...हा...!

ज्ञायक और अबद्ध – ऐसे विकल्प भी दुःखरूप हैं। परन्तु ये पैसे आदि मिले– करोड़, दो करोड़ और अरब की धूल मिली, इस पैसे को भगवान ने 'गोम्मटसार' में दस प्रकार के बाह्य परिग्रह में गिना है। तो पैसा आदि है, उसे पाप कहा है और पाप के स्वामी को पापी कहा है! अरर्र...! यह कठिन लगे...! लक्ष्मीचन्दभाई!

वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ, 24 प्रकार के परिग्रह कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग और परिग्रह। इसमें परिग्रह के 24 प्रकार कहे हैं। इसमें 14 (प्रकार के परिग्रह) तो अन्तर के हैं। मिथ्यात्व, राग, द्वेष, हास्य, रति आदि अन्तर परिग्रह (हैं)। और बाह्य (परिग्रह) लक्ष्मी, मकान, आबरू, कीर्ति आदि बाहर है। (बाह्य परिग्रह हैं।) ये सब पुण्य के फल जरूर हैं परन्तु हैं स्वयं पाप। अरर्र...! ऐसा कठिन लगे...!

इस पाप का जो स्वामी हो (अर्थात्) यह पाप मेरा है, पैसा मेरा है–ऐसे स्वामी बने, उसके लिये तीन लोक के नाथ का फरमान है कि वह पापी प्राणी है। ठीक लगे–न लगे, जगत को ठीक लगे–न लगे, इसके (साथ) कोई परमात्मा बँधे हुए नहीं है!! परमात्मा की वाणी में तो सत्य का प्रचार (आया है)। सत् क्या है–यही आता है। आहा...हा...हा...! दुनिया उसे पुण्यशाली कहें। वीतराग कहते हैं कि वह परिग्रह है; परिग्रह है, वह पाप है और जो पाप का स्वामी बने वह पापी है।

**मुमुक्षु :** तो फिर संसार में इसके बिना करना क्या हमें?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह मेरा नहीं है, ऐसा भगवान! ऐसा मानना। ऐसे अन्तर में रुचि पलट देना। .....भाई! वह बाह्य चीज़ (है)–पर है। मेरी चीज़ पर है, वह चीज़ पर है। वह पर (चीज़) मेरी नहीं। पर को परमात्मा ने पाप कहा है। वह पाप मेरा नहीं। मैं तो आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ। ऐसे इसे रुचि पलट देना प्रभु! आहा...हा...! भभूतमलजी! ये भभूतमलजी और सब करोड़पति हैं।

आहा...हा...! यह क्या है लेकिन बापू? करोड़पति! 'निर्जरा अधिकार' में लिया है। 'समयसार' में 'निर्जरा अधिकार' में यह अधिकार लिया है कि जो कोई प्राणी 'यह अजीव है, वह मेरा है'–ऐसा मानता है तो वह जीव, अजीव है–जीव नहीं। जेठालालभाई! कठिन बात हैं, बापू! यह तो जगत से अलग बात है। 'निर्जरा अधिकार' में (आता) है। 'मैं

अजीव हो जाऊँ' (आता) है? श्लोक है कि, यदि राग और लक्ष्मी मेरे हो और मेरे मानूँ तो मैं अजीव हो जाऊँ! आहा...हा...हा...! कठिन बात है! पैसेवाले को पापी मानना!

**मुमुक्षु :** ऐसा सुनकर अन्तर में खलबलाहट होती है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** खलबलाहट होती है! बात सही है, भगवान! अन्दर में खलबली हो जाती है (ऐसा कहते हैं)!

तीन लोक के नाथ की पुकार है। जिनेन्द्रदेव की इन्द्र और नरेन्द्र के बीच, चक्रवर्ती और बलदेव के बीच परमात्मा की यह पुकार है कि तेरे आत्मा के सिवा परपदार्थ जो अजीव हैं, 'यह अजीव है, वह मेरा है' ऐसा मानेगा तो तू अजीव है—जीव नहीं! भैंस का...! 'भैंस का स्वामी पाड़ा होता है।' भैंस का पति पाड़ा होता है। वैसे अजीव का स्वामी अजीव होता है। अजीव मेरा है – ऐसा मानेगा तो तू अजीव—जड़ है। (ऐसा) कहते हैं। और मान या न मान परन्तु वह वस्तु (तेरी नहीं है)। तेरी दृष्टि पर (ऊपर) है। आहा...हा...! वीतराग को कहाँ दरकार है जगत की, कि यह जगत को ठीक लगे, न लगे! मुनियों को कहाँ दरकार है जगत की! दिगम्बर सन्तों को कहाँ दरकार है जगत की! 'नागा ते बादशाहथी आघा।' बादशाह की भी जिनको परवाह नहीं है!! आहा...हा...हा...!

मैंने एकबार कहा नहीं था? वहाँ व्याख्यान सुनने दरबार आये थे, भावनगर दरबार! 19 मील हैं न? सोनगढ़ से भावनगर! एक साल की एक करोड़ की उपज है। करोड़ रुपये का राजा! सब व्याख्यान में तो आते हैं। जहाँ भी जाते हैं वहाँ के बड़े राजा हों, वे सब व्याख्यान में तो आते हैं। वढ़वाण, लखतर, राजकोट जहाँ भी जायें, वहाँ दरबार हों, वे व्याख्यान में तो आते है, एक बार तो आयें। एक बार तो सुनने आयेंगे ही!

वे दरबार व्याख्यान में आये थे, भावनगर दरबार...! एक करोड़ की आमदनी, उपज, हों...! राज्य बड़ा है, एक करोड़ की आमदनी (हैं)। (मैंने) कहा— दरबार! एक साल में एक लाख माँगे या दो लाख माँगे वह छोटा भिखारी है! और करोड़ माँगे, वह बड़ा भिखारी है!! हमको कहाँ उसके पास से पैसे की अपेक्षा थी कि राजा प्रसन्न हो जायेगा तो... बैठा था... सामने सुनता था! दो भाई आये थे। एक उसका छोटा भाई था। राजा और राजकुमार दोनों सभा में आये थे। जो अधिक इच्छा रखता है, वह बड़ा भिखारी! थोड़ा

माँगे, वह छोटा भिखारी! थोड़ा माँगे, वह छोटा भिखारी! अधिक माँगे, वह बड़ा भिखारी! माँगण अर्थात् भिखारी!! आहा...हा...!

(ऐसा कहा) परन्तु हमसे क्या कहे? यहाँ हमारे पास कुछ लेना-देना है? कि भाई वह प्रसन्न होवे तो चन्दा–वन्दा करो पैसे का....! सही बात महाराज! बेचारा ऐसे कहता था, हों! दरबार स्वयं (ऐसा कहता था)! उसका नाम क्या था? 'कृष्णकुमार।' वह तो गुजर गया बेचारा। उसका पुत्र है। भावनगर जाते हैं तो व्याख्यान में आता है। एकाध बार आवे, एकाध बार आवे। बाकी तो सिरपच्ची में पड़े और मर गये बेचारे! उसको कहा कि बड़ी... बड़ी... माँग करे, अधिक माँग करे वह बड़ा भिखारी!! वीतराग उसे – पाप के स्वामी को पापी कहते हैं। तथा पुण्य करे और पुण्य का स्वामी हो, तो वह पुण्य का स्वामी भी जड़ है!! क्योंकि पुण्य भी शुभभाव (है)। (यह शुभ)राग, चैतन्य के अभावस्वभाव है। राग को (अर्थात्) चैतन्य के अभावस्वभाव को अपना माने, वह अजीव हो जाता है। मान्यता में अजीव हो जाता है, हों! जीव पलटकर कोई अजीव नहीं हो जाता। आहा...हा...! कठिन बात है! आफ्रिका में नाईरोबी में ऐसी बात सुनना...! कठिन बात, भगवान!

हम तो पूरे काठियावाड़ में (घूमे हैं)। बड़े-बड़े शहर–कलकत्ता, दिल्ली सब जगह गये हैं। सब जगह हज़ारों लोग (आते हैं)। दो-दो हज़ार, पाँच-पाँच हजार, दस-दस हज़ार लोग सभा में होते हैं–आहा...हा...! यह बात तो रुचना, सुहाना, यह बहुत अलौकिक बात है!! यह वस्तु पर है।

यहाँ तो अबद्ध और ज्ञायक हूँ–ऐसा विकल्प भी दुःखरूप लगता है। आहा...हा...! पैसा, लक्ष्मी या आबरू या मणिरत्न के ढेर या सन्दूक भरे हो... मणिरत्नों के...! आहा...हा...! 'सरदार शहर' में एक दीपचन्दजी के मामा। सोना के सन्दूक भरे हैं। दस करोड़ तब कहते थे–बहुत महीने–वर्ष पहले। अभी तो उसकी कीमत बहुत बढ़ गयी। वे सब सोना और रत्न और मणिरत्न के सन्दूक भरे हों परन्तु (वे सब) भिखारी हैं। पर के माँगनेवाले (हैं), पर का माँगता है। यहाँ तो (कहते हैं) ज्ञायक और अबद्ध हूँ–ऐसा भी विकल्प करे तो वह दुःखरूप और विकारी है। आहा...हा...! भभूतमलजी! क्या करना यह? बैंगलोर में मन्दिर बनाने में इन्होंने आठ लाख रुपये दिये हैं। पहले से कहा था कि आठ या दस या बीस लाख जो हो वह। राग की ममता होवे तो धर्म नहीं। पहले से ऐसी बात है।

**मुमुक्षु :** ये आठ के बत्तीस लाख हो गये, वह तो कहो। आठ लाख होवे तो उसके चालीस लाख हुए।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो पुण्य के कारण हुए हैं। यह बात सत्य है, ये यहाँ रहे, उसमें दो करोड़ का स्टील था, वह स्टील रह गया और यहाँ रुक गये और भाव बढ़ गया। आठ लाख खर्च किये और चालीस लाख बढ़े। यह तो पूर्व के पुण्य के योग से है। लोग ऐसा कहते हैं कि महाराज के नाम से आठ लाख खर्च किये और चालीस लाख हो गये। परन्तु उसे और इसे क्या सम्बन्ध है? यह तो पूर्व के पुण्य का योग आया उस समय अर्थात् चालीस लाख दिखाई दिये बाहर में। चालीस लाख क्या? करोड़ और दो करोड़ और पाँच करोड़ निकले अन्दर से। आहा...हा...!

श्वेताम्बर में एक नहीं कहते, क्या कहते हैं? वस्तुपाल और तेजपाल! करोड़ों रुपया (था)। (वे लोग) यात्रा करने निकले। कितने (रुपये थे)? कि अरबों रुपये! अपने मकान की जगह खाली होगी, वहाँ खड्डा करके गाढ़ने गये—वह ऐसे कि हमें बाहर जाना है और ये रुपये ऐसे खुले पड़े रहे (इसके बजाय) यहाँ (जमीन में) गाढ़ देते हैं। वे खोदने जाते हैं, वहाँ दूसरे करोड़ों ही करोड़ों रुपये निकले! अभी तो गाढ़ने गये तो करोड़ों निकले! पत्नियों ने कहा...! पत्नियों ने...! कि आप गाढ़ने गये तो भी इतने निकले (तो) आप गाढ़ते क्यों हो? यहाँ धर्म के नाम से खर्च करो न, तो पुण्य तो होगा। यह पाप तो तेरा एक तरफ रहा! आ...हा...हा...! पत्नी ने उसको कहा! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि अबद्ध और ज्ञायक (हूँ)—ऐसे विकल्प भी दुःखरूप लगे, आहा...हा...! तब इसे अन्तर स्वभावसन्मुख होने की दृष्टि जाती है। आहा...हा...! ऐसे तो कई जीव हैं। बहुत देखे... बहुत देखे हैं, पूरा काठियावाड़ (देखा है)। कई बड़े-बड़े राजा भी व्याख्यान में आते हैं। लखतर, वढ़वाण, सब जगह हम जायें, तब व्याख्यान में अवश्य आयें। सुना न हो कभी, परन्तु सुनकर बेचारों (को ऐसा लगे) यह क्या बात करते हैं यह महाराज! उनको कुछ लेना-देना नहीं है और यह क्या कहते हैं?

मार्ग यह है! देह छूटने पर जाना है कहीं न कहीं, (तो) कहाँ निवास करना है तुझे? देह तो छूट जायेगी। यह तो जड़ है—मिट्टी (है)। इसकी समय मर्यादा है। इस समय मर्यादा

में एक समय भी बढ़े, ऐसा नहीं है। जितने दिन और महीने जा रहे हैं, वे सब मृत्यु के समीप जा रहे हैं। जो उसका–मृत्यु का नियम है–जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस प्रकार (देह छूटनी है), उसके समीप आयु जा रही है। वह उसके समीप जा रही है। 'माँ' कहती है कि बड़ा हुआ। प्रभु कहते हैं कि मृत्यु के समीप गया! अरे... अरे... यह बात! दुनिया से उलटी है!

यहाँ तो बहिन ऐसा कहते हैं कि तू '**अबद्ध हूँ**', '**ज्ञायक हूँ**',... यहाँ तक आया हो तो भी वह विकल्प दुःखरूप है। आहा...हा...! **शान्ति नहीं मिलती,...** उस विकल्प में भी शान्ति नहीं है, प्रभु! आहा...! भगवान अन्दर शान्ति का सागर, आनन्द का सागर विराजमान है, उसे तू विकल्प से पकड़ने जायेगा, (तो ऐसे वह) पकड़ में नहीं आयेगा, प्रभु! आहा...हा...! शुभराग की वृत्ति है, वह दुःखरूप है (और) भगवान आनन्दरूप है, तो दुःख से आनन्द नहीं मिल सकेगा। आहा...हा...! दुःख से आनन्द मिले? दुःख का साधन राग और उससे निर्मल आनन्द मिलेगा? कहते हैं कि विकल्प है, वह दुःखरूप है, शान्ति नहीं मिलती। आहा...हा...! यहाँ तक आया तो भी कहते हैं कि शान्ति नहीं मिलती। अभी बाहर में भटकते हैं, उनकी तो बात ही क्या करना? वे तो दुःख के ढेर में पड़े हैं अभी!

**विकल्पमात्र (में) दुःख ही दुःख भासता है,...** धर्मी को तो आहा...हा...! अन्तर्मुख जाने में शान्ति का सागर भगवान आत्मा! अरे...! कैसे बैठे? बड़ा सागर–समुद्र हो, उसके किनारे गया हो और एक चार हाथ का...! क्या कहलाता है वह? पर्दा पड़ा हो। चार हाथ का पर्दा हो (तो) इसकी नज़र में वह पर्दा आयेगा। वस्तु–सागर नज़र नहीं आयेगा। चार हाथ का कपड़ा होगा तो आड़ में इसे वह पर्दा दिखेगा, वस्तु नहीं दिखेगी। वैसे अन्दर आनन्दसागर भगवान है, वह राग के पर्दे में यदि अटका तो उसे आत्मा नहीं ज्ञात होगा और दुःख ज्ञात होगा। आहा...हा...! ऐसी बात है। दुनिया को कठिन लगे! लेकिन क्या है, बापू! यह वस्तु है।

देह छूटने पर प्रभु! तुझे कहाँ जाना है? यह देह तो छूट जायेगी। 25-50-60 वर्ष हुए, इतने तो फिर से अब निकलनेवाले हैं नहीं। 50-60 साल हुए, वे कोई (अब)

निकलेंगे नहीं। थोड़ा समय है। कहाँ जाना है, बापू? आहा...हा...! यदि आत्मा में जाना हो तो विकल्प (में) दुःख लगना पड़ेगा। (फिर) विकल्प छोड़कर अन्दर में (जायेगा) तो (वहाँ) शान्ति मिलेगी। इसके बिना कहीं शान्ति मिले, ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

**विकल्पमात्र में दुःख ही दुःख भासता है,...** आहा...हा...! ज्ञानी को...! **तब अपूर्व पुरुषार्थ उठाकर...** अपूर्व अर्थात् पूर्व में नहीं किया हो (ऐसा) पुरुषार्थ। अन्दर चेतन राजा दरबार बादशाह विराजमान है। आहा...हा...! उससे भेंट करनी है। विकल्प के दुःख को छोड़कर अन्दर में जायेगा तो उसकी भेंट इसे होगी। बाह्य विकल्प से उसकी भेंट नहीं होगी। आहा...हा...! यहाँ (तो) दगा, प्रपंच और... आहा...हा...! पैसे के लिये दगा, प्रपंच, क्लेश, कपट, माया, कुटिलता... आहा...हा...! प्रभु! उसके दुःख की तो सीमा नहीं, परन्तु ज्ञायक के लिये भी यदि विकल्प उठाया (तो) वह (भी) दुःख है।

वही (यहाँ कहते हैं) **अपूर्व पुरुषार्थ उठाकर...** (अर्थात्) इस विकल्प का पुरुषार्थ भी छोड़कर, आहा...हा...! ज्ञान तो करे, जानकारी तो करे कि मार्ग यह है। सुने बिना तो मार्ग का पता भी न चले, यूँ ही जगत चला जा रहा है। आहा...हा...! **तब अपूर्व पुरुषार्थ उठाकर वस्तुस्वभाव में लीन होने पर,...** आहा...हा...! अबद्ध और ज्ञायक की वृत्ति उठती है, वह भी विकल्प–राग है, दुःख है। प्रभु तो अमृत का सागर आनन्द है। यह अमृत किसी को मारता नहीं, अमृत किसी से मरता नहीं। आहा...! यह अमृत का सागर भगवान अन्दर पड़ा है, डोल रहा (है)। परन्तु वहाँ नज़र किये बिना निधान दिखता नहीं है। इसकी ओर नज़र किये बिना निधान पड़ा हुआ दिखता नहीं है। वस्तु यूँ सामने हो लेकिन उस पर नज़र न करे तो दिखती नहीं। वैसे अन्दर भगवान आत्मा आबालगोपाल को (अनुभव में आ ही रहा है)। वह 17-18 गाथा में आयेगा। इस में तो (अभी) 15 वीं लेनी है न? 14 वीं के बाद 15 वीं, इसके बाद 17-18 गाथा है, उसमें आता है। आबाल-गोपाल! 17-18 वांचन में (लेनी है–ऐसा तुमने) लिखा है।

वहाँ ऐसा लिया है। आबाल–गोपाल – बालक से लेकर वृद्ध सब को उसकी ज्ञान की पर्याय में आत्मा जानने में आता है। अज्ञानी को भी ज्ञान की पर्याय में आत्मा ज्ञात होता है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। 17-18 गाथा में आयेगा। यह ज्ञान की पर्याय–दशा जो है, उसका

स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होने से, उस ज्ञान की पर्याय में प्रभु जानने में आता है परन्तु तेरी नज़र वहाँ नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? ज्ञान की जो पर्याय है न! यह विचार– जो व्यक्त ज्ञान (है)। जानने की जो प्रगट-प्रगट पर्याय है न! उस पर्याय का स्वभाव स्व-पर जानने का है। भगवान त्रिलोकनाथ की पुकार है कि इस अज्ञानी की ज्ञानपर्याय भी आत्मा को जानती है। अज्ञानी की ज्ञान की पर्याय भी त्रिकाली–त्रिलोकीनाथ आत्मा को जानती है। फिर भी उसकी नज़र वहाँ नहीं है, इसलिए पर्याय में अटककर, राग में रुककर, जो चीज़ नज़र के सामने पड़ी है, उसे देखता नहीं है। आहा...हा...! कठिन बात है! यह तो एकदम तीव्र पुरुषार्थ उठाये तो यह काम चले, ऐसा है। साधारण पुरुषार्थ से यह काम चले – ऐसा नहीं है। आहा...हा...हा...!

यहाँ तो धर्म की बात है, प्रभु! जिससे भव कम हो व भव का नाश हो यह बात है। भव करेगा तो निगोद में जायेगा। आहा...हा...! पहले कहा न? त्रस में रहेगा तो 2000 सागर रहेगा। यह निगोद में से–एकेन्द्रिय में से बाहर आया है न! वह बाहर में 2000 सागर रहेगा। ये 2000 सागर यदि इसी ममता और ममता में ही पूरे हुए (तो) फिर से निगोद में जायेगा। ये लहसुन और प्याज में जायेगा! आ...हा...हा...! पण्डितजी! आया है न? दो हज़ार सागर (की) त्रस (की स्थिति) में मनुष्य के भव करे तो 48 (भव) करे। मनुष्य का भव एक के बाद एक करे तो ऐसे आठ करे। मनुष्य मरकर मनुष्य, मनुष्य मरकर मनुष्य – इस प्रकार करे तो आठ भव करे – ऐसा शास्त्र में पाठ है। ऐसे आठ भव अनन्त बार हो चुके। अनन्त बार...! परन्तु 2000 सागर की जो त्रस की स्थिति है, त्रस में 2000 (सागर) रहता है, इसमें भी 8-8 मनुष्य के भव करते हुए, 6 बार, 8-8 अर्थात् 48 भव करे। समझ में आया? क्या कहा यह?

एकेन्द्रिय से निकलकर जहाँ पंचेन्द्रिय (में) आया है, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, ऐसे 2000 सागर तक रहेगा। फिर (त्रस में से) निकलकर एकेन्द्रिय में जायेगा। इसमें कहते हैं कि 2000 सागर में मनुष्य के भव लगाताररूप से किये तो 8 किये और ऐसे 8 भी 6 बार किये (अर्थात्) 48 किये। परन्तु आत्मा का (हित) किया नहीं। 48 भव 2000 सागर के अन्दर किये!! आहा...हा...! 2000 सागर में भी असंख्य अरब वर्ष हैं। उसमें 48 बार मनुष्य हुआ है। (ऐसा) कहते हैं। लगातार होवे तो 8 बार (होते हैं)।

लेकिन 8 बार होकर फिर से दूसरे में–नरक-तिर्यंच में जाता है, फिर से मनुष्य होवे–ऐसे भव करे तो पूरे 2000 सागर में (मनुष्य के) 48 भव करता है। फिर मरकर निगोद या नरक में जायेगा। आहा...हा...! यदि इसने आत्मा का काम नहीं किया, अरेरे...! यदि अपनी गति नहीं सुधारी (तो फिर से निगोद में जायेगा)।

यहाँ यह कहते हैं कि अपूर्व पुरुषार्थ जागृत कर! **वस्तुस्वभाव में लीन होने पर,...** आहा...हा...! भगवान आत्मा! उसका–वस्तु का स्वभाव जो है–ज्ञान, दर्शन और आनन्द, उसमें लीनता होने पर, **आत्मार्थी जीव को सब विकल्प छूट जाते हैं...** आहा...हा...! इस पंचम काल में सब अवसर आ चुका है–सब अवसर आ मिला है। उसमें यह जो नहीं किया, विकल्प तोड़ा नहीं और निर्विकल्पदृष्टि करेगा नहीं तो उसका छुटकारा कभी नहीं आयेगा।

वही यहाँ कहते हैं, **आत्मार्थी जीव को सब विकल्प छूट जाते हैं...** आहा...हा...! ज्ञायक हूँ, अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, पवित्रता का पिण्ड हूँ–ऐसा भी एक विकल्प अर्थात् राग, वह भी दुःखरूप है। आहा...हा...! तो बाह्य चीजों के लिये उत्पन्न हुए राग-द्वेष की बात तो क्या करे? वह तो दुःख का सागर है, बापू! आहा...हा...! अन्दर में ज्ञायक और अबद्ध आदि का विकल्प भी दुःखरूप है। इसलिए सब विकल्प छूट जाते हैं। **और आनन्द का वेदन होता है।** तब उसको सम्यग्दर्शन होता है। आहा...!

सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या? ऐसा कोई भाई पूछते थे। 'चिमनभाई', 'कनुभाई' के भाई 'चिमनभाई' पूछते थे कि भाई! सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या? सम्यग्दर्शन अर्थात् अन्तर (आत्मा का) अनुभव करना। राग छोड़कर, विकल्प छोड़कर चैतन्य का अनुभव करना और उसमें प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन (है)। मैं परमात्मस्वरूप हूँ, मैं ज्ञाता–दृष्टा हूँ, मेरे स्वभाव में विकल्प और अल्पता है नहीं। विकल्प और अल्पता है नहीं (ऐसा कहा)। आहा...हा...! ऐसे पूर्ण स्वभाव की अन्तर में विकल्प रहित प्रतीति होना, उसको यहाँ सच्ची श्रद्धा और सम्यग्दर्शन और धर्म की पहली सीढ़ी–शुरुआत कहते हैं। आहा...हा...! बाहर भटककर बाहर से कुछ मान लेता है। जहाँ जाना है, वहाँ जाता नहीं और बाहर में भटकता रहता है। आहा...हा...!

**और आनन्द का वेदन होता है।** विकल्प सब छूट जाये तो भगवान में आनन्द है, उसका वेदन होता है। तब उसको धर्म की दशा होती है। तब वह प्राणी भव का अन्त करके मुक्ति को पाता है। इसके बिना भव का अन्त आता नहीं। आहा...हा...! यह 37 वाँ (हुआ)।

**आत्मा को प्राप्त करने का जिसे दृढ़ निश्चय हुआ है, उसे प्रतिकूल संयोगों में भी तीव्र एवं कठिन पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। सच्चा मुमुक्षु सद्गुरु के गम्भीर तथा मूल वस्तुस्वरूप समझ में आये ऐसे रहस्यों से भरपूर वाक्यों का खूब गहरा मन्थन करके मूल मार्ग को ढूँढ़ निकालता है॥38॥**

(अब) 38 (वाँ बोल)। **आत्मा को प्राप्त करने का जिसे दृढ़ निश्चय हुआ है...** पैसे की प्राप्ति का और पत्नी की प्राप्ति का या आबरू पाने का, यह (बात) नहीं। आहा...हा...! **आत्मा को प्राप्त करने का जिसे दृढ़ निश्चय हुआ है, उसे प्रतिकूल संयोगों में भी...** आ..हा...हा...! शरीर में रोग आये! देखो न! उस दो जगह... आज आये थे न? वे 'झवेरचन्दभाई' दस वर्ष से, 'चन्द्रिकाबेन' उनके यहाँ गये तो (एक भाई के वहाँ गये वहाँ) बेचारे रोने लगे। आँखों से आँसू गिरने लगे। आज एक भाई आये थे। मेघजीभाई! ऐसे शरीर हो जाते हैं। काम कर सके नहीं, आत्मा का कर सके नहीं और बाहर का कर सके नहीं। आहा...हा...! ऐसे भव भी अनन्त हुए हैं। यह भव पहला नहीं, ऐसे तो अनन्त बार हुए हैं।

इसलिए (यहाँ कहते हैं) **आत्मा को प्राप्त करने का जिसे दृढ़ निश्चय हुआ है...** (अर्थात्) मुझे तो आत्मा चाहिए और कुछ नहीं चाहिए। आहा...हा...! उसे प्रतिकूल संयोगों में (अर्थात्) शरीर (में) आहा...हा...! पक्षघात हो, रोग हो, दिमाग फिर जाये–ऐसे प्रतिकूल संयोगों में भी, आहा...हा...! **तीव्र एवं कठिन पुरुषार्थ...** करना चाहिए। कठिन अर्थात् कठोर। आहा...हा...! गुजराती भाषा है न! कठिन (अर्थात्) तीव्र (कठोर) पुरुषार्थ करना है। वह **करना ही पड़ेगा।** है न? **कठिन पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा।** चाहे जैसी प्रतिकूलता हो! जगत में निन्दा हो, प्रतिकूलता हो, शरीर में रोग हो, क्षय रोग लागू पड़े, (वह) शरीर को (लागू) पड़ता है। इसे तीव्र पुरुषार्थ करके आत्मा में जाना। उसे पाने

का यह उपाय है, अन्य कोई उपाय है नहीं, आहा...! ऐसा तीव्र पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा।

**सच्चा मुमुक्षु सद्गुरु के गम्भीर तथा मूल वस्तुस्वरूप समझ में आये ऐसे रहस्यों से भरपूर वाक्यों का खूब गहरा मन्थन करके...** धर्मात्मा के वचन बहुत गम्भीर होते हैं, गहरे होते हैं। धर्मी जीव (के) रहस्यों से भरपूर वाक्यों का सच्चा मुमुक्षु बहुत गहरा मन्थन करके **मूल मार्ग को ढूँढ़ निकालता है।** आ...हा...हा...!

अन्तर में चैतन्य भगवान जागृत ज्योत पड़ी है! परमेश्वर स्वरूप है। 38 वीं गाथा में कहा है न? 38 गाथा। वह अपने परमेश्वर को भूल गया। अन्य परमेश्वर के पीछे लगा – भगवान को, तीर्थंकर को, परन्तु वे तो पर हैं। पर का अवलम्बन लिया कि वहाँ राग है। आ...हा...हा...! अपने परमेश्वर को भूल गया और दूसरे परमेश्वर की महिमा मानकर वहीं अटक गया। आहा...!

यहाँ कहते हैं कि धर्मात्मा के (वस्तुस्वरूप को) समझायें ऐसे **रहस्यों से भरपूर वाक्यों का खूब गहरा मन्थन करके...** (ऐसा कहते हैं)। **खूब गहरा मन्थन करके...** आहा...हा...! अन्दर में जाने का तीव्र पुरुषार्थ करके! ये बहिन के अन्दर के वचन हैं न! **मूल मार्ग को ढूँढ़ निकालता है।** अन्दर में बहुत मन्थन करके, विकल्प से रहित होकर प्रभु को ढूँढ़ निकालता है। यह भगवान चैतन्य आनन्दमूर्ति है। ऐसे समकिती, ऐसे धर्म की पहली सीढ़ीवाला, विकल्प को तोड़कर सम्पूर्ण को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण ऐसा आत्मतत्त्व–उसे प्राप्त कर लेता है। वह प्राप्त कर लेता है वह आत्मा है, वह समकिती है, वह सच्ची श्रद्धावाला है। वह मोक्ष के मार्ग पर है। वह संसार के अन्त में आ गया है। उसके संसार का अन्त–भव का अन्त आ गया है। आहा...हा...!

अटकने के साधन अनन्त; छूटने का साधन एक। यह क्या कहा? बाहर में अटकने के साधन अनन्त। राग, द्वेष, पुण्य और शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, आबरू-कीर्ति, बेटा, बेटी, बहू और ...बड़ी पलटन! (ऐसे) बाहर में अटकने के (स्थान हैं)। रायचन्द्र भाई को तो कहाँ कोई है, पति-पत्नी दो ही हैं, बस! बहुत सारे बच्चे हो, फिर उसकी बहुएँ, फिर उसके बच्चे... ऐसे अटकने के साधन बहुत, प्रभु! छूटने का साधन एक। इस चैतन्यमूर्ति भगवान तरफ जाना, यह छूटने का एक साधन। आहा...हा...! मार्ग

यह है। इस मार्ग का ख्याल तो करे, प्रभु! आहा...हा...! बहुतों को देखा है–करोड़पतियों को, अरबपतियों को, आहा...! परन्तु बेचारों (को) कुछ समझ नहीं। दिमाग में समझ न पड़ती। कहा नहीं था?

अभी, मुम्बई में एक वैष्णव आया था। पचास करोड़ रुपये! दर्शन करने आया था। वैष्णव (था) और घर में बहुएँ सब अपनी जैन, श्वेताम्बर जैन की लड़कियाँ और जितने आदमी (वे) सब वैष्णव, पचास करोड़। दर्शन करने आया था (तब कहा) 'महाराज!' वे लोग कर्ता मानते हैं न विष्णु को? 'परमेश्वर कर्ता है या नहीं?' (मैंने कहा) ''प्रभु! 'नरसिंह महेता' ने कहा है कि, 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी...'' आत्मा को न जाने, तब तक सब मिथ्या भ्रम है।

जुनागढ़ में वैष्णव में एक 'नरसिंह महेता' हो गये। 'नरसिंह महेतो, भगत हरिना, जुनागढ़ ना रहेवासी' (ऐसे) आता है, बड़ी कथा आती है। वे ऐसा कहते (हैं) कि, 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्यो नहीं' – जब तक अन्तर में आत्मा को जानने का प्रयत्न नहीं किया, उसे पहचाना नहीं, तब तक इसने 'शुं कर्युं तीर्थ ने तप करवा थकी?' 'शुं कर्युं जात्रा ने दान करवा थकी?' इससे कोई आत्मा प्राप्त हो, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि, (सच्चा मुमुक्षु) **गहरा मन्थन करके मूल मार्ग को ढूँढ़ निकालता है।** आहा...हा...! यह ३८ (हुआ)।

**सहज दशा को विकल्प करके नहीं बनाये रखना पड़ता। यदि विकल्प करके बनाये रखना पड़े तो वह सहज दशा ही नहीं है। तथा प्रगट हुई दशा को बनाये रखने का कोई अलग पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता; क्योंकि बढ़ने का पुरुषार्थ करता है, जिससे वह दशा तो सहज ही बनी रहती है॥39॥**

39 (बोल) **सहज दशा को विकल्प करके नहीं बनाये रखना पड़ता।** क्या कहते हैं? आत्मा अन्दर में राग रहित, विकल्प की वृत्ति रहित है–ऐसा जानने में आया, उसे फिर से अब कोई भेद करना पड़ता नहीं। भेदज्ञान निरन्तर चलता ही रहता है। भले

खाता हो, पीता हो, बोलता हो, परन्तु अन्तर में राग से भिन्न हो चुका है, ऐसा भेदज्ञान सदा निरन्तर रहा ही करता है। है (अन्दर)? **सहज दशा को विकल्प करके नहीं बनाये रखना पड़ता।** राग से भिन्न पड़ा है–ऐसा जो भगवान! इसका जिसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ, उसे विकल्प करके (दशा को) बनाये रखनी नहीं (पड़ती)। यदि विकल्प करके बनाये रखनी पड़े फिर तो वह सहज दशा ही नहीं है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात है।

राग करके (दशा बनाये रखनी पड़े तो) वह सहज दशा ही नहीं है। सहज दशा! आनन्द स्वरूप भगवान, राग से भिन्न पड़ा, उसे सहज दशा हुई है। उसे अब राग को भिन्न करने का नया प्रयत्न करना नहीं पड़ता। भिन्न कर दिया, वह अब भिन्न हुआ ही करता है। आहा...हा...! ऐसी बातें अब! साधारण समाज! प्रभु! समाज साधारण है, आत्मा साधारण नहीं है। आत्मा तो बड़ा भगवान है!

सुबह कहा नहीं था? कि धर्मध्यान का विचार करनेवाला अपायवाला ऐसे विचार करता है..! 'द्रव्यसंग्रह' में है। 'द्रव्यसंग्रह' लाये हो? है इसमें, 'अपाय' का निकालिये...! उसमें धर्मध्यान का अपाय का विचार है। हमें तो हज़ारों ग्रन्थों का स्वाध्याय है न! हज़ारों! करोड़ों श्लोक...! उसमें एक लेख है–धर्मध्यान का! अपायविचय–समकिती राग से भिन्न होकर जब आत्मा का विचार करता है, 'अपाय' अर्थात् विचार करता है–'मैं शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द हूँ और मैं अब पूर्ण होना चाहता हूँ, मेरी दशा अब सिद्ध होनेवाली है। मेरी तो होनेवाली है, परन्तु वह करुणा से ऐसा विचार करता है कि ***'सभी आत्माएँ भगवान होओ!!!'*** आहा...! ऐसा है। अन्दर देखो! धर्मध्यान है।

इसी तरह वीतरागी रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्मों का नाश कब हो? उस प्रकार का चिन्तन उसे अपायविचय कहते हैं। कोई प्राणी भटके और दुःखी हो – ऐसा विचार धर्मी नहीं करता। आहा...हा...! है? हमारे और दूसरे जीवों के कर्मों का नाश कब हो? इस प्रकार का चिन्तन अपायविचय नाम का दूसरा धर्मध्यान जानना। 'द्रव्यसंग्रह' है। छह द्रव्यों की व्याख्या है, उसमें धर्मध्यान के 'अपाय' बोल की व्याख्या है।

हम भी चैतन्यप्रभु हैं। हम भी पूर्ण परमात्मा होनेवाले हैं और सभी आत्माएँ पूर्ण

होओ! भगवन्त होओ! ऐसी भावना धर्मी को होती है। कोई प्राणी दुःखी हो व भटकता रहे, आहा...हा...! ऐसे विचार की भावना धर्मी को नहीं होती। ऐसा यहाँ है। गाथा है। कौन-सी गाथा है? 48 वीं गाथा है। 48 गाथा 'द्रव्यसंग्रह!' क्या कहा समझ में आया इसमें? आहा...!

राग से भिन्न होकर धर्मध्यान–आत्मा के विचार की धारा बहती है, तब धर्मी ऐसा विचार करता है कि मैं अब पूर्ण होनेवाला हूँ, परमात्मा होनेवाला हूँ! भले ही एक-दो भव करने पड़े परन्तु अन्त में मेरी दशा सिद्ध होनेवाली ही है! मैं तो सिद्ध होऊँगा, परन्तु सर्व जीव कर्मों का नाश करके सिद्ध होओ! आहा...हा...हा...! ऐसा लेख है। चन्दुभाई! सर्व जीव...! आहा...हा...! धर्मध्यान का दूसरा बोल! आर्त्त (ध्यान), रौद्र ध्यान है, वह छोड़नेयोग्य है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान आदरणीय है। धर्मध्यान पहले नम्बर आदरणीय है। शुक्लध्यान सर्वथा आदरणीय है। उस धर्मध्यान के अपाय का यह बोल है। आहा...हा...!

मैं भी अल्पकाल में परमात्मा होनेवाला हूँ, यह निश्चित है–ऐसा धर्मी अन्दर में विचार करता है। परन्तु अन्य सर्व प्राणी भी कर्मों का नाश करके परमात्मा होओ!! आहा...हा...हा...! देखो! यह धर्मध्यान का विचार! किसी भी प्राणी के प्रति वैरबुद्धि नहीं है, किसी प्राणी के प्रति शत्रुबुद्धि नहीं है, किसी प्राणी के प्रति अल्प-हलकी बुद्धि नहीं है। उसका जो द्रव्यस्वभाव है, उस पर दृष्टि है कि यह उसका द्रव्यस्वभाव है। उसे पकड़कर वह भी मुक्ति को प्राप्त हो!! आ...हा...हा...हा...! बोलो, भगवानजीभाई! यह भावना...! धर्मी की ऐसी भावना होती है। धर्मी को कोई दुश्मन नहीं होता, धर्मी को कोई बैरी-शत्रु नहीं होता। जो बैरी-शत्रु मानता हो, उसकी भी मुक्ति हो जाओ!! वह भी बन्धन और दुःख से छूट जाओ!! ऐसी धर्मी की भावना अपाय अर्थात् विचारधारा से चलती रहती है। आहा...हा...!

वही यहाँ कहा, **(सहज दशा को) विकल्प करके नहीं बनाये रखना पड़ता।** (ऐसी) सहज दशा है। **तथा प्रगट हुई दशा को बनाये रखने का कोई अलग पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता; क्योंकि बढ़ने का पुरुषार्थ करता है...** (बढ़ने का पुरुषार्थ) चलता ही है। क्या कहते हैं? जहाँ राग से भिन्न होकर यह भेदज्ञान हुआ, वह भेदज्ञान (की) धारा तो निरन्तर चलती ही रहती है। इसके लिये नया पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता। पुरुषार्थ, स्वभाव

की ओर झुका हुआ है ही। पुरुषार्थ, स्वभाव के प्रति झुका है ही, वह झुका हुआ पुरुषार्थ बढ़ता ही जाता है। वह अन्तर में राग हो उसे जानता है, परन्तु राग में अटकता नहीं। ऐसी धर्मध्यान की धारा... आहा...हा...! प्रगट हो!–**जिससे वह दशा तो सहज ही बनी रहती है।** अन्तर में बढ़ने से, राग से भिन्न होकर, स्वभावसन्मुख की दशा के कारण नया पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता। उसमें दशा वृद्धिगत होती रहती है। वह दशा तो सहज बनी रहती है। सहज स्वभाव टिका रहता है। इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और उसे धर्मी की दशा कहने में आती है। उसके भव का अन्त हो जायेगा और दूसरे के भव का अन्त हो– ऐसी भावना करेगा, उसे यहाँ धर्मी कहने में आता है।

(विशेष कहेंगे...) (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य कभी बँधा नहीं है। मुक्त है या बँधा है, वह व्यवहारनय से है, वह पर्याय है। जैसे मकड़ी अपनी लार में बँधी है, वह छूटना चाहे तो छूट सकती है, जैसे घर में रहनेवाला मनुष्य अनेक कार्यों में, उपाधियों में, जंजाल में फँसा है परन्तु मनुष्यरूप से मुक्त है; वैसे ही जीव विभाव के जाल में बँधा है, फँसा है परन्तु प्रयत्न करे तो स्वयं मुक्त ही है ऐसा ज्ञात होता है। चैतन्य पदार्थ तो मुक्त ही है। चैतन्य तो ज्ञानआनन्द की मूर्ति—ज्ञायकमूर्ति है, परन्तु स्वयं अपने को भूल गया है। विभाव का जाल बिछा है उसमें फँस गया है, परन्तु प्रयत्न करे तो मुक्त ही है। द्रव्य बँधा नहीं है॥47॥**

## प्रवचन—6 वचनामृत—47 से 50

(वचनामृत) 47 बोल, फिर से (लेते हैं)। **त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य कभी बँधा नहीं है।** क्या कहते हैं? प्रभु! यह आत्मा जो अन्दर वस्तु है वस्तु। वस्तु उसे कहते कि जिसमें अनन्त-अनन्त गुण बसे हुए हैं, रहे हुए हैं। ऐसा भगवान आत्मा, सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव ने कहा है, देखा है—वह जीव ध्रुव (है), त्रिकाली ध्रुव है। वह ध्रुव द्रव्य कभी बँधा नहीं। कठिन बात है प्रभु! पर्याय में बन्धन और पर्याय में मुक्ति दिखती है। पर्याय अर्थात् क्या? अवस्था। वस्तु अर्थात् क्या? त्रिकाल रहनेवाला तत्त्व। यह त्रिकाल रहा तत्त्व कभी बँधा नहीं। आहा...हा...! है?

**मुक्त है या बँधा है, वह व्यवहारनय से है,...** सूक्ष्म बात है, प्रभु! अनन्त काल से सत्य को सुना नहीं। इस देह में भगवान विराजमान है। चैतन्य द्रव्य के रूप में वस्तु है वस्तु। यह वस्तु है द्रव्यरूप, तत्त्वरूप, वह स्वयं बँधा हुआ नहीं और मुक्त नहीं। वस्तु तो अन्दर बन्ध और मुक्त की पर्याय से रहित है। आहा...! ऐसी बात!

प्रभु ! तेरी महानता का पार नहीं। तू अन्दर में एक समय की अवस्था को देखे बिना त्रिकाली को देख तो वह त्रिकाली चीज़ तो बन्धनयुक्त या मुक्त है ही नहीं। बन्धन और मुक्ति, यह तो एक समय की पर्याय में वर्तमान व्यवहारनय का उपचारित विषय है। आहा... ! ऐसी बात है, प्रभु ! यह तत्त्व अन्दर में (मौजूद है), अनन्त काल में एक सेकंडमात्र भी यह तत्त्व क्या है ? उस पर लक्ष्य और ध्यान भी गया नहीं। बाह्य प्रवृत्ति में अटककर, स्वयं क्या चीज़ है ? इसकी इसने सँभाल नहीं की। वह यहाँ कहते हैं।

***ये बहिन के वचन हैं। बहिन को नौ भवों का ज्ञान है। असंख्य अरब वर्षों का पूर्वभव का जातिस्मरण (ज्ञान) है। सूक्ष्म बात है, बापू ! भगवान सीमन्धर परमात्मा विराजते हैं। वहाँ थे, वहीं से आये हैं और अन्दर में अनुभव होकर, राग से भिन्न पड़कर चैतन्य घन, नारियल में गोला जैसे पृथक् पड़ जाता है, वैसे सम्यग्दर्शन होने पर, धर्म की पहली दशा आने पर, राग से और शरीर से भगवान – ( चैतन्य) गोला भिन्न दिखता है ! आहा...हा... ! कठिन बात है, प्रभु !***

तेरी प्रभुता से भरा हुआ जो तत्त्व है, वस्तु जिसको कहते हैं, वह बन्धन और मुक्ति तो पर्याय में–अवस्था में है। वस्तु त्रिकाल निरावरण है। आहा...हा... ! यह बात कैसे बैठे ? बाह्य प्रवृत्ति में गले तक डूब गया (है)। इसमें यह तत्त्व अन्दर (कैसे बैठे) ?

बँधा हुआ या मुक्त, सो तो व्यवहारनय से है, वह तो पर्याय है। वह तो द्रव्य की वर्तमान दशा है, परन्तु त्रिकाली चीज़ है, वह तो त्रिकाल निरावरण अखंडानंद प्रभु (है)। जिनेश्वरदेव ने सर्वज्ञ स्वभाव में (ऐसा) देखा है। कल कहा था 'प्रभु तुम जाणग रीति...' प्रभु ! महाविदेह में सीमन्धर परमात्मा, सर्वज्ञ परमात्मा विराजमान हैं। जिनकी लोग सामायिक और प्रतिक्रमण (करते) समय आज्ञा लेते हैं। यह तो ठीक, परन्तु परमात्मा विराजते हैं। उनके मुख से निकली यह दिव्यध्वनि है। वह बहिन को अन्दर में से आयी है। वह किसी समय बोलने में आ गया।

('बहिन') ऐसा कहते हैं कि जो काई आत्मा है, त्रिकाली द्रव्य जो पदार्थ है, वह तो–बन्धन और मुक्ति तो पर्याय में हैं, अवस्था में हैं, वस्तु में नहीं। यह क्या होगा ? वस्तु में नहीं और पर्याय में है ! कभी सुना न हो ! है ?

**जैसे मकड़ी अपनी लार में बँधी है, वह छूटना चाहे तो छूट सकती है,...**

मकड़ी! **जैसे घर में रहनेवाला मनुष्य अनेक कार्यों में, उपाधियों में, जंजाल में फँसा है परन्तु मनुष्यरूप से मुक्त है;...** मनुष्य के रूप में वह कोई (मिट नहीं गया)। पर के व्यापार के समय मनुष्य मिटकर पर के व्यवसाय में कोई घुस नहीं जाता! मनुष्य तो मनुष्यरूप ही सदा है। ये सारी व्यापार-धन्धा आदि की चाहे जिस प्रकार की अवस्था में हो परन्तु वहाँ कोई मनुष्यत्व छूटकर पशु या दूसरी कोई दशा नहीं हो गयी। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु! मनुष्य तो मनुष्य ही है।

**वैसे ही जीव, विभाव के जाल में बँधा है,...** आहा...हा...! भगवान आत्मा! यहाँ तो आत्मा को 'भगवान' कहकर प्रभु सम्बोधन करते हैं!! त्रिलोकनाथ परमात्मा सर्वज्ञदेव और सन्त, आत्मा को 'भगवान' कहकर बुलाते हैं! 74 गाथा में है, 74। ('समयसार') 72 गाथा में है—भगवान आत्मा! आहा...हा...! कैसे बैठे अन्दर? एक बीड़ी ठीक से पीये, वहाँ मज़ा आये, ऐसे में पाँच-पच्चीस लाख कुछ मिल गये, दो-पाँच करोड़ (मिले), उसमें जिसे मज़ा लगे, अब उसे आत्मा अन्दर में पर से भिन्न है, (यह) कैसे बैठे? भगवानजीभाई! आहा...हा...! वह तो जंजाल में फँस नहीं गया।

**जीव विभाव के जाल में बँधा है, फँसा है परन्तु प्रयत्न करे तो स्वयं मुक्त ही है...** आहा...हा...! नारियल में जैसे गोला पृथक् है, वैसे यह राग और शरीर के बीच अन्दर प्रभु भिन्न (बिराजमान है)। सम्यग्दर्शन होने पर, धर्म की प्रथम दशा आने पर, धर्म की प्रथम सीढ़ी होने पर; आत्मा, राग से भिन्न गोला जानने में आता है। तभी उसे अभी सम्यग्दर्शन और धर्म की पहली सीढ़ी—प्रथम श्रेणी कहने में आता है। कठिन बात है, प्रभु! आहा...हा...! बाहर की जंजाल में उलझकर अन्दर मर गया है!

अन्दर चैतन्य भगवान तीन लोक का नाथ अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान से भरा हुआ तत्त्व (मौजूद है)। (यहाँ कहा, जीव) विभाव के जाल में बँधा हुआ है। विभाव अर्थात् विकार, पुण्य और पाप के विकल्प की जाल। मकड़ी जैसे जाल में बँधी है, वैसे यह (आत्मा) पुण्य और पाप के विकल्प के राग के जाल में बँधा है। पर्याय में (बँधा है)! वस्तु में तो वस्तु भिन्न है। यह अब (कैसे) बैठे? ऐसा सुनने मिले नहीं! अरे...! प्रभु!

कहते हैं कि **परन्तु प्रयत्न करे तो स्वयं मुक्त ही है—ऐसा ज्ञात होता है।** सम्यग्दर्शन होने पर, धर्म की पहली दशा प्रगट होने पर, राग से और देह से अन्दर भिन्न (चैतन्य) गोला

ज्ञात होता है। ऐसी वह चीज़ है। आहा...हा...! पृथक् गोला अन्दर पड़ा है, (ऐसा) कहते हैं। कभी नज़र की नहीं, प्रभु! तूने तेरे अन्दर में चैतन्य की सत्ता में नज़र नहीं की है कि क्या यह चीज़ है? आहा...हा...!

इसलिए यहाँ कहते हैं कि वह जीव, विभाव के जाल में बँधा है परन्तु यदि प्रयत्न करे तो स्वयं पृथक् ही है। आहा...हा...! नारियल में (जैसे) गोला पृथक् हो जाता है, वैसे प्रभु राग और शरीर से भिन्न अन्दर जाने तो वह भिन्न ही पड़ा है। आहा...हा...! ऐसी बात अब सुनने भी मिलना मुश्किल पड़े, तो प्रभु उसे समझे तो कब? क्या हो? इसमें ऐसे अनार्यदेश में! ऐसी चीज़ अन्दर क्या है? (यह समझना कठिन पड़े)। आहा...!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! चैतन्य पदार्थ तो अन्दर भिन्न ही है। चैतन्य तो ज्ञान, आनन्द की मूर्ति (है)! आहा...हा...! यह आत्मा जो अन्दर में है, वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द की मूर्ति अर्थात् उसका स्वरूप ही अन्दर यह है। तेरी नज़र उसमें गयी नहीं। नज़र में राग और द्वेष, पुण्य और पाप और पुण्य-पाप के फल बाहर (में) धूल (पैसे) आदि (है)! यह राज मिले, पाट मिले या अरबों रुपये की पैदाइश हो, ये सब धूल-पुण्य के फलस्वरूप (मिली है) तेरी नज़र वहाँ गयी है। तेरी नज़र अन्दर राग से भिन्न चैतन्य है, वहाँ कभी तूने की नहीं। उसका तूने लक्ष्य किया नहीं, इसकी जाति को जानने, सँभालने और जानने, तूने तत्त्व को सँभालने और जानने का प्रयत्न कभी किया नहीं। आहा...हा...! कठिन बात है। है?

**चैतन्य पदार्थ तो मुक्त ही है। चैतन्य तो ज्ञान-आनन्द की मूर्ति...** आहा..हा...! जैसे शक्कर में मीठापन भरा है, उसमें हाथ का मैल दिखे, वह भिन्न है। बालक को रोटी के साथ शक्कर के टुकड़े दे, उसे हाथ से छूए तो मैल चढ़ता है, मैल जैसा दिखता है, परन्तु वह तो ऊपर है। शक्कर मूल चीज़ है, उसमें मीठापन भरा है। वैसे यह भगवान आत्मा...! प्रभु! सूक्ष्म बात है। यहाँ हमारे वहाँ तो (सोनगढ़ में) 45 वर्ष से चलता है। यह बात कोई नई नहीं है। 45 वर्ष से चलती है! अठारह बार तो ('समयसार' के) एक-एक अक्षर के अर्थ सोनगढ़ में हो चुके हैं। हज़ारों लोगों के बीच!

**मुमुक्षु :** ***गुरुदेव! भजन में ऐसा कहते हैं कि हे भगत! यह नयी बात तू कहाँ से लाया?' आप कहते हो पुरानी बात है!***

*पूज्य गुरुदेवश्री : वह बात कही थी, प्रभु! अपनी स्वयं की बात ज्यादा नहीं करते! समझ में आया? साधारण—साधारण बात अपनी की जाती है। बाकी वैसे तो हम महाविदेह में प्रभु के पास थे। वहाँ राजकुमार थे, प्रभु! अरबों की आमदनी थी। परन्तु देह छूटते समय ऐसा रोग आया कि सहन नहीं हो पाया, मरकर यहाँ काठियावाड़ के 'उमराला' गाँव में जन्म हो गया। भावनगर के पास में 'उमराला' है। वहाँ तेरह साल रहा। नौ वर्ष से... 'पालेज' में हमारी दुकान है, 'भरुच' और 'बड़ोदा' के बीच... वहाँ नौ वर्ष (रहा)। वहाँ पूर्व का याद आता था। परन्तु क्या आता है, यह ज्यादा समझ में नहीं आता था। फिर अन्दर से 'बहिन' को जब जातिस्मरण हुआ, (उसमें) नौ भवों का प्रत्यक्ष (स्मरण आया), तब उन्हें सब ख्याल में आया कि, कहाँ से हम आये हैं? यहाँ से कहाँ जानेवाले हैं? सब निश्चित हो चुका है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! बैठना मुश्किल है। वहाँ से लायी हुई—भगवान के पास से आयी है!! आहा...!*

*तीन लोक के नाथ विराजते हैं, करोड़ पूर्व का आयुष्य है, पाँच सौ धनुष की देह, दो हज़ार हाथ ऊँचे प्रभु हैं! समवसरण में विराजते हैं। आहा...! वहाँ पहले संवत् 49 में 'कुन्दकुन्दाचार्य' गये थे। तब वहाँ हमारी मौजूदगी थी। वहाँ हम समवसरण में उनके साथ गये थे। बहुत सूक्ष्म बात है, प्रभु! बहुत लम्बी बात है। यह तो थोड़ी साधारण बात करते हैं। आहा...हा...!*

यहाँ कहते हैं कि आत्मा चैतन्य भिन्न है, प्रभु! ऐसा तीन लोक के नाथ फरमाते थे। जिनेश्वरदेव सीमन्धर परमात्मा, बीस तीर्थंकररूप से महाविदेह में साक्षात् विराजते हैं। उनमें सीमन्धर परमात्मा प्रथम हैं। दूसरे नम्बर के, तीसरे नम्बर के—ऐसे बीस तीर्थंकर हैं। वर्तमान में महाविदेह में विराजते हैं। वे जो कहते हैं, वह यहाँ 'बहिन' की वाणी में आया है!! आहा...हा...! थोड़ा कठिन लगे, बापू! केशवलालभाई! कठिन लगे बापू! ज़रा, परन्तु अब सुनना तो पड़े न!

**प्रश्न :** प्रभुजी! लेकिन अब हमारी उम्र बहुत हो गयी। अब हम क्या करें?

**समाधान :** थम जाओ... थम जाओ, बापू! अब जम जाओ...!

**प्रश्न :** 'पाके घड़े कांठा चड़ाववा?!' (इतनी उम्र में नया सीखना)?!

**समाधान :** 'पाके घड़े कांठा चढ़शे', (इस उम्र में भी काम होगा!) यहाँ तो वृद्धावस्था में हो तो भी केवलज्ञान पाते हैं, ऐसा प्रभु कहते हैं!! वृद्धावस्था! अभी तो साधारण अवस्था है। परन्तु (पहले) करोड़ पूर्व की अवस्था (आयु) थी और (अभी भी) वहाँ है। यहाँ पर भी जब प्रथम तीर्थंकर थे, तब करोड़ पूर्व का आयुष्य था। करोड़ पूर्व में तो एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ छप्पन हज़ार करोड़ वर्ष बीतते हैं! इतना (समय) गया हो तो भी आखिर के समय अन्तर्मुहूर्त में भी केवलज्ञान पाकर मुक्ति में चले जाते हैं! गुलाँट खानी चाहिए जरा! जो बाहर में–जंजाल में ऐसे भटकता है, वैसे यहाँ अन्दर में गुलाँट जरा खा। कठिन बात है, प्रभु!

यहाँ कहते हैं, चैतन्य तो भिन्न ही है। चैतन्य तो ज्ञान, आनन्द की मूर्ति, ज्ञायकमूर्ति प्रभु अन्दर विराजता है। आहा...हा...! **परन्तु स्वयं अपने को भूल गया है, विभाव का जाल बिछा है...** आहा...! पुण्य और पाप के विकल्प अर्थात् राग। यह विभाव अर्थात् विकार। विकार की जाल बिछाकर पड़ा है, आहा...हा...! परन्तु अन्दर स्वयं विकार से रहित है, उसके सामने नज़र नहीं की। आहा...हा...!

**विभाव का जाल बिछा है, उसमें फँस गया है, परन्तु प्रयत्न करे तो मुक्त ही है।** प्रयत्न करे, अन्दर में देखने का प्रयत्न करे, परन्तु बापू! ये कोई साधारण बातें नहीं हैं, यह कोई साधारण पुरुषार्थ से मिल जाये, ऐसा नहीं है। अनन्त-अनन्त प्रयत्न का पुरुषार्थ चाहिए, तब अन्दर राग से भिन्न पड़े, तब उसे आनन्द का नाथ गोला, आनन्द का गोला ज्ञात हो। तब उसे सम्यग्दर्शन और धर्म की प्रथम दशा प्राप्त होती है। इसके बिना धर्म की दशा हो सकती नहीं। जगत (भले ही इससे उलटा) माने और मनवाये, ऐसा तो अनादि से चला आया है, परन्तु राग के विकल्प से–दया, दान और व्रत, भक्ति के परिणाम के राग से भी प्रभु अन्दर भिन्न है। ऐसी जब तक अन्दर नज़र न करे, तब तक उसका आत्मा उसकी नज़र में आता नहीं। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं। **परन्तु प्रयत्न करे तो मुक्त ही है।** आहा...हा...! परन्तु अन्दर में प्रयत्न–पुरुषार्थ चाहिये, बापू! भगवंत! तेरा स्वरूप तो अन्दर पूर्णानन्द से भरा पड़ा है। ये राग और द्वेष तो दुःख की दशा दिखती है। पुण्य और पाप के भाव, प्रभु! वह तो राग और दुःख है। दुःख के पीछे आनन्द का नाथ भरा पड़ा है। अतीन्द्रिय आनन्द से भरा प्रभु! (है),

इसकी ओर देख, देख तो तुझे प्राप्त हो वैसा है। अन्तर्मुहूर्त में पलटा खा जाये, अन्तर्मुहूर्त में आत्मा को केवलज्ञान होकर मुक्त हो, ऐसी उसमें ताकत है!! परन्तु वह ताकत, पुरुषार्थ करे तो (प्रगट हो)।

(अब कहते हैं, **द्रव्य बँधा नहीं है।**) है अन्त में अन्दर? वस्तु है, वह बँधी हुई नहीं है, प्रभु! वह त्रिकाल निरावरण है। कल कहा था। 'समयसार' की 320 गाथा है, इसके अर्थ में यह है कि, त्रिकाल निरावरण है, अन्दर वस्तु है, वह त्रिकाल निरावरण प्रभु है। परन्तु वर्तमान पर्याय-दशा की दृष्टि में उसको वह चीज़ दिखती नहीं है। जैसे समुद्र पानी से भरा है, परन्तु किनारे पर(यदि) चार हाथ का कपड़ा या (पर्दा) बीच में रखे तो कपड़ा आँख में–नज़र में आता है। समुद्र नज़र नहीं आता। वैसे अन्दर भगवान अनन्त आनन्द और ज्ञान से भरा हुआ है, परन्तु राग और पुण्य-पाप (पर) नज़र है, इस नज़र के कारण भगवान दिखता नहीं है। आहा...हा...! भगवानजीभाई! बातें ऐसी हैं, बापू!

यहाँ तो 45 साल से (यही) चलता है। 45 साल सोनगढ़ गये, उसको (हुए)। 90 वाँ वर्ष चलता है–शरीर को तो 90 वाँ वर्ष चलता है। सारी जिन्दगी यही किया है। दुकान है.. पालेज में दुकान है, भरुच और बड़ौदा के बीच, बड़ी दुकान है। वहाँ पाँच साल दुकान चलायी थी। अठारह वर्ष की उम्र से लेकर तेईस (वर्ष तक) (ऐसे) पाँच (साल चलायी)। तेईस वर्ष में छोड़ दिया। दुकान बड़ी है। चालीस लाख रुपये है, चार लाख की आमदनी है, अभी है। अभी चार लाख की तो पैदाइश है! भरुच और बड़ौदा के बीच पालेज है। वहाँ जाते हैं कई बार। फ़ूफ़ी के लड़के भागीदार थे, उनके लड़के हैं। हमारे यहाँ से कोई नहीं है। परन्तु यह तो हमारा तब से अन्दर से परिचय है। बहत्तर साल पहले! शास्त्र पढ़ता था। पिताजी की घर की दुकान (थी), वहाँ पढ़ता था। **'वह पूर्व के संस्कार थे!!'** उसमें से अन्दर ज्ञात होता था... आहा...हा...! कि यह आत्मा तो त्रिकाली आनन्दकन्द और शुद्ध है! ये पुण्य और पाप का जो जाल दिखता है, वह विकल्प का जाल (है), वह लार है। वह आत्मा नहीं।

अरेरे...! कब उसे बैठे? प्रभु! यह जगत की जंजाल...! इसमें दो-पाँच-दस करोड़ रुपया हो, उसे (ऐसा लगता है कि) आहा...हा...! मकड़ी जैसे लार में फँस जाती है, वैसे यह बेचारा उलझा है। आहा...हा...!

दीनानाथ के दयाल! परमात्मा ने तो दया से, करुणा से बात की है, अकषाय करुणा से (बात की है)! प्रभु, तू। अकषाय करुणा!! पण्डितजी! आहा...! तीन लोक का नाथ परमात्मा विराजता है, उनकी बात की ध्वनि– (वाणी में), उसके सार में यह आया था। वह याद आया, सो यह लिखा गया है!! बहिन को याद में (स्मरण में) एकदम इतना याद आया है... कि असंख्य अरब वर्ष की बात, (जैसे) कल की (बात) याद आये, वैसे याद आता है!! परन्तु बाहर निकलने का (डॉक्टरों द्वारा) इनकार है। वहाँ सोनगढ़ में रहते हैं। यहाँ कहते हैं ये उनके शब्द हैं।

प्रयत्न करे तो... **द्रव्य बँधा नहीं है।** आहा...हा...! कैसे बैठे यह? द्रव्य क्या? और पर्याय क्या? पर्याय अर्थात् प्रभु? पर्याय अर्थात् अवस्था। जैसे सोना है न सोना? उसमें सोना है वह वस्तु है और सोने में से जो कड़ा, कुण्डल, अँगूठी इत्यादि बनता है वह सब अवस्थाएँ हैं, अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं और त्रिकाली सोना को सोना–द्रव्य कहने में आता है। वैसे आत्मा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप होवे, उन्हें विकारी पर्याय कहते हैं और इनसे रहित अन्दर त्रिकाली पड़ा है, उसे आत्मद्रव्य कहते हैं। आहा...हा...!

बहिन के उसमें (वचनामृत में) एक शब्द आया था, **सुवर्ण को ज़ंग नहीं लगती।** आया था? क्या तीन शब्द थे न? तीन हैं न? 'अग्नि को दीमक नहीं लगती' आहा...हा...! 'सुवर्ण को ज़ंग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती'–तीसरा बोल है न कुछ? तीन बोल कहे थे न? 'प्रभु को आवरण नहीं होता।' प्रभु! कठिन लगेगा, भगवान! यहाँ तो अन्दर की भगवान की बात है, नाथ! आहा...हा...!

**श्रोता :** आवरण, न्यूनता या अशुद्धता आती नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आवरण (या) अशुद्धता उसमें है ही नहीं। वह तो त्रिकाली आनन्द का नाथ अन्दर विराजमान है...! आहा...हा...! 380 बोल है। 140 पान पर। **जिस प्रकार सुवर्ण को जंग नहीं लगती...** सोने को ज़ंग नहीं लग सकती। लोहे को ज़ंग लगती है। आहा...हा...! **अग्नि को दीमक नहीं लगती,...** ये दीमक नहीं होती सूक्ष्म? जंतु... छोटा जंतु... सफेद? जैसे धूप लगे वैसे ही खड़-खड़ होकर एकदम जल जाये। वैसे अग्नि में दीमक नहीं होती। **उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती।** सूक्ष्म बात है, प्रभु! नया (पहले-पहले) सुने उसे थोड़ा कठिन लगे ऐसा है, नाथ!

प्रभु! तेरी बात ही निराली है, बापू! आहा...! परन्तु इसकी प्रभुता की इसे खबर नहीं है। रंकपना मानकर बैठ गया है। एक थोड़ा-सा राग करे वहाँ ऐसा हो जाता है कि मानो हमने (कुछ कर लिया)! पुण्य किया इसमें क्या से क्या कर दिया मानो!! लाख-दो लाख, पाँच लाख कुछ खर्च करे...! ऐ...ई.. भभूतमलजी! इन्होंने आठ लाख दिये थे। बैंगलोर में पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाया, उसमें आठ लाख इन्होंने दिये थे, यह भभूतमल ने। परन्तु बात ऐसी (है) कि, तेरे पच्चीस-पचास करोड़ दे दे न! परन्तु उसमें धर्म तीन काल में नहीं है। उसमें राग की मन्दता करेगा तो पुण्य है, परन्तु धर्म नहीं। आहा...हा...! भभूतमलजी! यह तो पहले से बात की थी। ऐसे तो कई करोड़पति वहाँ आते हैं। अरबोंपति आते हैं। धूल के धनी!! आहा...!

यह आत्मा अन्दर है, उसे ज़ंग नहीं लगती (ऐसा) कहते हैं। आहा..! (जैसे) सोने को ज़ंग नहीं लगती, वैसे अन्दर तीन लोक के नाथ को राग नहीं है। अन्तर परमात्मा स्वरूप भरा हुआ है, प्रभु! अग्नि में दीमक नहीं है, वैसे प्रभु में राग और द्वेष की दीमक नहीं है। **ज्ञायकस्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती! तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी।** आहा...हा...!

***यह 'बहिन' की वाणी है! यह तो पूरी पुस्तक... सहज सहज बोले थे परन्तु उन्हें पता भी नहीं, चौंसठ बालब्रह्मचारी लड़कियाँ हैं, उनके (बहिनश्री के) आश्रय में लाखोंपति-पचास-पचास लाख की (आमदनीवालों की) बेटियाँ बालब्रह्मचारी हैं, इनमें से नौ लड़कियों ने लिख लिया था। इन्हें (बहिन को) पता नहीं था कि ये लिखते हैं! उसमें से इनके भाई के हाथ में आ गया। उन्होंने फिर इसको प्रसिद्ध किया। वरना वे स्वयं तो प्रसिद्धि में आने की या लिखाने की बात करते ही नहीं। प्रसिद्धि में आने की बात नहीं।***

वे यहाँ कहते हैं **प्रयत्न करे तो मुक्त ही है। द्रव्य बँधा नहीं है।** है? 47 बोल में? आहा...हा...! ऐसा कठिन लगे, बापू! इसमें ये (सारी) धमाधम!

**विकल्प में पूरा–पूरा दुःख लगना चाहिए। विकल्प में किंचित् भी शान्ति एवं सुख नहीं है ऐसा जीव को अन्दर से लगना चाहिए। एक विकल्प में दुःख लगता है और दूसरे मन्द विकल्प में शान्ति का आभास होता है, परन्तु विकल्पमात्र में तीव्र दुःख लगे तो अन्दर मार्ग मिले बिना न रहे॥48॥**

48 (वाँ बोल)। **विकल्प में पूरा–पूरा दुःख लगना चाहिए।** क्या कहते हैं? पुण्य और पाप का भाव, शुभ और अशुभ का भाव, उसमें दुःख लगना चाहिए। क्योंकि वह दुःखस्वरूप है। भगवान इससे भिन्न आनन्दस्वरूप है। आहा...हा...! है? विकल्प अर्थात् राग। पुण्य और पाप की जो वृत्ति उठती है, उसमें पूरा-पूरा दुःख लगना चाहिए। आहा...हा...!

यह तो विकल्परहित प्रभु, आनन्दमूर्ति है! यदि विकल्प में दुःख लगे तो विकल्परहित आनन्द की मूर्ति में अन्दर नज़र करेगा। परन्तु इसे विकल्प अर्थात् क्या? और दुःख अर्थात् क्या? इसकी खबर भी नहीं है! (यह) जाने कि विकल्प उठना अर्थात् क्या? विकल्प अर्थात् क्या? विकल्प अर्थात् राग। फिर दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो या हिंसा, झूठ, चोरी, विषय का राग हो–दोनों (में) पूरा-पूरा दुःख लगना चाहिए। आहा...हा...! ऐसी बात!

(अब कहते हैं) **विकल्प में किंचित् भी शान्ति एवं सुख नहीं है...** (अर्थात्) पुण्य और पाप की वृत्ति में–राग में ज़रा-सा (भी) सुख और शान्ति नहीं है। धूल में तो नहीं... धूल अर्थात् क्या? ये पैसे! वह तो मिट्टी-धूल है! उसमें तो कुछ है नहीं। यह (शरीर भी) मिट्टी है न! कहा नहीं था?

शरीर में ज़ंगवाली कील लगे, तब ऐसा कहते हैं 'मेरी मिट्टी पकाऊ है तो पानी छूने देना नहीं।' 'मेरी मिट्टी पकाऊ' ऐसा बोलें! बोले जरूर लेकिन समझे नहीं कुछ!! ऐसा बोलेंगे कि 'मेरी मिट्टी पकाऊ है' ज़ंगवाली कील यदि लगी हो (और) यदि उसे पानी लग जाये तो पक जाता है। (तब) ऐसा कहें 'मेरी मिट्टी पकाऊ (है); इसलिए पानी छूने देना नहीं।' और कहे–'शरीर मेरा है!' एक ओर मिट्टी कहता है और दूसरी ओर शरीर मेरा है– ऐसा कहता है!! यह शरीर जड़, मिट्टी, धूल है, यह तो! ये सब क्रियाएँ–चलने, फिरने की होती है, वह जड़ की क्रिया (है)। वह आत्मा की क्रिया है ही नहीं। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं)। **विकल्प में पूरा-पूरा दुःख लगना चाहिए। विकल्प में किंचित् भी शान्ति एवं सुख नहीं है—ऐसा जीव को अन्दर से लगना चाहिए।** अरेरे...! परन्तु कब यह विचार करे? कब वह निवृत्त होकर विचार करे और समय निकाले? एक तो पाप से निवृत्त होता नहीं। ऐसा (कोई) कहता था न? एक तो बाहर से पाप से अभी निवृत्ति नहीं मिलती! आहा...हा...! बापू! भगवान! हमारे पास तो यह बात है।

यह पुण्य और परमात्मा के घर की बात है! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि, ये यहाँ समवसरण में सामने विराजते हैं, प्रभु! उनकी यह ध्वनि है! आहा...हा...! वही बात इन शब्दों में 'बहिन' के मुख से निकली है!!

(कहते हैं कि) **विकल्प में किंचित् भी शान्ति एवं सुख नहीं है...** (अर्थात्) राग का अंश आये, भले ही इसे दया, दान और भक्ति का (भाव) आये; पचास लाख, करोड़, दो करोड़ दिये हो, फिर भी उसमें राग की मन्दता होगी तो पुण्य है, परन्तु यह पुण्य है, वह दुःख है। अरर्र...! यह बात कैसे बैठे?

लक्ष्मी तो जड़ है, वह तो धूल है। प्रभु चैतन्य है। प्रभु अरूपी है, लक्ष्मी रूपी, धूल, मिट्टी है, परन्तु अन्दर जो पुण्य और पाप के विकल्प होते हैं, वे भी अचेतन हैं। चैतन्य आनन्द का नाथ उसमें है नहीं। राग के भाव में चैतन्य प्रकाश का नूर (नहीं है)। चैतन्य के नूर का पूर अन्दर भरा है। इस चैतन्य का अंश, पुण्य और पाप के विकल्प में नहीं है। इसलिए उन्हें अजीव और जड़ कहते हैं। अरेरे...रे...! यह बात!

**विकल्प में किंचित् भी शान्ति एवं सुख नहीं है—ऐसा जीव को अन्दर से लगना चाहिए। एक विकल्प में दुःख लगता है और दूसरे मन्द विकल्प में शान्ति का आभास होता है,...** क्या कहा यह? यह विषय का—भोग का एक अशुभराग हो (या) कमाने का (तो) उसमें तो कदाचित् इसे ऐसा लगे भी कि यह पाप है। परन्तु पुण्य का विकल्प जब आता है, तब उसमें शान्ति का आभास होता है (कि) 'शुभराग तो करते हैं, हम दूसरे से विशेष शुभराग करते हैं न, हमें इतनी तो शान्ति है न!' धूल में भी शान्ति नहीं है, सुन तो सही! आहा...हा...! 'दूसरे मन्द विकल्प' अर्थात् शुभभाव! उसमें इसे शान्ति लगती है, वह भ्रम है, वह अज्ञान है, वह मिथ्यात्व है, वह जैनधर्म से विरुद्ध बात है! ऐसे राग में जैनधर्म नहीं है। आहा...हा...! है (अन्दर)?

**परन्तु विकल्पमात्र में तीव्र दुःख लगे...** रागमात्र में उसे दुःख लगे, आहा...हा...! **तो अन्दर मार्ग मिले बिना न रहे।** यह शर्त! यह इसकी शर्त! कि शुभ और अशुभराग में यदि दुःख लगे तो अन्दर गये बिना रहे नहीं। भभूतमलजी! कहाँ आनन्द... आहा...हा...! कहाँ गये, नहीं आये भाई? न्यालभाई? कहाँ बैठे? कहीं गये होंगे। स्वीट्जरलैंड से आये हैं न, नहीं लगते, पैसे में मजा आता है, इसमें नहीं.... नहीं। आहा...हा...! विकल्पमात्र में तीव्र दुःख लगे, (ऐसा कहा)!

प्रभु! कठिन लगता है, नाथ! परन्तु वस्तु यह है। दूसरे रास्ते जायेगा तो धोखे में रह जायेगा, हों...! यह मनुष्यभव चला जायेगा और मनुष्यभव नष्ट होने से कोई आत्मा का नाश नहीं होगा। आत्मा तो यह भव छोड़कर अन्यत्र जायेगा। अज्ञानरूप जैसे भाव किये होंगे, वैसे दुःख अगले भव में भोगेगा। क्योंकि देह छूटकर आत्मा तो चला जायेगा। आत्मा तो नित्य है। इस देह के बाद भी आत्मा तो अनन्त काल रहनेवाला है। (तो) कहाँ रहेगा? राग और पुण्य में यदि दुःख (न) लगा तो वहीं रहेगा और संसार में भटकेगा। आहा...हा...! ऐसी बात है, प्रभु! सूक्ष्म लगे नाथ!

परमात्मा, यह कहा नहीं था? 'धर्मचन्दजी' मुनि ने ब्रह्मचर्य की बहुत बात की। 'पद्मनंदि पंचविंशति' (शास्त्र) है। (उसमें) ब्रह्मचर्य की बात करते-करते (आचार्य महाराज कहते हैं) कि शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन, वह ब्रह्मचर्य नहीं है। शरीर से तो अनन्त बार ब्रह्मचर्य का पालन किया। ब्रह्मचर्य तो उसे कहे, 'ब्रह्म' अर्थात् आनन्द और 'चर्य' अर्थात् उसमें चरना / रमण करना। अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ में रमणता करे, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। ऐसी ब्रह्मचर्य की सूक्ष्म व्याख्या करते-करते आचार्य महाराज कहते हैं, प्रभु! मेरी बात जवानों को, भोग के रसिकों को ठीक न लगती हो.... (तो) प्रभु! माफ़ करना!! हमारे से दूसरी क्या आशा तू रखेगा? हम तो तुझे सत्य बात कहनेवाले और सत्य बात माननेवाले हैं। ऐसे में तू हमारे पास से असत्य बात लेना चाहेगा सो तो नहीं आयेगी।' आहा...हा...! दिखाया था न? 'पद्मनंदि पंचविंशति!' झवेरचन्दभाई! (उसमें) गाथा है। ब्रह्मचर्य की व्याख्या ऐसी की... ऐसी की... (कि) शरीर और मन से पालता हो, वह ब्रह्मचर्य नहीं!

परमात्मा कहते हैं, ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं—ब्रह्म अर्थात् आत्मा—अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, उसे चरना अर्थात् (उसमें) रमणता करे, उसका नाम ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह तुझे

यदि न सुहाये, न रुचे तो हम तो मुनि हैं, माफ करना! हमारे पास (तू) दूसरी आशा (मत रखना)। तुझे अच्छी लगे ऐसी बात नहीं आयेगी। तुझे रुचे ऐसी बात नहीं आयेगी! 'पद्मनंदी' में पाठ है। 26 अध्ययन का पूरा शास्त्र है। मुनि ने बनाया है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि, 'विकल्प में तीव्र दुःख लगे,...' आहा...हा...! तो अन्दर में मार्ग मिले बिना रहेगा नहीं। क्या कहते हैं, प्रभु? पुण्य और पाप का भाव तो विकल्प और राग है। प्रभु! यदि तुझे राग में दुःख लगे तो उस दुःख से अन्दर आनन्दस्वरूप भिन्न है, उसे तू खोज़े बिना–ढूँढ़े बिना रहेगा नहीं। परन्तु यदि तुझे विकल्प में दुःख नहीं लगा तो वहीं का वहीं पड़ा रहेगा तो चौरासी में भटकेगा। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। किस प्रकार का उपदेश है यह? हमारे वहाँ सोनगढ़ में 45 वर्ष से चलता है। यह कोई पहल-पहल बात नहीं चलती। 45 वर्ष की उम्र में गये थे और 45 (बाद में हुए)। 90 वर्ष हुए इस शरीर को! शरीर को 90 वर्ष हुए! अन्दर भगवान आत्मा तो अनादि–अनन्त है। उसे कहाँ उम्र लागू पड़ती है! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि विकल्प में यदि दुःख लगे... संयोग की बात नहीं (अर्थात्) प्रतिकूलता, निर्धनता ये नहीं–(परन्तु) विकल्प जो पुण्य-पाप के उठते हैं, उसमें प्रभु! यदि तुझे दुःख लगे, उस विकल्प (में) तुझे आकुलता ज्ञात हो तो तू आनन्द को खोजे बिना नहीं रहेगा, तो आत्मा आनन्दस्वरूप है उसे तू ढूँढ़ेगा। परन्तु विकल्प में (यदि) दुःख नहीं लगा तो आनन्द की खोज तू करेगा नहीं और वहीं का वही पड़ा रहेगा और चौरासी में भटकेगा। आहा...हा...! ऐसी बात कान में पड़ने पर कठिन लगे! वह अन्दर में कब जाये? और कब विचार करेगा? वस्तु की स्थिति ऐसी है, बापू! आहा...हा...!

**सारे दिन में आत्मार्थ को पोषण मिले ऐसे परिणाम कितने हैं और अन्य परिणाम कितने हैं वह जाँचकर पुरुषार्थ की ओर झुकना। चिन्तवन मुख्यरूप से करना चाहिए। कषाय के वेग में बहने से अटकना, गुणग्राही बनना॥49॥**

49 वाँ बोल। **सारे दिन में आत्मार्थ को पोषण मिले, ऐसे परिणाम कितने...** किये? यह कभी जाँच की है? ऐसा कहते हैं। सारे दिन में आत्मा को पोषण मिले, आनन्द को, शान्ति को (पोषण मिले) ऐसे (परिणाम) कितने किये? **और अन्य परिणाम कितने**

**हैं, वह जाँचकर...** इसकी जाँच करके, **पुरुषार्थ की ओर झुकना।** (अर्थात्) अन्दर में झुकना।

**चिन्तवन मुख्यरूप से करना चाहिए।** भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु है। सत् चिदानन्द है! सत् अर्थात् शाश्वत! चिदानन्द = चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द। यह प्रभु तो अन्दर में चिदानन्द (अर्थात्) ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है। आहा...हा...! अरे...! कैसे बैठे? यहाँ थोड़े मैसुब और अरवी के पत्ते की पकौड़ी खाने मिले कि ओ...हो... मज़ा आ गया...! ऐसा माने! दूधपाक और पूड़ी खाता हो, वहाँ मज़ा... मज़ा... आ गया, ऐसा माने! आहा...हा...! खुशी मनावे...! आहा...हा...!

बाहर की बातों में जिसको मज़ा दिखाई दें, उसे (राग में) दुःख नहीं लगता। इसलिए अन्तर में आनन्द है, उसमें वह देखने–सम्यग्दर्शन करने का उद्यम नहीं करता। सम्यग्दर्शन (अर्थात्) सम्यक् अर्थात् सच्चा दर्शन–समकित अर्थात् सत्य दर्शन, सच्ची श्रद्धा। जो आनन्द का नाथ अन्दर भगवान (है), उसकी सम्यक् प्रकार से प्रतीति–श्रद्धा। अन्दर विकल्प में दुःख लगे तो इसकी श्रद्धा में जायेगा, परन्तु दुःख न लगे, तब तक अन्दर की श्रद्धा में नहीं जाता। समझ में आया?

यह 'समझ में आया?' अर्थात्? समझ तो अलग वस्तु है, परन्तु किस पद्धति से कहा जाता है? किस रीति से कहने में आता है? यह ख्याल में आता है? इतनी बात है। आहा...हा...! समझ में आ जाये, तब तो कल्याण होकर संसार छूट जाये!! परन्तु किस रीति व पद्धति से, किस कला से कहा जाता है? यह ख्याल में आये तो इसे अन्दर जाने का पुरुषार्थ और प्रयत्न हो। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, शुद्ध आत्मा के पोषण के कितने परिणाम हुए? और अशुभ एवं शुभ (भाव) जो अशुद्ध हैं–क्या कहा यह? शुभभाव और अशुभभाव दोनों अशुद्ध हैं और आत्मा शुद्ध है, तो शुद्ध की पुष्टिरूप कैसे, कितने परिणाम हुए? और शुभ-अशुभ जो अशुद्ध है, उसके कैसे (कितने) परिणाम हुए?–उसका तूने विचार किया नहीं। उसका यदि विचार करे...। आहा...हा...! है? **वह जाँचकर पुरुषार्थ की ओर झुकना।** आहा...हा...! क्या करना इसमें? सूझ पड़े नहीं। बाहर से क्या करना? बाहर का क्या धूल करे? शरीर को आत्मा हिला भी सकता नहीं! प्रभु! क्या कहें?

यह शरीर जड़ है। यह जो चलता है, वह जड़ की क्रिया (है), आत्मा से नहीं होती। आत्मा, जड़ का कर्ता तीन काल में नहीं हो सकता। जड़ का कर्ता आत्मा हो जाये तो आत्मा (स्वयं) जड़ हो जाये! आहा...हा...! शरीर की ये क्रियाएँ—चलना, फिरना, बोलना, वह तो जड़ की—मिट्टी की क्रिया है। वह आत्मा की क्रिया नहीं। वह तो नहीं, परन्तु अन्दर पुण्य और पाप के भाव हो, वह आत्मा की क्रिया नहीं। आहा...हा...!

वही यहाँ कहते हैं, (कि) ऐसे परिणाम कितने हुए? (अर्थात्) अपने आत्मा की शुद्धता के पोषणरूप और अशुद्धतारूप शुभाशुभपरिणाम कितने हुए? इसे जाँचकर पुरुषार्थ की ओर झुक! आत्मा के प्रति झुक! उस तरफ झुक! आहा...! पुण्य और पाप के परिणाम की ओर तेरा झुकाव है, प्रभु! आहा...हा...! वह झुकाव अब आत्मा के प्रति कर! यदि तुझे सुखी (होना हो) और जन्म-मरण मिटाने हो तो। शर्त यह! जन्म-मरण नहीं मिटाने (हो तो) अनन्त काल से भटक (ही) रहा है। आहा...! साधु भी अनन्त बार हुआ परन्तु इसे आत्मज्ञान (नहीं हुआ)। आत्मा क्या? वह आत्मज्ञान किया नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! अनन्त बार मुनिपना लिया, परन्तु आत्मा, राग की क्रिया से भिन्न है, यह बात इसे (कभी) नहीं बैठी। आहा...हा...! इन सब राग की क्रियाओं में ही फँस गया है। जो शुभराग है, वह भी संसार है। कठिन लगे, प्रभु!

राग से भिन्न अन्दर भगवान है, उसे तूने कितने परिणामों से पुष्ट किया? और पुण्य-पाप के अशुद्ध परिणामों से कितना पुष्ट किया? इसकी जाँच करके पुरुषार्थ के प्रति झुक! अब, अन्दर की ओर झुक! (ऐसा कहते हैं) आहा...हा...!

**चिन्तवन मुख्यरूप से करना चाहिए। कषाय के वेग में बहने से अटकना,...** आहा...हा...! 'कषाय' अर्थात् 'कष' मतलब संसार। 'आय' मतलब लाभ। 'कषाय' शब्द है। (उसमें) 'कष' अर्थात् संसार और 'आय' अर्थात् लाभ। पुण्य-पाप का भाव कषाय है। इससे वह संसार का लाभ है, वह भटकने का लाभ है। आहा...हा...! उसे कषाय कहते हैं।

कषाय के दो प्रकार हैं। राग और द्वेष। द्वेष के दो प्रकार हैं—क्रोध और मान। राग के दो प्रकार हैं—माया और लोभ। माया, लोभ, क्रोध और मान सब मिलाकर राग-द्वेष हैं। राग-

द्वेष होकर मोह है। इस मोह के परिणाम में अनादि से रहा है। परन्तु इस मोह के परिणाम रहित स्वरूप क्या है? उसकी दरकार और प्रयत्न किया नहीं। सुनने मिला तब ऐसे करके (निकाल) दिया कि 'यह तो सूक्ष्म बात है, सूक्ष्म बात है, इसमें अपना काम नहीं!' ऐसा करके छोड़ दिया है। आहा...हा...! 'ये तो अन्दर बहुत सूक्ष्म बातें हैं! ये सब तो त्यागियों की समझ में आये! ऐसा कहीं अपने को समझ में आयेगा?'

**मुमुक्षु :** सुख ही स्वयं सूक्ष्म है न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** (सच्चे) दुःख (की) ही अन्दर खबर नहीं पड़ती कि दुःख किसको कहना?! विषय-भोग का अशुभ राग होना, वह राग दुःख(रूप) है। आहा...! और पैसे का मान करना भी दुःख है और शुभराग करना भी दुःख है। अरेरे...रे..! यह बात कैसे बैठे? यह शुभाशुभ राग है, वह दुःख है, इससे (पीछे) हट जा! आया? है? **वेग में बहने से अटकना,...**

**कषाय के वेग में बहने से अटकना,...** शब्द है? **गुणग्राही बनना।** अन्तर आत्मा में आनन्द है, उसके गुणग्राही बनना। अन्तर के गुण को पकड़नेवाला बनना। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु! पुण्य-पाप कषाय का जो भाव है, उसे छोड़कर गुणग्राही (बनना)। (अर्थात्) आत्मा आनन्द, ज्ञान और शान्ति का सागर है, उन गुणों को ग्रहण करना। इससे तुझे आत्मा प्राप्त होगा। इसके बिना आत्मा प्राप्त होगा नहीं। इसके बिना सम्यग्दर्शन की प्रथम दशा भी शुरु नहीं होगी। आहा...हा...! है?

**गुणग्राही बनना।** गुणग्राही अर्थात्? दूसरे के गुण (ग्रहण करना), ऐसा नहीं। पुण्य और पाप के दो भाव (हैं)। प्रभु! ये दोनों कषाय हैं। दोनों से संसार की गति में भटकने का लाभ मिलता है। इस कषाय से भिन्न होकर गुणग्राही (बनना)। (अर्थात् कि) आत्मा आनन्द और ज्ञान है, उन गुणों के ग्राही बनना। इन गुणों को पकड़ने अन्दर में जाना। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु! भाषा तो यह सादी (है) परन्तु इसके भाव गम्भीर हैं! है? **गुणग्राही बनना।** आहा...! यह 49 (पूरा हुआ)।

**तू सत् की गहरी जिज्ञासा कर, जिससे तेरा प्रयत्न बराबर चलेगा; तेरी मति सरल एवं सुलटी होकर आत्मा में परिणमित हो जायगी। सत् के संस्कार गहरे डाले होंगे तो अन्त में अन्य गति में भी सत् प्रगट होगा। इसलिए सत् के गहरे संस्कार डाल ॥50॥**

50 (वाँ बोल)। **तू सत् की गहरी जिज्ञासा कर...** आहा...हा...! सत् (अर्थात्) सत्ता। अन्दर चैतन्य की सत्ता है–त्रिकाली अस्तित्व है, ऐसे सत् को ढूँढ़ने जा! ऐसे सत् की खोज कर! आहा...! यह कितनावा आया? सत् की गहरी जिज्ञासा कर। सत् अर्थात्? पुण्य और पाप के विकल्प असत्य हैं। शरीर, वाणी, मन की तो बात ही यहाँ नहीं; वे तो जड़ हैं। परन्तु इसमें हो रहे पुण्य-पाप के भाव भी चैतन्यस्वरूप के भाव से भिन्न विकल्प का जाल है, उसे छोड़कर अन्तर में गहरे विचार में जा! आहा...हा...! गहरी... गहरी... जिज्ञासा कर! **जिससे तेरा प्रयत्न बराबर चलेगा;...**

अन्तर में गहराई–गहराई तक जा! अन्दर इस राग के तल के नीचे भगवान बिराजमान है। राग ऊपर-ऊपर है। जैसे पानी में तेल की बूँदें ऊपर–ऊपर हैं। पानी के दल में तेल की बूँदें ऊपर हैं, वह पानी के दल में प्रवेश नहीं करती। वैसे भगवान आनन्दस्वरूप में पुण्य-पाप के परिणाम तेल की बूँद समान हैं, वे अन्दर प्रवेश नहीं करते। आहा...हा...! अरे...! ऐसी बातें कहाँ से (आयी)?! (परन्तु) ऐसी बात है, प्रभु! यहाँ तो। हें? इस घर में तो यह (बात) है।

एक बार बात की थी न? 'अब हम कबहु न निज घर आये,...' 'अब हम कबहु न निज घर आये, पर घर भ्रमत अनेक नाम बनाये, परभाव भ्रमता अनेक नाम धराये, परन्तु अब हम कबहु न निजघर आये।' निजघर–अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु विराजमान है, इसके घर में जाने का प्रयत्न तो किया नहीं, परन्तु (वहाँ) जाने योग्य है–ऐसी जिज्ञासा भी नहीं की! उसमें जाने योग्य है–ऐसी जिज्ञासा भी नहीं की!! सो यहाँ कहते हैं।–(तू सत् की) गहरी... गहरी... जिज्ञासा कर! आहा...हा...!

'बहिन' तो अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में... रात्रि में थोड़ा बोल गये थे। जो

गुप्तरूप से लिख लिया। उन्हें तो पता भी नहीं था कि यह लिखा जा रहा (है)! फिर नौ ब्रह्मचारी लड़कियों ने लिख लिया था वह बात प्रसिद्धि में आ गयी।

जैसे यह 'रामजीभाई' और अपनी ओर से–सोनगढ़ की तरफ से बाईस लाख पुस्तकें छपी हैं! आठ लाख पंडितजी की ओर से जयपुर से छपी हैं। लेकिन हमने कभी नहीं कहा कि, यह करो या पुस्तक बनाओ या मकान बनाओ–मन्दिर बनाओ! यहाँ तो तत्त्व का उपदेश (है)! सुनना हो वह सुने और करना हो, वह करो!! यहाँ हमें किसी को कहना नहीं है कि यहाँ पाँच हज़ार दे दो और दस हज़ार दे दो! यह बात यहाँ कभी नहीं होगी! बाहर की क्रिया तो बननेवाली होती है, वह बनती है। यहाँ तो आत्मा की बात करनी है! 'रामजीभाई' 97 वर्ष की उम्र के बड़े वकील थे। 35 वर्ष पहले कोर्ट में पाँच घण्टे जाते और दो सौ रुपये लेते थे। 35 वर्ष पहले! वे भी अभी निवृत्ति लेकर वहीं रहते हैं। सुनने को तब ये सब बातें चलती हैं।

(यहाँ कहते हैं), (तू सत् की) गहरी... गहरी... जिज्ञासा कर, **जिससे तेरा प्रयत्न बराबर चलेगा; तेरी मति सरल एवं सुलटी होकर...** आहा...हा...! प्रभु! तेरी मति सरल एवं सुलटी करके; वक्र विकार और टेढ़ापन छोड़कर (ऐसा कहते हैं) आहा...हा...! **(तेरी मति) सरल एवं सुलटी होकर आत्मा में परिणमित हो जायगी।** (अर्थात्) यदि आत्मा को राग से भिन्न करके सरल और सीधी दशा में जायेगा तो तुझे आत्मा मिल जायेगा। आत्मा आनन्दरूप परिणमित हो जायेगा। आहा...हा...! है?

**सत् के संस्कार गहरे डाले होंगे...** (अर्थात्) सत् चिदानन्द प्रभु! सर्वज्ञ जिनेश्वर परमेश्वर ने कहा वह! इसके अलावा किसी और ने कहा वह (नहीं)। परमेश्वर तीन लोक के नाथ अरिहन्त देव विराजते हैं, उन्होंने कहा ऐसा आत्मा, इसके संस्कार यदि डाले होंगे, आहा...हा...! **सत् के संस्कार गहरे डाले होंगे तो अन्त में अन्य गति में...** (अर्थात् कि) अन्त में इस भव में यदि समकित न हुआ तो दूसरे भव में भी यदि संस्कार (डाले होंगे तो वहाँ जाकर) प्राप्त कर लेगा। आहा...हा...! लक्ष्मीचन्दभाई! आहा...हा...!

ये धूल की बातें तो कहीं रह गयी! परन्तु अन्दर पुण्य परिणाम के संस्कार भी यदि रह गये (तो) भटक मरेगा चार गति में! चौरासी के अवतार में! किन्तु यदि संस्कार (डाले

होंगे) तो अन्य गति में भी सत् प्रगट होगा। 'पुण्य-पाप से (मैं) भिन्न हूँ'–ऐसे संस्कार डाले होंगे (तो अन्य गति में भी सत् प्रगट होगा)।

जैसे सकोरा कोरा हो, उसमें पहले पानी डाले तो उसे चूस लेगा परन्तु पानी भर जाने के बाद पानी ऊपर आ जायेगा। वैसे (ये) संस्कार डालते... डालते... आहा...हा...! पहले अन्दर में संस्कार डालने पर ऊपर-ऊपर रहेंगे। फिर संस्कार डालने से अन्दर तल में जायेंगे। आत्मा आनन्द का नाथ है, उसका सम्यग्दर्शन में भान हो जायेगा; परन्तु यदि उसके प्रति का प्रयत्न और पुरुषार्थ करेगा तो! बाहर का पुरुषार्थ कर-करके अनन्त काल से मर गया! आहा...हा...!

स्वर्ग के देव के भव अनन्त बार किये हैं। मनुष्य के भव अनन्त बार किये। इससे भी असंख्यातगुना नारकी के भव किये। इससे असंख्यगुने देव के किये। इससे अनन्तगुने अनन्त निगोद के... लहसुन और प्याज के किये! आहा...! परन्तु कभी इसने आत्मा का विचार नहीं किया, बापू! आहा...हा...! ऐसे भव तूने किये हैं, प्रभु! क्योंकि अभी तक भव बिना नहीं रहा। यदि भव बिना रहा होता तो जैसे सेंका हुआ चना उगता नहीं, कच्चा चना हो तो कसैलापन देता है और वह उगता है, परन्तु चना सेंकने पर कसैलापन छूट जाता है, मिठास देता है और उगता नहीं; वैसे अज्ञान में दुःख होता है और जन्म-मरण होते हैं, और ज्ञान में सुख होता है और जन्म-मरण मिटते हैं। आहा...हा...! अरेरे...! ऐसी बातें, प्रभु! बातें तो तेरे घर की हैं, नाथ! परन्तु तुझे रुचनी चाहिए। बाहर की प्रवृत्तियाँ तो ढ़ेर सारे जगत में चलती हैं।

(यहाँ कहते हैं) **अन्य गति में भी सत् प्रगट होगा। इसलिए सत् के गहरे संस्कार डाल।** (अर्थात्) अन्दर में पुण्य-पाप से रहित (आत्मा है), इसके संस्कार डाल! तो आगे के भव में–उस भव में भी तुझे समकित होगा और भव का अन्त आयेगा।

(विशेष कहेंगे...) (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**आकाश–पाताल भले एक हो जायें परन्तु भाई! तू अपने ध्येय को मत चूकना, अपने प्रयत्न को मत छोड़ना। आत्मार्थ को पोषण मिले वह कार्य करना। जिस ध्येय पर आरूढ़ हुआ उसे पूर्ण करना, अवश्य सिद्धि होगी॥51॥**

## प्रवचन–7 वचनामृत–51 से 56

वचनामृत, 51 वाँ बोल है। 50 हुए (न)? यहाँ तो मुख्य बात है कि यह आत्मा जो है, वह निर्मल (है)। अन्दर त्रिकाल निरावरण निर्मल है। इसके ध्येय को चूकना नहीं –(ऐसा इस बोल में कहेंगे)। 51 वाँ बोल।

**आकाश–पाताल भले एक हो...** आहा...हा...! आकाश और पाताल भले एक हो, **परन्तु भाई! तू अपने ध्येय को मत चूकना,...** सूक्ष्म बात है, भाई! ध्येय जो आत्मा है, सत् चिदानन्द प्रभु! मंगलिक, उत्तम और शरण, वह अन्दर ध्रुवस्वरूप है। ऐसे ध्येय को तू चूकना नहीं। लाख बात आयें, प्रभु! आकाश और पाताल कदाचित् एक हो तो भी तेरे ध्येय को तू चूकना नहीं। यह मुद्दे की रकम है! है?

**अपने प्रयत्न को मत छोड़ना।** अन्दर में शुद्ध स्वरूप की सन्मुखता का प्रयत्न होना, (वह सही प्रयत्न है)। सूक्ष्म बात है, भगवान! अन्दर में शुद्ध स्वरूप के (सन्मुख होने का) जो प्रयत्न हो, उसे छोड़ना मत.....।

**आत्मार्थ को पोषण मिले, वह कार्य करना।** (अर्थात्) आत्मस्वभाव को पोषण मिले, वह कार्य करना। अन्तर में दर्शन, ज्ञान, वीर्य–सबको अन्तर चैतन्यस्वभाव में (मोड़ दे।) श्रद्धा-ज्ञान में ध्येय को मत चूकना। करना तो यह है। इसके बिना जन्म-मरण के

फेरे–चौरासी के अवतार मिटेंगे नहीं। है?

**आत्मार्थ को पोषण मिले, वह कार्य करना। जिस ध्येय पर आरूढ़ हुआ...** (अर्थात्) आत्मा के द्रव्यस्वभाव के ध्येय में चढ़ा, **उसे पूर्ण करना,...** आहा...! यह ध्येय है। बाकी यह बीच में जितने शुभभाव आयें, वे छोड़ने योग्य हैं। आहा...! राहगीर को जहाँ जाना है, उसमें बीच में (दूसरे) जितने मार्ग आयें, वे छोड़ने योग्य हैं। आहा...हा...!

आठ वर्ष की बालिका भी सम्यग्दर्शन पाती है! तब आत्मा सत् चिदानन्द ध्रुव शुद्ध (है), उस ध्येय को पकड़ती है और उस ध्येय को पकड़ने पर, प्रयत्न उस तरफ झुकता है। उसे पूर्ण करना। जिस ध्येय पर आरूढ़ हुआ, उसे पूर्ण करना। आहा...हा...! **अवश्य सिद्धि होगी।** अवश्य मुक्ति होगी। आहा...!

शब्द तो सादे हैं (परन्तु) भाव तो अन्दर के अनुभव के हैं। अनुभव में से वाणी निकली है। आनन्द के अनुभव में जो सहज बोले, वह वाणी यह निकल गयी है। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव (है)।

सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन–अनुभव होता है। आहा...हा...! तब उसे धर्म की शुरुआत कहते हैं। आहा...! उस आनन्द की लहर में, अतीन्द्रिय आनन्द के ध्येय में आरूढ़ आत्मा, बाहर में अनेक प्रकार के विकल्प आने पर भी, उन्हें छोड़ता जाता है। उनका आदर नहीं करता। यह वस्तु है।

(यहाँ कहते हैं) **अवश्य सिद्धि होगी।** ध्येय को पकड़कर अन्दर में जायेगा तो अवश्य तेरी मुक्ति होगी। इसमें सन्देह को स्थान नहीं है। परन्तु उस ध्येय को पकड़ना चाहिए। आहा...हा...!

सुबह तो आया था न? प्रथम आत्मा को जानना चाहिए–ऐसा कहा था। दूसरी सब बातें छोड़ देना! पहले में पहले (आत्मा को जान)! भगवान अन्दर पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वीतरागस्वभाव से भरा द्रव्य है। यह त्रिकाली द्रव्य तो निरावरण है। उसे दृष्टि में लेने पर, ध्येय को पकड़ने पर, पर्याय में जो आनन्द आया है, ऐसे ध्येय को छोड़ना मत। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं! **अवश्य सिद्धि होगी।** 51 वाँ बोल (पूरा हुआ)।

**शरीर शरीर का कार्य करता है, आत्मा आत्मा का कार्य करता है। दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं, उनमें 'यह शरीरादि मेरे' ऐसा मानकर सुख-दुःख न कर, ज्ञाता बन जा। देह के लिये अनन्त भव व्यतीत हुए; अब, सन्त कहते हैं कि अपने आत्मा के लिये यह जीवन अर्पण कर॥52॥**

52 (वाँ बोल)। **शरीर शरीर का कार्य करता है,...** क्या कहते हैं? यह शरीर का चलना, फिरना, बोलना, ये सब शरीर के कार्य शरीर करता है, आत्मा नहीं। आहा...हा...! शरीर, शरीर का कार्य अर्थात् पर्याय करता है। शरीर की पर्याय, यह हिलना, यह चलना, बोलना—सब कार्य—शरीर की पर्यायरूपी कार्य है। वह आत्मा का कार्य नहीं। आहा...हा...!

**आत्मा आत्मा का कार्य करता है।** आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप, वह ज्ञान और आनन्द के अनुभव का करता है। दोनों का कार्य एक क्षण में एकदम साथ-साथ होते हुए भी, दोनों का कार्य भिन्न-भिन्न है। अब यहाँ तक जाना...! बीच में दूसरे कामों का लक्ष्य छोड़कर वहाँ जाना है। करना यह मुख्य है। आहा...!

**आत्मा आत्मा का कार्य करता है। दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं,...** आहा...हा...! यह होठ हिलना भी जड़ की क्रिया है; आत्मा की नहीं। वाणी निकलती है, वह भी जड़ की क्रिया है, भाषावर्गणा की क्रिया है; आत्मा की नहीं। आहा...हा...! चश्मा यहाँ नाक पर आता है, वह चश्मा का कार्य है; आत्मा का नहीं। आहा...हा...! ऐसा गले उतरना...!

(कहते हैं कि) दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं। परमाणु, आत्मा के कारण से नहीं और आत्मा, परमाणु के कारण से नहीं। आत्मा में आत्मा के लक्ष्य से जो आनन्द आये, वह कोई शरीर या राग की अपेक्षा नहीं रखते; और शरीर, वाणी की क्रिया हो, उसमें आत्मा की कोई अपेक्षा नहीं है, आहा...हा...!

**उनमें 'यह शरीरादि मेरे'...** शरीरादि मेरे (कहा इसमें) आदि में लड़का, लड़की, पैसा, आबरू, कीर्ति, मकान सब (आ जाते हैं)। आहा...हा...! एक चैतन्यतत्त्व को छोड़कर, राग से लेकर जितने बाह्य तत्त्व हैं, वे सब मेरे—यह मान्यता मिथ्यात्व और विपरीत श्रद्धा है। आहा...हा...! प्रथम ही यह इसका मिथ्यात्व का महान दोष है। इस दोष को मिटाने

– 'शरीर, शरीर का कार्य करता है; आत्मा, आत्मा का कार्य करता है' वैसे इसे (दोनों की) भिन्नता का ज्ञान करना पड़ेगा। आहा...!

**उनमें 'यह शरीरादि मेरे' ऐसा मानकर सुख-दुःख न कर,....** (अर्थात्) शरीर की अनुकूलता देखकर, विषयादि के साधनों को देखकर, 'मुझे अच्छा लगता है, मज़ा आता है'–ऐसा न कर, प्रभु! वह सब दुःख है। प्रतिकूलता के साधन में–शरीर में रोग आये, शरीर के टुकड़े हो जाये, चूरा हो जाये, आहा...हा...! गाड़ी में त्रास दे, हाथी के पैर तले कुचल दें! (यह देखकर दुःखी न हो।)

'टोडरमलजी' को हाथी के पैर तले कुचल दिया था। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' है, जिन्होंने बनाया, उन्होंने स्पष्ट बात की है। वह बात राजा को, कुछ लोगों को रुचि नहीं। 'मोक्षमार्गप्रकाशक'! जो सत्य था, वह उसमें लिखा। प्रसिद्धि में (शास्त्र) आया (तो) कुछ लोगों को (बात) जची नहीं, इसलिए राजा के पास चुगली करके कहा (कि) साहब! यह तो सत्य को बहुत हानि पहुँचाता है! शिव की मूर्ति जेब में रखता है! और उसका अनादर करता है! डाली स्वयं ने! (यह सुनकर) राजा ने हुकम कर दिया कि, 'इसे हाथी के पैर तले कुचल दो!' अरर...! वह काल कैसा होगा? जैन होंगे... जैन के लोग होंगे! फिर भी वह काल ऐसा था (तो) राजा ने हुकम कर दिया (कि) 'हाथी के पैर तले (कुचल दो)!'

हाथी आया। हाथी भी पैर रखने से जरा हिचक रहा था। स्वयं कहते हैं, 'अरे... हाथी! राजा ने जब हुक्म किया है, तो तू क्यों हिचकता है? भाई!' आ...हा...हा...! 'ऐसे शरीर पड़ा है, उस पर पैर रख दे तू!' आहा...! 'मेरा आनन्द का नाथ इसमें नहीं कुचलेगा! मेरा प्रभु इससे भिन्न है।' आहा...! पैर रखने में हाथी हिचक रहा था! ऐसे जवान आदमी को... अरर्र...! पैर रखना! (टोडरमलजी ने कहा) 'भाई! राजा को जब इस प्रकार बुद्धि सूझी है तो तू क्यों हिचकता है? भाई!' आहा...हा...! जरा-सा भी द्वेष नहीं है हाथी पर! और राजा पर! 'जिस काल में जो पर्याय होनेवाली है, उसे कौन रोक सके? मैं एक चैतन्य आत्मा ज्ञाता-दृष्टा हूँ! उसमें किसी का असर (नहीं होता), उसे कोई बाधा करनेवाला है नहीं!' (ऐसा समाधान वर्तता है)। आहा...हा...!

भाई ! वह हाथी ऐसे आता है, पैर रखता है, देह छूट जाती है। आहा...हा... ! स्वर्ग में चले जाते हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के कर्ता ! शरीर से भी ममता छूट गयी है। शरीर मेरा नहीं। उसको रहना हो तो रहे और नहीं रहना हो तो न रहे। मेरे अधिकार की बात नहीं है। मेरा अधिकार तो मेरे आत्मा के लिये है। आहा...हा... ! ऐसी अन्दर में द्रव्य की दृष्टि, आत्मा के ध्येय की दृष्टि किये बिना, ऐसी समता ऐसे काल में रह नहीं सकती। इस आनन्द (स्वरूप की) जहाँ द्रव्यदृष्टि हुई है, वह हाथी पैर (रखता) है फिर भी स्वयं आनन्द में हैं !! आहा...हा... !

जिसने देह से भिन्न आत्मा को जाना है, ऐसा सम्यग्दृष्टि, फिर चाहे आठ वर्ष की बालिका हो, या कुत्ते का बच्चा हो परन्तु समकित प्राप्त करते हैं। ढाई द्वीप से बाहर असंख्य तिर्यंच सम्यग्दृष्टि हैं। यह मनुष्य क्षेत्र है (वह) 45 लाख योजन (में) (है)। मनुष्य वहाँ तक ही हैं। फिर ढाई द्वीप से बाहर असंख्य द्वीप हैं और असंख्य समुद्र हैं। उन सब में केवल तिर्यंच ही बसते हैं। उन तिर्यंच में भी असंख्यवें भाग में कितने ही समकिती हैं। असंख्यगुने मिथ्यादृष्टि हैं। वे (असंख्य) तिर्यंच समकिती हैं ! आहा...हा... !

बिल्ली होती है, उसे समकित हो और हो तो बाघ खाने आये (तो) डरे नहीं। निडरता से अन्दर (रहती है) कि शरीर मेरा नहीं है। शरीर की स्थिति (मेरी नहीं)।

'श्रीमद्' में आता है न?

**'एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,**
**गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।'**

आहा... ! मेरी दशा ऐसी आवे ! चाहे जैसा प्रतिकूल प्रसंग बने... !

**'एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,**
**गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।**
**अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो।'**

'श्रीमद् राजचंद्र' गृहस्थाश्रम में कहते हैं !!

**'अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो।**
**जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब।।'**

मित्र का योग हुआ! मुझे शरीर चाहिए नहीं और उसे चाहिए (तो) भले ही ले जाये!! आहा...हा...! (परन्तु) ऐसा कब होता है प्रभु?! शरीर से आत्मा को भिन्न जाना हो, तब यह बात होती है। शरीर, वाणी, मन और राग में रँगनेवाले को यह बात नहीं बैठेगी। आहा...हा...! राग, शरीर और वाणी, यह जड़-मिट्टी, इसका जिसे रंग चढ़ा, उसे आत्मा का रंग नहीं चढ़ता और जिसको आत्मा का रंग लगा है, उसे शरीर आदि का रंग छूट जाता है। आहा...हा...! वही कहते हैं कि यदि इस देह को सिंह ले जाये तो (वह) मेरा मित्र है। मुझे देह चाहिए नहीं और उसको देह चाहिए (तो वह) मेरा मित्र है!! आहा...हा...!

गृहस्थाश्रम में (थे)! लाखों रुपयों का जवाहरात का व्यापार था। उनका नैतिक जीवन तो अलौकिक था!! 'श्रीमद् राजचन्द्र'! एक बार किसी के साथ हीरे का सौदा किया था। उसमें जिन हीरों का सौदा किया था, उसके बज़ाय दूसरे हीरों की पुड़िया वह आदमी दे गया। साधारण हीरों का व्यापार किया था। साधारण हीरे माँगे थे। ऐसा निश्चित् किया था कि ये हीरे (लेने)। इसके बज़ाय वह गलती से बहुत कीमती हीरों की पुड़िया दे गया। इन्होंने घर या दुकान पर देखा... तो यह क्या?! लाखों रुपयों की जिसमें आमदनी (थी)! जिन कीमत के जिन हीरों का सौदा किया था, वह नहीं और यह क्या? अरेरे..! जिसके हैं वह अभी आायेगा! ज्यों का त्यों रख दिया। पुड़िया ज्यों की त्यों बन्द करके रख दी! वह लेने आया–(और कहा) 'प्रभु! हमारा जो सौदा हुआ था, वह यह नहीं। यह चीज़ तो (मूल्यवान) हीरे–मानिक हैं। इसमें तो लाखों रुपये की कीमत के (हीरे) आ गये हैं।' ('श्रीमद्जी' ने कहा) 'भाई! यह रखी है तुम्हारी पुड़िाया, बापू! वह मेरा नहीं। हमने इसका सौदा नहीं किया था। प्रभु! ये ले जा तेरा!!' आ...हा...हा...!

यह तो कितने वर्ष (पहले की) बात (हुई)। यह 57 वर्ष पहले की बात है। संवत् 1957 वर्ष पहले!! अभी तो पूरा जीवन ही बदल गया है। उस समय तो कितना ही नैतिक जीवन भी था। ऐसे जीवन में, लाखों की आमदनी एक पुड़िया में थी। लेकिन ऐसे देखा... और वापस बाँधकर रख दिया। वहाँ वह लेने आया (और कहा) 'साहब! हमने इसका व्यापार नहीं किया था।' ('श्रीमद्जी' ने कहा) 'भाई! ये रहे, बापू! ले जाईये!!' वह कहता है कि, 'ये है कौन?!' '50 की साल में जिसमें लाखों की आमदनी!' अभी तो लाख अर्थात् साधारण गिना जाता है। पहले के लाख और अभी के पच्चीस लाख! सब एक

बराबर ! उस समय में ऐसी लाख की आमदनी को छोड़ दिया.. पैसे लेनेवाले को तो लगा 'ये है कौन ? !' ये तो... आहा...हा.. ! यह पुरुष कौन है ? ! कि जिसको मैंने पुड़िया दी और उसमें से कुछ न लेकर वापिस रख दिया !' ऐसा तो समकिती का नैतिक जीवन होता है ! ! झवेरचन्दभाई ! समकिती का–धर्मी का नैतिक जीवन ऐसा होता है ! ! जिसको पैसे आदि की दरकार नहीं। अनैतिकपना बिलकुल नहीं हो सकता। परस्त्री का त्याग होता है। स्वप्न में भी परस्त्री नहीं होती। वह माँस, दारू, शराब को छूए तक नहीं। इसके सामने देखे नहीं। आहा...हा... !

जिसको आत्मा हस्तगत हुआ है, कहते हैं कि 'शरीर शरीर का कार्य करता है।' **'यह शरीरादि मेरे' ऐसा मानकर सुख-दुःख न कर,...** आहा...हा... ! मुनियों को घानी में पील डाला है ! उस समय काल कैसा होगा ? जैन होंगे लेकिन कोई बोल नहीं सका होगा। मुनियों को ! महान सन्तों को ! दिगम्बर मुनि ! आत्मध्यानी आनन्द में रमणता करनेवाले, उन पर राजा को शंका हो गयी कि रानी के साथ इसकी कोई बातचीत या कुछ (दूसरा है) ! (इसलिए) घानी में पील दो ! घानी में पील दिया ! तिल को पीलते हैं वैसे पील दिया ! लेकिन (मुनिराज तो) अन्तर आत्मा के आनन्द के ध्यान में (लीन) ! आहा...हा... ! मेरा आनन्द है वह मेरे पास है। शरीर को मैं छूता नहीं और यह पीलनेवाला भी शरीर को छूता नहीं। मेरी चीज़ तो इससे भिन्न है। आहा... ! ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर 'शरीरादि मेरे नहीं हैं' (ऐसा अनुभव होता है)। है ?

**'यह शरीरादि मेरे' ऐसा मानकर सुख-दुःख न कर, ज्ञाता बन जा।** आ...हा...हा... ! करना तो यही है, भाई ! लाख बात दूसरी बाहर की (हो) तो भी करना तो यही है। ज्ञाता बन जा। जानने-देखनेवाला (बन जा)। किसी भी क्रिया का बिलकुल करनेवाला नहीं और वह क्रिया मुझे छूती भी नहीं। आहा...हा... ! मैं तो अशरीरी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा (हूँ)। ऐसा एक क्षण के लिये तो बन जा ! पड़ोसी तो बन जा ! आहा...हा... ! शरीर, वाणी और परचीज़ का पड़ोसी हो जा ! आहा... ! है ?

**देह के लिये अनन्त भव व्यतीत हुए;...** यह वाक्य 'श्रीमद्' में (आता है) देह के लिये आत्मा ने अनन्त भव किये। देह की ममता के लिये अनन्त-अनन्त भव किये। आहा... ! चींटी, कौआ, कुत्ता, नरक, निगोद... वीतराग कहते हैं कि जिसके दुःख सुने

भी न जाये और उस दुःख को भोगते समय देखनेवाले की आँख से आँसुओं की धारा निकलती है! ऐसे दुःख प्रभु तूने अनन्त भवों में (भोगा है)। लेकिन (ऐसा सब) कुछ है नहीं—ऐसा माननेवाले का भविष्य में क्या होगा। (ऐसा) नहीं माननेवाले को यह बात नहीं बैठेगी।

प्रभु! किन्तु तू तो आत्मा है न नाथ! अनादि—अनन्त आत्मा हो! शरीर छूटेगा परन्तु तेरा आत्मा छूटेगा भविष्य में? आत्मा तो भविष्य में भी आत्मरूप रहेगा तो वह कहाँ रहेगा? प्रभु! वह कहाँ जायेगा? यह छोड़कर उसका स्थान कहाँ रहेगा? उसका धाम कहाँ रहेगा? यदि आत्मा को राग से (और) पर से भिन्न जाना होगा तो उसका स्थान भविष्य में भी आत्मा में रहेगा और यदि शरीर को, राग को अपना माना होगा (तो) भविष्य में मिथ्यादृष्टि में, दुःख में रहेगा। आहा...हा...! यह देह तो अमुक काल पर्यन्त रहेगी। फिर आत्मा तो अनादि—अनन्त है, उसका तो नाश होनेवाला है नहीं। आहा...हा...! कठिन बात है।

वह कहते हैं। **देह के लिये अनन्त भव व्यतीत हुए;...** देह की ममता और वाणी की ममता के लिये, प्रभु! तेरे अनन्त भव हुए। **अब, सन्त कहते हैं...** तेरी सत्ता अन्दर में भिन्न है—ऐसा सन्त कहते हैं। **अब, सन्त कहते हैं कि अपने आत्मा के लिये यह जीवन अर्पण कर।** आहा...हा...! आत्मा के लिये एक बार अन्दर जा! तेरा हित वहाँ है। बाहर किसी पुण्य-पाप और पुण्य-पाप के फल में प्रभु! तेरा हित नहीं है। आहा...! तुझे न जँचे, न रुचे, परन्तु अन्त में रुचि करनी ही होगी। यदि हित करना (हो तो) यह (कार्य) करना ही होगा। बाहर में कहीं भी रंचमात्र भी सुख नहीं है। आहा...हा...! है? **आत्मा के लिये यह जीवन अर्पण कर।** आहा...हा...!

**निवृत्तिमय जीवन में प्रवृत्तिमय जीवन नहीं सुहाता। शरीर का रोग मिटना हो तो मिटे, परन्तु उसके लिये प्रवृत्ति नहीं सुहाती। बाहर का कार्य उपाधि लगता है, रुचता नहीं॥53॥**

(53 वाँ बोल) **निवृत्तिमय जीवन में प्रवृत्तिमय जीवन नहीं सुहाता।** क्या कहते हैं? अन्तर में जिसने राग से और शरीर से भिन्न (आत्मा को) जाना, ऐसे निवृत्तिमय आत्मा को रागादि प्रवृत्ति रुचती नहीं। आहा...हा...! राग आता है, राग होता है जरूर परन्तु रुचता

नहीं, ऐसा कहते हैं, देखा? **निवृत्तिमय जीवन में प्रवृत्तिमय जीवन नहीं सुहाता।** (अर्थात्) पुण्य और पाप भाव की प्रवृत्ति (निवृत्तिमय आत्मा को नहीं रुचती)। आहा...हा...! शरीर की प्रवृत्ति तो शरीर में रही। आत्मा की पर्याय में (वह नहीं), ये शरीर, कर्म, स्त्री और कुटुम्ब तो तेरी पर्याय में भी नहीं हैं। क्या कहा यह?

तेरा जो त्रिकाली चैतन्यद्रव्य है, उसमें तो वह चीज़ है नहीं परन्तु तेरी वर्तमान दशा, वर्तमान पर्याय, वर्तमान हालत है, उसमें शरीर, कर्म, स्त्री-कुटुम्ब—ये तो तेरी पर्याय में (भी) हैं नहीं। समझ में आया? वे तो उनके स्थान में हैं। तेरी पर्याय में भी नहीं। शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी, आबरू—कीर्ति, मकान—ये तो तेरी पर्याय में भी नहीं हैं। परद्रव्य (अपनी) पर्याय में कैसे हो? परद्रव्य तो परद्रव्य में है। आहा...हा...! तेरी पर्याय में—अवस्था में होवे तो राग-द्वेष और अज्ञान है। आहा...हा...! समझ में आया?

भगवान! अन्दर द्रव्य, गुण,पर्याय के नाम भी ठीक से सुने न हो! द्रव्य किसे कहें? गुण किसे कहें? पर्याय किसे कहें? द्रव्य तो अनन्त गुणों का पिण्ड, वह त्रिकाल द्रव्य और इस द्रव्य की शक्ति—स्वभाव—गुण है वह गुण, और उसकी बदलती-पलटती अवस्था, वह पर्याय। इस पलटती अवस्था में शरीर, कर्म, स्त्री और कुटुम्ब इसमें है नहीं! द्रव्य, गुण में तो नहीं परन्तु तेरी पर्याय में भी ये हैं नहीं! आहा...हा...! ऐसी बात! ये सब शरीर, चश्मा, हड्डियाँ और कपड़े, ये सब तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं हैं। क्या कहा समझ में आया?

आत्मा की जो वर्तमान दशा है, भले ही (उसमें) पुण्य-पाप की प्रवृत्ति हो, यह पुण्य-पाप की प्रवृत्ति तेरी पर्याय में है, जबकि ये शरीर, वाणी, कर्म और ये सारी चीज़ें तो तेरी पर्याय में भी नहीं हैं। आहा...हा...! अपनी पर्याय में जो वस्तु है नहीं, उसे अपनी मानना, (यह) बड़ा बावलापन है!

यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय में पुण्य—पाप और अज्ञान है, (उसे) भी अपना मानना, वह मिथ्यात्व है; फिर जो चीज़ पर्याय में भी नहीं है—शरीर, कर्म, पैसा, आबरू, कीर्ति, धूल, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, ये सब तो आत्मा की पर्याय से बाहर वर्तते हैं (उन्हें अपना मानना वह तो महा मिथ्यात्व है)! आहा...हा...! समझ में आया? भाषा तो सादी है, प्रभु! परन्तु वस्तु तो बहुत सूक्ष्म है!

प्रभु! तू द्रव्य, गुण और पर्याय–तीन में हो। द्रव्य अर्थात् त्रिकाली चीज़, गुण अर्थात् उसकी शक्ति और स्वभाव। पर्याय अर्थात् बदलती अवस्था। इस अवस्था में शरीर नहीं, कर्म नहीं, मकान नहीं, आबरू नहीं, पैसा नहीं, स्त्री नहीं, कुटुम्ब नहीं–पर्याय में ये चीज़ें हैं ही नहीं। आहा...हा...! पर्याय में है तो इतना है कि 'ये मेरे हैं', 'मैं उसका हूँ'–ऐसी मिथ्यादृष्टिपने की (मान्यता) पर्याय में है। आहा...हा...! भाषा तो सादी है। समझ में आये ऐसा है।

इन सारी चीज़ों की अस्ति आत्मा के द्रव्य-गुण में तो नहीं है, आत्मा जो त्रिकाली द्रव्य और गुण में तो इसकी पर्याय भी नहीं है। क्या कहा? आत्मा त्रिकाली द्रव्य (है) और उसमें त्रिकाली गुण (है)। आनन्दादि त्रिकाली गुण (है)। उसमें इसकी वर्तमान पर्याय भले ही निर्मल या रागादि (रूप हो) परन्तु वह पर्याय भी द्रव्य-गुण में नहीं है। पर्याय अर्थात् उसकी अवस्था, अवस्था में है। उस अवस्था में शरीर, वाणी, मन, कर्म आदि हैं नहीं, तो स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब तो कितने दूर रह गये! तेरी पर्याय में वे कभी आते भी नहीं। आहा...हा...! जो पर्याय में नहीं है, उसे अपना मानना, यह तो महा मिथ्यादृष्टिरूप पागलपन–बावलापन है। परन्तु पर्याय में राग-द्वेष और अज्ञान है, उसे भी अपना मानना, वह मिथ्यात्व और अज्ञान है। आहा...हा...!

यहाँ वही कहते हैं, **निवृत्तिमय जीवन में...** (अर्थात् कि) राग से मैं भिन्न हूँ, ऐसा जहाँ अन्तर (में) निवृत्तिमय जीवन हुआ, उसे प्रवृत्तिमय जीवन नहीं सुहाता। उसे अन्दर में राग और द्वेष के परिणाम आवे, ऐसी प्रवृत्ति नहीं सुहाती। बाहर की प्रवृत्ति तो कर ही नहीं सकता। यह व्यवसाय कर सकता होगा या नहीं? नहीं? ये कपड़े के लाखों का व्यापार, दस-दस, बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस लाख के कपड़े से बड़ी अलमारियाँ भरी हो, लाखों का व्यापार चलता हो, यह आत्मा की पर्याय में होगा या नहीं? राग है, यह चीज़ नहीं है। चीज़ तो दूर है। 'यह मेरा है'–ऐसा राग उसकी पर्याय में है। आहा...हा...! भगवानजी भाई! बातें ही अलग प्रकार (की) हैं, बापू!

यहाँ तो आ पड़े हैं, अफ्रीका में कहाँ से कहाँ!?

**मुमुक्षु :** अहोभाग्य हमारे!!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आपकी प्रार्थना थी। तुम्हारे रायचन्दभाई की और इन... भाई की, फिर लक्ष्मीचन्दभाई की और जेठालालभाई। रायचन्दभाई ! रायचन्दभाई पहले थे। यह वहाँ ऐसा करना है और मुझे ऐसा करना है। फिर... आया। सहज जो बनना था, यह बनने का काल है। जिस क्षेत्र से स्पर्श होना (है), उसमें कुछ अन्यथा नहीं हो सकता। जिस क्षेत्र में जो पर्याय आनेवाली है, वह क्षेत्र तीन काल में बदलना सम्भव नहीं। यह (पर्याय) करने से नहीं होती। आहा...हा...! जिसको शास्त्र 'क्षेत्र स्पर्शना' कहते हैं। स्पर्शना का अर्थ छूना नहीं। परन्तु जिस क्षेत्र में जाना होता है, वहाँ वह जाता ही है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तेरी पर्याय में भी जब शरीर, वाणी, कर्म और स्त्री, कुटुम्ब, परिवार या पति-पत्नी ये कुछ भी (तेरी) पर्याय में नहीं हैं, प्रभु! पर्याय में होवे तो यह कि, 'ये मेरे हैं,' 'मैं उनका हूँ' ऐसी मिथ्या भ्रान्ति तेरी पर्याय में है। आहा...हा...! इस भ्रान्ति की पर्याय का एकबार छेद डाल न! प्रभु! ऐसा अवसर बार-बार मिलना मुश्किल है, नाथ! ऐसा मनुष्यपना मिलना दुर्लभ है! इसमें भी सच्चा सत्समागम और वीतराग जिनवाणी का मिलना, यह तो महा मुश्किल है!! आहा...हा...!

एक बार तो कहते हैं कि **निवृत्तिमय जीवन में प्रवृत्तिमय जीवन नहीं सुहाता।** जिसको राग और द्वेष, पर्याय में होने पर भी द्रव्य की दृष्टि से उसमें है नहीं, ऐसा जिसका सम्यक् जीवन हो गया, उसे राग की प्रवृत्तिमय जीवन नहीं सुहाता। पर की क्रिया की प्रवृत्ति (का) कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। कपड़े का व्यापार और ये कपड़े इधर से उधर करना, अलमारी में जँचाना, ये सारी क्रियाएँ आत्मा कर सकता नहीं। मात्र 'ये मेरा और मैं कर सकता हूँ'—ऐसी विभ्रमणा उसकी पर्याय में है परन्तु जिसने इस विभ्रम को टाला, ऐसे निवृत्तिमय जीवन में प्रवृत्ति का राग आये तो भी रुचता नहीं, सुहाता नहीं, रुचता नहीं, दुःखरूप लगता है। जैसे छुरी (का) घाव पड़ता हो, शरीर पर जैसे छुरी की चोट पड़े; वैसे निवृत्तिमय जीवनवाले को राग और द्वेष के परिणाम छुरे के प्रहार जैसे दुःख(रूप) लगते हैं!! आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, प्रभु! यह नैरोबी शहर में ऐसी बातें!! बिना भाग्य के बापू! यह मिले ऐसा नहीं है!! आहा...हा...! पण्डितजी!

भगवान आत्मा! त्रिकाल निवृत्तमय है। द्रव्य है, वह तो त्रिकाल निवृत्तमय ही है। पर्याय में राग हो, (परन्तु) पर्याय में परवस्तु नहीं है। पर्याय में राग हो परन्तु द्रव्य में वह नहीं

है। द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण है। ऐसे निरावरण (द्रव्य की) दृष्टि हुई, उसे प्रवृत्तिमय जीवन नहीं सुहाता।

(अब कहते हैं कि) **शरीर का रोग मिटना हो तो मिटे,...** आहा...हा...! समकिती को निवृत्त जीवन है, उन्हें शरीर में रोग आये, वह मिटना हो तो मिटे! इसकी उन्हें चिन्ता होती नहीं! आहा...हा...! (क्योंकि) वह मेरी वस्तु नहीं है। मेरी नहीं है, उसमें जो होना हो, सो हो। मुझे क्या है? आहा...हा...!

राजा महल में रहता हो और साथ में (रही हुई) कोई झोंपड़ी जलती हो तो इससे वह दुःखी होगा? वह झोंपड़ी उसकी है–किसी गरीब की है, उसका होगा! मेरा मकान तो कोई जलता नहीं। वैसे शरीर, मन, वाणी में कोई भी रोग आदि आने पर... आहा...हा...! रोग मिटे या न मिटे, इसके लिये प्रवृत्ति नहीं सुहाती। बहुत सूक्ष्म है, प्रभु!

***यह तो बहिन को अन्दर से (आया है)। 64 ब्रह्मचारी बहिनें-बेटियाँ हैं। उनके बीच ये बोले थे, जिसमें ये सब आ गया है। बहिन तो अभी एक 'पवित्र मूर्ति' हैं!! हिन्दुस्तान में स्त्री में दूसरा ऐसा जीव मिलना मुश्किल है!! ऐसा वह जीव है! ऐसे ही कोई संस्कार लेकर आये हैं कि उन्हें कुछ भी नहीं सुहाता। वे भगवान की भक्ति में बैठे और उल्लास दिखे, परन्तु उन्हें अन्दर में रुचता नहीं!! धन्नालालजी! आहा...हा...! अरे...! बहिन यहाँ आ न सकें! डॉक्टर ने मना किया कि बाहर घूमना नहीं है। आहा...! इसलिए यहाँ से पहले सोनगढ़ जाना पड़ेगा। दूसरों की बहुत प्रार्थना है लेकिन बहिन आ सके नहीं। इसलिए बीच में–महीने-सवा महीने का विरह पड़ गया है! इसलिए पहले तो मुम्बई होकर सोनगढ़ जाना पड़ेगा। फिर अन्यत्र (जाना होगा)।***

बड़ौदा में मन्दिर होनेवाला है। बड़ौदा में मन्दिर हुआ है। उसका फागुन सुदी-13 का मुहूर्त है। वहाँ जाना पड़ेगा, ऐसा अभी लगता (है)। इससे अठारह मील दूर हमारा व्यापार का गाँव, 'पालेज' था, वह पालेज पास है (वहाँ) लड़के हैं। वे लोग भी बेचारे दो-चार दिन की माँग करते हैं तो जाना पड़ेगा!! आहा...हा...! .....।

यहाँ कहते हैं, कौन कहाँ जाये? कौन कहाँ रहे? यह तो शरीर की स्थिति जहाँ रहने की हो, वहाँ रहती है और नहीं रहने की हो, वहाँ नहीं रहती। आत्मा, शरीर को ले जाये या

आत्मा, शरीर को जाने से रोक ले, यह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। आहा...हा...! ऐसा सुनना मुश्किल पड़े! (फिर भी) बहिनें-लड़कियाँ सब उत्साहपूर्वक सुनते हैं! आदमी भी उत्साहपूर्वक सुनते हैं। आहा...! ऐसी बात है, प्रभु!

एकबार 'हाँ' तो कर! 'हाँ' करेगा तो हालत होगी। सत्य यही है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है, ऐसी यदि अन्दर से 'हाँ' आयेगी तो 'हाँ' में से 'लत' होकर 'हालत' अर्थात् पर्याय होगी!! 'हाँ' में से 'हालत' होगी! परन्तु 'ना' में से नरक होगा!! 'ना' करेगा तो नरक और निगोद होंगे। आहा...हा...! ऐसा स्वरूप है, प्रभु!

***बहिन की भाषा संक्षेप है परन्तु उसमें गहराई बहुत है!!*** *आहा...!*

(यहाँ कहते हैं, शरीर में रोग आये) **परन्तु उसके लिये प्रवृत्ति नहीं सुहाती।** शरीर में रोग आये तो उसे मिटाने की प्रवृत्ति भी नहीं सुहाती। आहा...हा...! **बाहर का कार्य उपाधि लगता है,...** बाहर के जितने भी काम (हैं वे) सब उपाधि लगते हैं। **रुचता नहीं।** आहा...हा...! अन्तर में उसे रुचता नहीं। राग और पुण्य-पाप के विकल्प से प्रभु! तू भिन्न है। उसे एक बार रुचि में ले तो सही! पोषाण तो कर!

बनिये को व्यापार में पाँच रुपया मण माल मिलता हो और यहाँ यदि साढ़े पाँच–छह (रुपये) में बिकता हो, जब तो लायेगा, तो उसे पुसाता है परन्तु पाँच रुपये में लाकर यहाँ चार में बिकता हो और पाँच भी यदि नहीं मिलते हो, वह माल लायेगा? यह बनिये को पुसायेगा? पाँच रुपया का मण भले ही सौ मण (लाये) या हज़ार मण लाये, परन्तु यहाँ छह रुपया उपजता हो या साढ़े पाँच उपजते हो तो लायेगा।

वैसे अन्दर आत्मा को... आहा...हा...! राग और पुण्य-पाप रुचते नहीं, उसे सुहाते नहीं। उसका पोषाण तो आत्मा में ही है। आत्मा पुसाता है। आहा...हा...! बात सूक्ष्म, प्रभु!

तेरी प्रभुता की बात क्या करना नाथ! अन्दर भगवत्स्वरूप है! परन्तु अभी ये बातें बहुत कम हो गयी, बदल गयी। प्रवृत्ति में सर्वस्व मान लिया। अतः अन्दर में निवृत्तिमय कौन है? इस तत्त्व की बात ही गुम हो गयी! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, **बाहर का कार्य उपाधि लगता है, रुचता नहीं।** आहा...हा...!

**अनुकूलता में नहीं समझता तो भाई! अब प्रतिकूलता में तो समझ! किसी प्रकार समझ... समझ, और वैराग्य लाकर आत्मा में जा॥54॥**

54 (वाँ बोल) **अनुकूलता में नहीं समझता तो भाई! अब प्रतिकूलता में तो समझ!** शरीर में रोग आये, श्वास चढ़े, घाव हो,... आहा...हा...! अन्दर में रोग में चिल्लाता हो, रोम-रोम चीखता हो! शरीर वैसा का वैसा हो परन्तु भीतर में से अंगारे उठे... ऐसे अंगारे उठे...! अपने एक सेठ आया है न?.... मुम्बई में। अरे! वह तो नहीं परन्तु एक बहिन है हमारे सोनगढ़ में–'ललिताबेन' उन्हें पूरे शरीर में अग्नि (दाह) जले। इस शरीर में (यदि) अग्नि भी जले, लेकिन अन्दर आत्मा का यदि ज्ञान करे तो, यह अनुकूलता में नहीं समझता तो प्रतिकूलता के समय तो समझ (कि) ऐसी स्थिति आकर खड़ी रही है, वह जड़ की है मेरी नहीं। मेरी वज़ह से नहीं हुई। वह तो उसके कारण से क्रमबद्ध अवस्था में (उसके) कारण से वह अवस्था हुई है। मेरे में वह है नहीं। आहा...हा...!

शरीर में कीड़े पड़े! एक बार कहा था न? एक अठारह साल की बाई थी। दो साल शादी को हुए थे। उसके पति की वह दूसरी (स्त्री) थी। हमारे तो वहाँ बहुत परिचय (है)। ऐसे में उसे शीतला निकली। 'शीतला' समझते हो? इस शीतला में दाने-दाने में कीड़े पड़ गये! दाने-दाने जीव उत्पन्न हो गये! कीड़े! पूरे शरीर में...! अठारह साल की उम्र! (उसको) गद्दे पर सुलाया था। ऐसे घुमाये तो हज़ारों कीड़े (पड़े) ऐसे दूसरी ओर घुमाये तो वहाँ हज़ारों (कीड़े गिरे)!! वे (कीड़े) अन्दर काटे..! वह (अपनी माँ को कहती है), 'माँ!...' ऐसे बोलती थी। 'लाठी' की बात है। है कोई लाठी के? 'धीरुभाई के ड्योढ़ी में– बहुत साल (पहले की) बात है।

**मुमुक्षु :** छोटा भाई है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ये 'छोटा भाई' भी है। 'धीरुभाई नहीं यह 'धीरु'? इसका दरवाजा है न, उसके अन्दर है। बाई को कीड़े पड़ गये थे वह (कहती है,) 'माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में नहीं किये! यह क्या आया है? मेरे से सहन नहीं होता! सोया नहीं जाता,

फिरा नहीं जाता, रहा नहीं जाता, करवट बदल नहीं सकती। शरीर ऐसे पड़ा हो तब कीड़े काटते हैं!' आहा...हा...! पूरे शरीर में, (फिर तो) देह छूट गयी।

ऐसे दुःख आये तो भी कहते हैं, समकिती को इसकी दरकार नहीं रहती! ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! जिसने जीव को राग और शरीर से भिन्न जाना, उसके शरीर में ऐसे कीड़े पड़े... कोई (ऐसा) असाता का उदय आये.. आ...हा...हा...! तो भी उसमें से उसकी प्रवृत्ति करना रुचता नहीं, सुहाता भी नहीं। आ...हा...हा...! है?

**अनुकूलता में नहीं समझता तो भाई! अब प्रतिकूलता में तो समझ! किसी प्रकार समझ... समझ, और वैराग्य लाकर आत्मा में जा।** आहा...हा...! शरीर में रोग आये तो उस प्रतिकूलता के समय प्रभु! एक बार ऐसे अन्दर में जा न! अन्दर भगवान विराजमान है! अरे! कैसे माने? अभी तो एक अंक लिखना नहीं आता, इसको ये सारी बातें (कैसे) समझ में आये? भगवान! समझनी होगी, प्रभु! वरना यह भव चला जायेगा। शरीर का नाश होकर श्मशान की राख होगी!! इसकी तो राख (होनेवाली है)! यहाँ से अग्नि निकलेगी!! आहा...! यह (शरीर) कोई सोना नहीं है, सोना हो तो भी क्या? आहा...हा...! मैं शरीर से भिन्न (हूँ ऐसा) प्रभु! एक बार निर्णय कर! निर्णय करके शरीर में दुःख आये तब तो समझ! अनुकूलता में नहीं समझता तो प्रतिकूलता में तो समझ, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! यह भाई.... नहीं। ये....

**मुमुक्षु :** झवेरचन्दभाई।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** झवेरचन्दभाई नहीं? ये बेचारे ऐसे.... उनके घर गये तो रोने लगे। कठिनता से उसने देखा... भाई नहीं? ...ना.... 'भाई' उनके घर में... बहिन है... गये थे। ऐसे, आहा...हा...! बहिन ने तो... लगाया, वे भी रोने लगी। यह... जड़ की अवस्था। बापू! दूसरों को (प्रतिकूलता) है—ऐसा मानकर, मुझे नहीं आयेगी—ऐसा मत रहने दे। समझ में आया? ऐसी अवस्था प्रभु! अनन्तबार तेरी भी हुई है। उसे तू भूल गया। भूल गया, इसलिए नहीं था, ऐसे कैसे कहा जाए? नाथ! पूर्व में अनन्त बार प्रतिकूलता आयी है। ऐसी आयी है कि रोटी का टुकड़ा भी न मिले और शरीर में लट-कीड़े पड़े हो, फिर भी देह छूटे नहीं, पाँच-पच्चीस साल रोग में ऐसा का ऐसा रहना पड़े। अब ऐसे समय तो आत्मा को भिन्न मान!

ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! है न?

**वैराग्य लाकर आत्मा में जा।** आहा...हा...! पर के प्रति वैराग्य लाकर, स्व जो चैतन्य का घर है, उस निज घर में जा! पशु को सुबह बाहर ले जाते हैं और शाम को जब वह पशु घर आते हैं, (तब) दरवाजा बन्द हो तो दरवाजे से सिर मारता है! देखा है या नहीं? गाँव के बाहर चराने ले जाते हैं या नहीं? इसमें (शाम को वापस) आवे और अन्दर बहिनों को पता न हो कि आया है, दरवाजा बन्द हो तो सिर मारेगा! क्योंकि यहाँ चार प्रहर रात को चैन से रहना है। इस हेतु से सिर पटकता है, फिर आराम से अन्दर रहता है! वैसे तुझे प्रतिकूलता आयी है तो सिर मार न एक बार!! और अन्दर निवृत्तिमय (स्वरूप में) जा न! ऐसा कहते हैं।

**वैराग्य लाकर...** आहा...! यहाँ तो यह बात है, प्रभु! वैराग्य लाकर एक बार तो अन्दर में देख! वहाँ प्रभु विराजमान है! तू भगवन्तस्वरूप है, प्रभु! मुनिराज ने तुझे 'भगवान' कहकर तो बुलाया है! है? उसमें ('समयसार' में) 72 वीं गाथा में है। 'भगवान' कहकर बुलाया है। तीन बार 'भगवान' कहकर बुलाया है। आहा...हा...! भगवान तू तो पुण्य-पाप के मैल से रहित हो न नाथ! ऐसा वहाँ कहा है। है उसमें?

प्रभु! पुण्य-पाप के भाव है, वह तो अशुचि और मैल है न, प्रभु! तू वह नहीं। भगवान! तू तो निर्मल है न अन्दर! वहाँ नज़र तो कर नाथ! आहा...हा...! मुनिराज, जगत के प्राणी को 'भगवान' कहकर सम्बोधन करते हैं! आहा...हा...!

'द्रव्यसंग्रह' का एक बार नहीं कहा था? 'द्रव्यसंग्रह!' धर्मध्यान का 'अपाय' एक भेद है। धर्मध्यान का विचार करने पर 'अपाय' एक भेद है। इसमें धर्मध्यान का विचार करनेवाला ऐसा विचारता है कि मैं तो परमात्मा हूँ ही। आत्मज्ञान हुआ है, अल्प काल में अब सिद्ध होनेवाला हूँ!! तो हे आत्माओं! आप सभी परमात्मा होओ। ऐसी बात है, लो यह! आ...हा...हा...हा...! 'द्रव्यसंग्रह' में है 'द्रव्यसंग्रह' में बताया था न? 'द्रव्यसंग्रह' यह है। 'तुम भगवान होओ! प्रभु! यह भूल जाओ (कि) देह-स्त्री का, नपुंसक का और पशु का'—ये देह तो जड़ की हैं, भूल जा नाथ! अन्दर चैतन्य आनन्द का सागर भगवान विराजता है, उसकी ओर कभी देख तो सही! नजर तो कर! यह तू पूर्ण परमात्मा (हो)!

तेरे गुणगान गाते हुए परमात्मा थक जाते हैं!! आहा...हा...! अरेरे...! सुनना मुश्किल पड़े! प्रभु! वहाँ तू एक बार देख तो सही! नज़र तो कर!

वही यहाँ कहते हैं, **वैराग्य लाकर आत्मा में जा।** यह 54 वाँ हुआ।

**चैतन्य की भावना कभी निष्फल नहीं जाती, सफल ही होती है। भले ही थोड़ा समय लगे, किन्तु भावना सफल होती ही है॥55॥**

55 (वाँ बोल)। **चैतन्य की भावना कभी निष्फल नहीं जाती,...** क्या कहा? भगवान चैतन्यस्वरूप की जिसको अन्दर लगन लगी, भावना (हुई), वह निष्फल नहीं जाती। बीज बोया वह निष्फल नहीं जाता। बीज में से वृक्ष होता है, अवश्य होता ही है। बीज बोया, वह निष्फल नहीं जाता। वैसे जिसने आत्मा का सम्यक्रूपी बीज बोया, सम्यक् भावना की, वह निष्फल नहीं जाती। **सफल ही होती है।** बीज बोया, इसमें से वृक्ष होता ही है और इससे असंख्यगुने फल आयेंगे। बाजरा का बीज एक हो लेकिन उसकी बाल में सैकड़ों बाजरे के दाने होते हैं। वैसे एक बार तेरे आत्मा (में) आनन्द का बीज बो दे तो अनन्त आनन्द की तुझे (फलेगा)!! आहा...हा...! प्रभु! तुझे अनन्त आनन्द आयेगा। आहा...हा...! है?

**सफल ही होती है। भले ही थोड़ा समय लगे,...** धीरे... धीरे... धीरे... अन्दर जाने में थोड़ा समय लगे, परन्तु ऐसा करने में लगा रहे! **किन्तु भावना सफल होती ही है।** अन्तर की भावना जो है, वह सफल हुए बिना नहीं रहती। आहा...हा...!

**जीव स्वयं पूरा खो गया है वह नहीं देखता, और एक वस्तु खो गयी तो मानों स्वयं पूरा खो गया, रुक गया; रुपया, घर, शरीर, पुत्रादि में तू रुक गया है। अरे! विचार तो कर कि तू सारे दिन कहाँ रुका रहा! बाहर का बाहर ही रुक गया, तो भाई! वहाँ आत्मप्राप्ति कैसे होगी॥56॥**

56 (वाँ बोल)। अब एक बात करते हैं। **जीव स्वयं पूरा खो गया है वह नहीं देखता,...** एक वस्तु खो गयी हो तो मंथन करता है कि कहाँ गयी? आहा...हा...! एक वस्तु खो गयी हो तो इसे (खोजने की मेहनत) करेगा। अरे...! दो-तीन-चार बेटियाँ हो, तीन-चार लड़के हो और इनकी खाट बिछायी हों, ऐसे में (रात के) नौ-दस बजे एक खाट खाली दिखे (तो पूछे) कि यह लड़की क्यों नहीं आयी? कहाँ है? खाट क्यों खाली पड़ी है? लड़की क्यों नहीं आयी? उसे रात में ढूँढ़ेगा! परन्तु यह आत्मा खो गया है, उसे ढूँढ़ता नहीं!! वस्तु खो गयी, उसे ढूँढ़ने के लिये प्रयत्न करता है, जो परचीज़ है। आहा...हा...!

(वही यहाँ कहते हैं कि) **जीव स्वयं पूरा खो गया है वह नहीं देखता, और एक वस्तु खो गयी तो मानों स्वयं पूरा खो गया,...** उसी उसमें जैसे रुक गया! रुककर वहीं का वहीं रह जाये। आहा...हा...! उसमें **रुक गया;...**

अब रुकने के स्थान बतलाते हैं। **रुपया, घर, शरीर, पुत्रादि में तू रुक गया है।** नाथ! आहा...! लड़कियाँ बड़ी हो गयी हैं, उसको ठिकाने लगाना होगा, बेटे बड़े हो गये हैं, अच्छे घर से रिश्ता करना है, वरना अपनी आबरू नहीं रहेगी। अच्छे घराने की लड़की आवे तो ठीक! कठोर परिश्रम करे!! बेटी को ठिकाने लगाना है परन्तु अच्छे घर विदा करनी है और बेटे की शादी करते (समय) भी पचास-सौ रिश्ते आये हों, (सामने करोड़पति को) बेटा न हो और इकलौती बेटी पाँच-पच्चीस लाख लेकर आती हो तो उसका (रिश्ता) पहले (स्वीकार करेगा)। बड़ों का रिश्ता स्वीकार करेगा! यहाँ कहते हैं तीन लोक के नाथ—बड़े का वचन तो एकबार स्वीकार!! आ...हा...हा...!

**रुपया, घर, शरीर, पुत्रादि में तू रुक गया है। अरे! विचार तो कर कि तू सारे दिन कहाँ रुका रहा!** कहाँ गया तू परन्तु? **बाहर का बाहर ही रुक गया, तो भाई! वहाँ आत्मप्राप्ति कैसे होगी?** बाहर में अटक गया, तो इसमें आत्मा कहाँ से प्राप्त होगा?

विशेष कहेंगे...! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**मरण तो आना ही है जब सबकुछ छूट जायगा। बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दुःख होता है, तो बाहर के समस्त द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव एकसाथ छूटने पर तुझे कितना दुःख होगा? मरण की वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ' ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा। परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा? तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य–डॉक्टर भले सर्व प्रयत्न छूटें, आसपास खड़े हुए अनेक सगे–सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर–टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति–अनुभूति करके आत्म–आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रहा है' ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर भी तू पुरुषार्थ चला कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके। जीवन में एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है॥412॥**

## प्रवचन–8 वचनामृत–412 से 413

(वचनामृत) 412 (बोल)। (इस बोल में) वैराग्य की बात है। **मरण तो आना ही है...** देह का छूटने का समय निश्चित है। इसके समय में परिवर्तन हो, ऐसा नहीं। चाहे कितनी भी दवाई करा ले या डॉक्टर (बुलाये)। मृत्यु का समय क्रमबद्ध में जिस समय,

जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस निमित्त से, जिस संयोग में देह छूटेगी सो छूटेगी, छूटेगी सो छूटेगी ही। उसमें एक समय (मात्र) का भी फेरफार करने में कोई समर्थ (नहीं है)। इन्द्र, जिनेन्द्र (भी) समर्थ नहीं हैं। स्वामी 'कार्तिकेय' में आता है। एक समय (की) द्रव्य की जो पर्याय होती है, उसे फेरफार करने में इन्द्र-जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है। आ...हा...हा...! तो मृत्यु का समय बदलने में तीन काल में किसी की ताकत नहीं है। आहा...!

**बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दुःख होता है,...** कहते हैं—बाहर की एक चीज़ छोड़ने से तुझे दुःख होता है (कि) अरेरे...! स्त्री छोड़ी, यह खाने का छोड़ा, मकान छोडा, घर छोड़ा, परदेश में गये... (वैसे) एक चीज़ छोड़ते समय तुझे दुःख लगता है। **तो बाहर के समस्त द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव एकसाथ छूटने पर...** आहा...हा...! बाहर के संयोग—द्रव्य-काल और भाव, एक समय में सब छूट जायेगा। जिस समय छूटने का (है), उस समय छूट जायेगा। इसमें फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है। आहा...!

**तुझे कितना दुःख होगा?** एक चीज़ छोड़ने में दुःख होता है (परन्तु) सब छूट जायेगा! इस देह का श्वास भी नहीं रहेगा। वह उसके हाथ में नहीं रहेगा। श्वास में भी चैतन्य के प्रदेश हैं। क्या कहा? जो यह श्वास चलती है न? (उसमें) केवल जड़ के परमाणु नहीं हैं, उसमें चैतन्य के प्रदेश हैं। श्वास अपने कारण से चलती है। आहा...हा...! यह श्वास चलती है न श्वास? यह जड़ के परमाणु की पर्याय (है), परन्तु उसमें आत्मा के प्रदेश हैं। परन्तु जब यह श्वास (भी) जब बन्द होगी, तब आत्मा के प्रदेश उसे चलाने का काम नहीं करेंगे। आहा...हा...हा...! जब श्वास चलाने का काम नहीं करेंगे, अमुक वह और क्या करेंगे तब? आहा...!

सारा दिन कर्ता... कर्ता... कर्ता... (होकर फिरता है)। अमुक मैंने किया... अमुक मैंने किया... अमुक मैंने किया... ये पैसे कमाये और ऐसा व्यापार किया और इतने नौकर इकट्ठे किये, नौकर अच्छे मिले! क्या है यह? यह भ्रमणा तुझे हुई है, कहाँ तुझे जाना है? आहा...हा...!

परमात्मा तो ऐसा कहते हैं—जो माँस और दारू आदि का सेवन करे, शराब पीये, वे तो मरकर नरक में जायेंगे। इसमें कोई फेरफार हो, ऐसा नहीं है। परन्तु जिसको वह नहीं

हो, किन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ (आदि) कषाय हैं और धर्म नहीं है, आत्मज्ञान नहीं है और राग की मन्दता भी नहीं है—ऐसे जीव मरकर तिर्यंच अर्थात् पशु होते हैं। आ...हा...हा...! यहाँ बड़ा करोड़पति हो, वह भी मरने के बाद देह छूटकर घोड़े की कोख में या गाय की कोख में जाकर अवतार लेगा! आ...हा...हा...! ऐसे मरण प्रभु! अनन्त बार किये हैं। परन्तु तूने तेरी चिन्ता की नहीं कि मेरा क्या होगा? बाहर की बातों में उलझ गया है। आहा...हा...!

(यहाँ) कहते हैं, **तुझे कितना दुःख होगा? मरण की वेदना भी कितनी होगी?** आ...हा...हा...! श्वास चले नहीं, अन्दर से रोम-रोम चीखता हो, ऐसी तीव्रता—दुःख की वेदना होगी। आहा...हा...! पहले से यदि चेता नहीं... क्रियाकाण्ड नहीं, अपितु आत्मा को राग से भिन्न जानकर सत् चिदानन्द प्रभु मेरा स्वरूप (है, ऐसा जानना पड़ेगा)। अनुभूति (स्वरूप) भगवान आत्मा! सुबह आया था। अनुभूति(स्वरूप) भगवान आत्मा (एक) समय की (ज्ञान की) पर्याय में जानने में आता है, हर एक को जानने में आ रहा है। फिर भी जानने के प्रति उसका लक्ष्य नहीं है। आहा...हा...!

परमात्मा ऐसा कहते हैं कि उस-उस समय में आत्मा (ही जानने में आता है)। उसकी पर्याय का ऐसा धर्म है (कि) उसमें भगवान आत्मा ही जानने में आ रहा है। परन्तु जीव उसकी ओर देखता नहीं है। जानने में आ ही रहा है, उसे देखता नहीं है और नहीं जानने में आता है, उसे देखकर मृत्यु करता है। आहा...! ये सब अनन्त बार तिर्यंच और नरक में अवतार किये और करेगा। वहाँ उसके पैसे, अरब या करोड़ (रुपये) उसे बचा नहीं लेंगे। दान किया होगा, (उसमें भी) राग की मन्दता की होगी तो थोड़ा शुभ(भाव) होगा। परन्तु (वह सब) 'एरन की चोरी और सूई का दान' (जैसा है)। (अर्थात्) सारे दिन के पाप और उसमें एक-दो घड़ी कुछ शुभभाव (किये होंगे तो उसकी) कोई गिनती नहीं है। वे शुभभाव निरर्थक जायेंगे।

प्रभु! देह छूटने के पश्चात् कहाँ जायेगा? (यहाँ) कहते हैं, मरण की वेदना भी अकथ्य (होगी)। **'कोई मुझे बचाओ'** (ऐसा तुझे होता होगा)।

राजकोट में एक बार वहाँ नानालालभाई करोड़पति। उनके काका के पुत्र को एकदम अन्दर में कुछ हो गया। सारा कुटुम्ब इकट्ठा हुआ। सब करोड़पति लोग! और

अन्दर पीड़ा (हो)। छोटी उम्र (थी), नयी-नयी शादी हुई थी... आँख में से आँसुओं की धारा बह रही थी। दूसरों ने कहा, 'बुलाईओ महाराज को!' आहा...हा...! ज़वान आदमी था! (लेकिन) पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... सब करोड़पति कुटुम्बी इकट्ठे हुए। पूरा घर भर गया और आँखों से आँसुओं की धारा चली जाय...! (बोलता था) 'मेरे से सहा नहीं जाता, मुझे अन्दर में इतनी वेदना है, क्या कहूँ?' ऐसा कहते-कहते एकदम असाध्य हो गया। 'बेचरभाई' थे उनके दो-तीन भाई थे। (उनको ऐसा लगा कि इसके हाथ से) महाराज को कुछ दे तो कुछ पुण्य तो बाँधे! (इसलिए) उसके हाथ में मोसंबी या कुछ (ऐसा) दिया। लेकिन हाथ में कँपकपी और अन्दर में मरण की वेदना!! जवान आदमी... यह वेदना बापू! सही न जाये। बाहर से तुझे कोई मदद नहीं कर सकेगा। आहा...हा...!

ऐसे **मरण की वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ'....** आहा...हा...! ऐसे तू चीखता रहेगा। **ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा। परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा?** अरे...! कर्तव्य तो प्रभु...! राग से भिन्न करने का कर्तव्य है, वह यदि नहीं किया आहा...हा...हा...! कहाँ जाना? सारा दिन जलन...! और सारा दिन कर्ताबुद्धि! यह किया और वह किया, यह किया...! बेटे के लिये ऐसा किया और बेटी के लिये ऐसा किया! बापू! मृत्यु के समय दबाव में आ जायेगा!! तुझे दुःख को सहन करते हुए देखनेवाले रोयेंगे! ऐसी पीड़ा जगत में अनन्त बार हुई है। वही यहाँ कहते हैं (कि) तुझे कोई बचा सकेगा नहीं।

(राजकोट में तो) यह नजरों से देखा था। सब बेचारे यूँ देखते थे। कुटुम्बी करोड़पति सब इकट्ठे हुए थे। और इसकी तो मरने की तैयारी...! हाय...हाय...! आँसू की धारा बहे...! कौन बचाये प्रभु? शरीर की स्थिति का जो छूटने का और वेदना का समय (है), उसमें कोई फेरफार कर सकता नहीं। कोई बचा सकता (नहीं)।

**तू भले ही धन के ढेर लगा दे,...** करोड़ों रुपये की लक्ष्मी इसके लिये खर्च कर दें (तो भी) वह कोई दुःख से नहीं छूट सकेगा। आहा...हा...! **वैद्य–डॉक्टर भले सर्व प्रयत्न छूटें,...** यह डॉक्टर लो! चन्दुभाई डॉक्टर है।

**मुमुक्षु :** (डॉक्टर लोग) प्रतिदिन कईयों को बचाते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वही बात करते हैं। किसी को बचा सकते नहीं। आ...हा...हा...!

यह बात अन्दर में प्रवेश होनी चाहिए, हों...! ऊपर-ऊपर से बात करे इसमें कुछ नतीजा नहीं आता! आहा...हा...!

यहाँ तो बहिन ने वैराग्य की बात करते हुए यह बात ली है। अरे...! **तू भले ही धन के ढेर लगा दे,...** ये करोड़ (रुपये) दे दूँ, कोई डॉक्टर बचा ले तो! एक घड़ी का इतना पैसा दे दूँ–पाँच लाख-दस लाख (दे दूँ) (यदि) कोई बचा ले (तो)! उस समय बचाने के लिए कोई समर्थ नहीं है। तेरे अरबों (रुपये) के ढेर पड़े होंगे, (परन्तु तेरी यह) धूल पड़ी रहेगी। मरकर चला जायेगा पशु में!! माँस और दारू का सेवन यदि नहीं किया होगा तो भी मरण करके पशु में जायेगा।

सिद्धान्त में ऐसा लेख है कि बहुत-से जीव तिर्यंच–पशु में अवतार लेंगे! क्योंकि धर्म नहीं है (अर्थात् कि) सम्यग्दर्शन नहीं है, और सारा दिन पाप किये हैं, पुण्य का भी ठिकाना नहीं है, एक-दो घड़ी पुण्य बाँधा हो और 23 घण्टे पाप (किये हो)! आ...हा...हा...! वे (सब) मरकर ढोर में–पशु में–तिर्यंच में अवतार लेंगे! मनुष्य की बड़ी संख्या मरकर तिर्यंच में अवतार लेगी–ऐसा सिद्धान्त में लेख है। आहा...हा...! पशु होगा, फिर मनुष्यपना कब मिलेगा? कब उसे जिनवाणी सुनने मिलेगी? (फिर आत्महित करने का) उसे अवसर नहीं रहेगा। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, **वैद्य–डॉक्टर भले सर्व प्रयत्न छूटें, आसपास खड़े हुए अनेक सगे–सम्बन्धियों...** यह तो सब नजरों से देखा हुआ! आ...हा...हा...! सगे-सम्बन्धियों से पूरा कमरा भरा था। वह तो रो रहा था और मरने की तैयारी! आहा...हा...! नयी–नयी शादी की थी परन्तु दुःख का पार नहीं...! धर्म किया नहीं था, धर्म सुनने के योग में दरकार (की) नहीं। दो घड़ी कदाचित् कहीं गया भी हो तो पीछे 23 घण्टे होली सुलगती हो!! आहा...हा...! उन 23 घण्टे के पाप (के आगे) तेरे दो घड़ी के पुण्य जल जानेवाले हैं। सूक्ष्म बात है, प्रभु!

वही यहाँ कहते हैं, **आसपास खड़े हुए अनेक सगे–सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर–टुकुर देखता रहे,...** आ...हा...हा...! 'एक रे दिवस ऐवो आवशे..' आहा...! 'एक रे दिवस ऐवो आवशे' तब तेरी ओर कोई देखेगा नहीं। आहा...!

स्त्री ऐसे देखेगी... अरेरे...! इस काया में अब कुछ नहीं रहा। ऐसे फूट-फूटकर रोयेगी...! फिर भी एक समय का इसमें फेरफार सम्भव नहीं है। आहा...हा...! 'एक रे दिवस एवो आवशे, जाणे जन्म्या ज नहोता जी, सगी रे नारी रे तारी कामनी, ए उभी टग-टग जोशे जी, आ रे कायामां हवे कांई नथी, एम ध्रुसके-ध्रुसके रोशे जी...' देह से छूटने का (आत्मा का) ज्ञान किया नहीं और देह की, राग की एकताबुद्धि में जिन्दगी गुजारी है! भले ही (शास्त्र की) जानकारी की हो, क्रियाकाण्ड किये हो—वह कुछ वहाँ शरणभूत नहीं है। शुभभाव किये हो तो पुण्य के परमाणु बँधे होंगे। इसे वर्तमान में तो शुभभाव है नहीं। मरते (मृत्यु के समय) पूर्व में पुण्य-पाप किये हों, वे परमाणु पड़े हों, वे परमाणु क्या शरण देंगे? आ...हा...हा...! समझ में आया?

अब तो 'समयसार' पर स्वाध्याय चलेगा। इसलिए यह जरा अन्तिम बात यह बहिन के वचनामृत की ले ली। कल सुबह तो व्याख्यान नहीं है। दोपहर में 'समयसार' चलेगा। आहा...हा...!

**सगे—सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर—टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो, ऐसा है?** आ...हा...हा...! वे (सब) देखेंगे कि यह अब नहीं बचेगा। हो गया...! वे खड़े-खड़े देखेंगे और रोयेंगे। और वह भी यह मरकर कहाँ गया होगा? इसलिए नहीं रोते। वह मरकर किस गति में गया? पशु में या नरक में (गया), इसके लिये नहीं रोते! उसकी अपनी वर्तमान अनुकूलता छूट गयी, उसकी तरफ से जो भी अनुकूलता मिलती थी, इसके लिये वह रोता है! आहा...हा...! किसी ने ऐसा पूछा कभी कि यह मरकर कहाँ गया होगा? ऐसा विचार किया है, मृत्यु पर? यह तिर्यंच में गया या एकेन्द्रिय में गया या वनस्पति में गया? आ...हा...हा...! (वह) मरते हुए इसने कोई विचार किया है? आ...हा...हा...! मात्र बस! दुकान सँभालता था और विषय में अनुकूल था, वह अनुकूलता चली गयी; उसे यह रोता है। वह मरकर नरक में गया हो तो भी मुझे कहाँ (नरक में) जाना है!! आ...हा...हा...! कहो, जेठालालभाई! वह मरकर नरक में गया होगा या तिर्यंच में गया होगा—कभी ऐसा विचार किया है? पत्नी मरी, लड़का मरा, लड़की मरी, बहुएँ मरी... वे मरकर किस ज़गह गयी होगी? इसका विचार किया है? हमारी अनुकूलता गयी,

उसे रोता है!! वह भले ही नरक में गया हो, तिर्यंच में–पशु में गया हो...! आहा...हा...! ऐसी संसार की स्थिति है!!

ऐसे में यदि यह आत्मा की भावना (नहीं की), राग से भिन्नता के संस्कार (ग्रहण) नहीं किये... आहा...हा...! विकार के वेदना से प्रभु के आनन्द का वेदन भिन्न है, ऐसे संस्कार यदि (प्राप्त) नहीं किये (तो) प्रभु! (तेरी) गति बिगड़ जायेगी! वहाँ किसी का सहारा या साथ नहीं है। वहाँ जगत की सिफारिश काम नहीं आयेगी कि भाई ने बहुत ऐसा किया था, हमारा (ऐसा) किया था, हमारा (उतना) किया था, हमारी जाति में अग्रेसर था, हमारा प्रमुख था, हमारा फलाना था–वहाँ ऐसी कोई सिफारिश काम आये, ऐसा नहीं है। आ...हा...हा...! वह मरकर अकेला तड़पता... तड़पता छूटकर चला जायेगा!

देह, राग और आत्मा अत्यन्त भिन्न है–ऐसे संस्कार जिसने डाले नहीं, (आत्मा का) अनुभव तो भले ही न हो, परन्तु संस्कार भी नहीं डाले,... आहा...! बाह्य अनुकूलता की चीज़ में ठीकपना कर-करके भटक मरा है।

वही यहाँ कहते हैं, **टुकुर–टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की...** आ...हा...हा...! करना तो यह है। लाख बात की बात..! छहढाला में आता है। ज्ञानचन्दजी! छहढाला में आता है। 'लाख बात की बात, निश्चय उर आणो, छोड़ी जगत द्वंद्व-फंद निज आत्म उर ध्यावो'–इसके बिना सब थोथा ही थोथा (है)। रो-रोकर–मरकर सब जायेंगे पशु में!! आहा...हा...! आर्य मनुष्य होने से माँस और दारू का सेवन तो नहीं किया हो, इसलिए बीचवाली दशा–पशु-तिर्यंच-ढोर की होगी। अनन्त काल पश्चात् फिर उसमें से मनुष्यत्व कब मिलेगा? आहा...हा...! अरे...! इसने कभी विचार किया नहीं। पर के विचार और पर के ही कार्य में लगे रहकर स्वयं ने अपना अहित किया है। उसे यह भी पता नहीं है कि मैं अपना अहित कर रहा हूँ!! आहा...!

**यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित...** अन्दर में शाश्वत भगवान है, (वह) स्वयंरक्षित है। उसे (रक्षित) रखे तो वह रहे, ऐसा नहीं है। (ऐसा) चैतन्य भगवान स्वयं रक्षित है। स्वयं–अपनेआप से रक्षित है। आहा...हा...! **स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप...** अतीन्द्रिय ज्ञान

और अतीन्द्रिय आनन्द-स्वरूप – ऐसे **आत्मा की प्रतीति–अनुभूति करके आत्म–आराधना की होगी,...** आहा...हा...! करना तो यह है! दूसरी सब धमाल बाहर में चाहे कितनी भी हो! आहा...हा...! क्या कहा?

**शाश्वत स्वयंरक्षित...** भगवान (आत्मा) तो अन्दर स्वयंरक्षित है। कोई रखे तो रहे, नहीं रखे तो न रहे (ऐसा नहीं है)। वह तो नित्यानन्द प्रभु है! सत् चिदानन्द प्रभु! देह देवल में विराजमान स्वयंरक्षित है। आहा...हा...! इसकी ओर देख! उसे देख! कुछ है अन्दर!! अन्दर में निधान भरा है!! आहा...हा...! उस निधान को देखने के लिये अवकाश नहीं लेता। आहा...! बाहर की हौस और हर्ष की (आड़ में निधान देखने का अवकाश नहीं लेता)!

स्तवन है... एक स्तवन! चार सज्झायमाला हैं। चार स्वाध्याय हैं। एक-एक में 200-300 स्वाध्याय हैं। एक-एक स्वाध्याय में दस-दस, पन्द्रह-बीस श्लोक हैं। ऐसे चार (स्वाध्याय हैं)। मैं तो दुकान पर था (तब) मैंने मँगवाये थे। बीस साल की उम्र में...! सब पढ़े हैं। उसमें एक ऐसा आया था। 'होंशिडा होंश न कीजिये'–हे जीव! तेरी चैतन्य की सत्ता को छोड़कर पर की हौस में हौस मत करना प्रभु! आहा...हा...! सज्झाय है। चार सज्झाय हैं, श्वेताम्बर में है। उस समय दुकान पर सब पुस्तकें मँगवायी थी। एक-एक में 250-300 सज्झाय (हैं), ऐसी चार सज्झायमाला हैं। इसमें एक यह था। आहा...हा...! प्रभु...! तू कहाँ हौस करता है? तेरा स्वरूप अन्दर में ज्ञानानन्द भरा है, इसके प्रति तुझे हौस आती नहीं, उसके प्रति तेरा प्रयत्न आता नहीं, उसके प्रति तुझे हर्ष आता नहीं और इसके बजाय पुण्य और पाप और इसके फल में तुझे हर्ष व हौस (आती है)! प्रभु! मर गया तू! आ...हा...हा...हा...! है?

**स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति...** ऐसी प्रतीति कैसे होवे? यह बात तो अपनी चलती है सारे दिन। देह भी मैं नहीं, वाणी मैं नहीं, मन मैं नहीं, पाप के परिणाम मैं नहीं, पुण्य के परिणाम मैं नहीं, एक समय की पर्याय पर दृष्टि नहीं, आहा...हा...! मैं (तो) त्रिकाली स्वसंवेदन स्वयंरक्षित आत्मा (हूँ)! 'इसकी प्रतीति की हो...' ऐसे स्वरूप की प्रतीति (स्वयं) पर्याय है, परन्तु प्रतीति करना किसकी? त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप की! आहा...हा...!

अब, एक तरफ बाहर में (आकुलता की) होली सुलगती हो, पच्चीस-पचास लाख पैदा होते हो, (एक) दिन की लाखों की पैदाइश हो (उसमें) खुद उलझ गया। लड़के अच्छे निकले हो... बस! हो गया! जैसे हम तो कहाँ से कहाँ पहुँच गये! बापू! वह सब नाशवान है, भाई!

यह स्वयंरक्षित प्रभु, ज्ञानानन्दस्वभाव की प्रतीति, इसकी अनुभूति – दो (शब्द) हैं न? इसकी प्रतीति और अनुभूति **करके आत्म–आराधना की होगी,...** आहा...हा...! 'आत्म–आराधना'! पुण्य की आराधना और राग की आराधना, व्यवहार की आराधना– वह नहीं। आता है, व्यवहार बीच में आता है परन्तु वह सब हेय (हैं)–छोड़नेयोग्य हैं।

आहा...हा...! अन्तर में स्वयं आनन्द स्वभाव (है, इसकी) **अनुभूति करके आत्म–आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी,...** यह कर्तव्य है। लाख बात की बात – निज आतम उर ध्याओ। आहा...हा...! छहढाला में आता है न? लाख बात की बात नहीं... अनन्त बात की बात! करोड़ बात की बात नहीं... अनन्त बात की बात! अनन्त बात की बात! अनन्त बात की (बात) 'निज आतम उर ध्याओ।' अन्दर मेरा आत्मा प्रभु ज्ञानानन्दस्वभाव है, उस पर दृष्टि करके उसका सेवन कर, तो तेरे जन्म-मरण के फेरे मिटेंगे। वरना जन्म-मरण के फेरे, चौरासी के अवतार ऐसे के ऐसे खड़े हैं, और ऐसे के ऐसे ही खड़े रहेंगे। आहा...हा...! अवकाश कहाँ है परन्तु? सुनने मिले (तो) भी वहीं का वहीं पड़ा रहे। आहा...हा...!

(यहाँ) कहते हैं कि, **आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी,...** आत्मा में शान्तरस पड़ा है, आत्मा में अकषायरस पड़ा है। अकषायरस कहो, शान्तरस कहो, चारित्रगुण कहो, अन्दर रमणता नाम का गुण कहो–ऐसा गुण (पड़ा है)। ऐसा शान्तरस अनादि-अनन्त पड़ा है। आहा...हा...! ऐसे आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी... परन्तु यह शक्तिरूप शान्ति है। आहा...! स्वभाव में शान्ति पड़ी है, उसे पर्याय में व्यक्त–प्रगट करके... आहा...!

('समयसार') 49 गाथा में तो यहाँ तक कहा है–आत्मा, पर्याय को स्पर्शता नहीं! आ...हा...हा...! क्या कहा? द्रव्यस्वभाव राग को तो स्पर्श नहीं करता, परन्तु वह पर्याय को भी स्पर्शता नहीं!! और उसकी वह पर्याय, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। 49 गाथा...

'अव्यक्त...!' अव्यक्त के छह बोल हैं। (उसमें आता है।) व्यक्त और अव्यक्त का ज्ञान होने पर भी, व्यक्त अर्थात् पर्याय और अव्यक्त अर्थात् द्रव्य, दो का ज्ञान होने के बावजूद भी यह आत्मा व्यक्त अर्थात् पर्याय को स्पर्श नहीं करता। अरर्र...! यह बात सुननी कठिन लगे! क्या कहा?

आत्मा त्रिकाली स्वरूप है, उसे वहाँ 'अव्यक्त' कहा है और प्रगट पर्याय को 'व्यक्त' कहा है। यह प्रगट पर्याय जो है, उसका और अव्यक्त का ज्ञान होने पर भी, व्यक्त अर्थात् पर्याय को द्रव्य स्पर्श तक नहीं करता। आहा...हा...! गज़ब बात है। (ऐसा मानने के) बज़ाय, उसे यूँ छूता हूँ और शरीर को ऐसे करता हूँ, शरीर से भोग लेता हूँ... (ऐसा मानता है)। आहा...हा...! प्रभु... प्रभु... प्रभु...! गज़ब बातें हैं, बापू!

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा का सत्य (यह है कि) व्यक्त पर्याय को भी अव्यक्त– त्रिकाली द्रव्य, शुद्ध सत् चिदानन्द, शान्ति का सागर स्पर्शता नहीं है! आहा...हा...! वह पर्याय को नहीं छूता। यह क्या बात है!! झवेरचन्दभाई! 'समयसार' 49 गाथा में है। 'अव्यक्त' के छह बोल हैं। आहा...! आत्मा त्रिकाल है–वह व्यक्त नहीं। परन्तु वर्तमान पर्याय प्रगट है, उसे व्यक्त कहते हैं और त्रिकाल जो प्रगट नहीं है, उसे अव्यक्त कहते हैं। उसे पर्याय की अपेक्षा से अव्यक्त कहते हैं, अप्रगट कहते हैं। वस्तु की अपेक्षा उसे प्रगट कहते हैं। अरे...! अरे...! यह कैसे सुना जाये!

यह अन्तर (में) पकड़े बिना इसके जन्म-मरण का अन्त, चौरासी के फेरे फिरना नहीं मिटते, बापू! वह बाहर में चाहे कुछ भी मनवाये और माने कि मैंने ऐसा किया और ऐसा किया, हमने वैसा किया, दान में करोड़ों रुपये खर्च किये; इसलिए मेरे जन्म-मरण कुछ कम होंगे! (ऐसा मानना) हराम है, (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि शान्ति का सागर प्रभु है। कैसे बैठे...? क्योंकि इसमें ऐसा चारित्र नाम का गुण अनादि (से) है। इस चारित्रगुण का स्वरूप शान्त है। चारित्रगुण का स्वरूप अकषाय है। यह अकषाय शान्तभाव त्रिकाल है। इस शान्तभाव को स्पर्श किये बिना अर्थात् प्रगट किये बिना (जन्म-मरण नहीं मिटेंगे)। (प्रगट हुआ शान्त भाव) त्रिकाली को स्पर्श नहीं करता। थोड़ा सूक्ष्म लगेगा। परमार्थ धर्म की शान्ति की जो पर्याय है, वह त्रिकाल

शान्तस्वरूप प्रभु है, उसे वह छूती नहीं। आहा...हा...! क्योंकि द्रव्य का वेदन नहीं होता। वेदन पर्याय का होता है और इसीलिए तो ऐसा कहा कि आनन्द और शान्ति का जो वेदन है, वह आत्मा (है)! हमारे लिये तो वह आत्मा (है)। रागादि तो आत्मा नहीं परन्तु द्रव्य भी आत्मा हमारे लिये नहीं!! हमारे लिये तो द्रव्य आत्मा नहीं! पण्डितजी! (ऐसा कहा) आहा...हा...! 'प्रवचनसार-172' गाथा (में) बीस वें बोल में कहा है।

राग-दया-दान, व्रत, भक्ति, पूजा ये तो आत्मा नहीं, वे तो अनात्मा हैं। आहा...हा...! परन्तु एक समय की पर्याय भी द्रव्य नहीं–वस्तु नहीं। निर्मल पर्याय–सम्यग्दर्शन (की), ज्ञान की, शान्ति की निर्मल पर्याय–उस पर्याय को द्रव्य स्पर्श नहीं करता। धर्मी को पर्याय वेदन में आती है। शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... दूसरे प्रकार से कहे तो (वह) अकषाय भाव (है)। आहा...हा...!

एक बार यह कहा था–'ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे... श्री जिनवीरे धर्म प्रकाशियो, श्री जिनवीरे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे...' ये पुण्य-पाप के भाव कषाय हैं। उनका अभाव (होना), उसे भगवान ने धर्म कहा है। समझ में आया? यह मन्दिर बनायें, लाखों रुपया खर्च करे, करोड़ों खर्च करें, इससे उसे धर्म हो जायेगा, उसके जन्म-मरण मिट जायेंगे (–ऐसा नहीं है)। भभूतमलजी!

आहा...हा...! यहाँ अन्दर शान्तरस से (भरा) प्रभु पड़ा है न! अकषायस्वरूप कहो या शान्त कहो या चारित्र कहो–ऐसा अनादि–अनन्त चारित्र का स्वभाव अन्दर पड़ा है। उस पर नज़र करने पर, पर्याय में जो शान्ति प्रगट होती है, उस शान्ति को–मुक्ति के मार्ग को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के बिना जो कुछ भी करने में आता है, वह सब 'बिना एक के शून्य हैं।' कोरे कागज़ पर एक अंक लिखे बिना करोड़ शून्य (करे तो) भी इससे कोई संख्या नहीं हो जाती। आहा...हा...! कठिन बात है, प्रभु!

अन्दर शान्त... शान्त... शान्त... स्वरक्षित भगवान (विराजमान है)। उसे रखे तो रहे, ऐसा नहीं है। वह तो स्वरक्षित ही है और ज्ञानानन्दस्वरूप है। मृत्यु के समय प्रभु! यदि तुझे यह याद न आवे... आहा...हा...! मृत्यु के समय ऐसा साधकपना प्रगट नहीं किया होगा तो प्रभु (तू) मृत्यु के समय दबाव में आ जायेगा, दुःख में दब जायेगा, पीड़ित होता हुआ मरकर तिर्यंच या नरक में जाना पड़ेगा। आहा...हा...!

अरे...! इसका विचार भी कब किया है? कि, मेरा क्या होगा? मैं यहाँ से (कहाँ जाऊँगा)? देह तो छूट जायेगी परन्तु मैं कोई छूटनेवाला हूँ? छूटूँगा (लेकिन) देह से। देह छूटती है, तब लोग ऐसा कहते हैं न कि, यह जीव गया! ऐसा कहते हैं क्या कि जीव मर गया? देह छूटे तब ऐसा कहते हैं न कि, Pulse हाथ नहीं आती है, बापू! लगता है जीव गया! अब इसमें जीव नहीं लगता है। (यहाँ) से गया तो कहीं रहा है कि या नहीं? यहाँ से गया तो कहीं और रहा तो है या नहीं? कहाँ रहा है? आत्मा के भान बिना कषाय किये होंगे तो मरकर तिर्यंच में रहा होगा! आहा...हा...! जिसने आत्मा का सम्यग्दर्शन या सम्यग्दर्शन के संस्कार अन्तर में नहीं डाले होंगे और लौकिक संस्कार के घेरे में घिरा हुआ रहेगा... आहा...हा...! मृत्यु पश्चात् कहाँ से कहाँ (चला) जायेगा। आहा...हा...!

(इसीलिए यहाँ कहते हैं) **आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी।** सिद्धान्त में तो ऐसा लेख है–चत्तारि अरिहंता शरणं। मांगलिक में आता है न? 'अरिहंता शरणं, सिद्धा शरणं, साहु शरणं, केवलीपण्णत्तो धम्मो शरणं'–ऐसे चार बोल विकल्प हैं। निश्चय से वे शरण नहीं। अरिहन्त शरण नहीं, सिद्ध शरण नहीं, साधु शरण नहीं, अरे...! केवली द्वारा प्ररूपित धर्म तो पर्याय है, वह भी शरण नहीं! अन्दर चिदानन्द भगवान (आत्मा) शरण है!! आहा...हा...! उत्तम मांगलिक, उत्तम शरण और उत्तम दाता...! आहा...हा...! वह तो प्रभु अन्दर भरा है भाई! परन्तु तुझे खबर नहीं। आहा...हा..! ऐसा तू भगवान है! तू पामर होकर फिरता है...! आहा...! वही कहते हैं (आत्मा में से) शान्ति प्रगट की होगी (तो) वह एक ही तुझे शरण देगी। **एक ही...** (शरण देगी)! 'णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं...' करेगा तो वह भी शरण नहीं देगा, (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! भगवान का नाम लो, भगवान का नाम लो भाई! (ऐसा लोग कहते हैं न?) आहा...हा...! भगवान का नाम लेने का विकल्प भी राग है। आहा...हा...!

अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान है, उसका ज्ञान करके लक्ष्य तो कर! दूसरे का लक्ष्य छोड़ दे। दूसरे से कुछ कल्याण और श्रेय नहीं है। आत्मा में ऐसे संस्कार डाले बिना वह आगे जाकर समकित पायेगा नहीं। भविष्य में मिथ्यात्वसहित चारगति में फिर से भटकने चला जायेगा। मनुष्यपना हार जायेगा।

वही (यहाँ) कहते हैं, **वह एक ही तुझे शरण देगी।** उन चार मांगलिक को भी

'अमांगलिक' कहा है! आ...हा...हा...! 'पद्मनंदी पंचविंशती' में 'एकत्व सप्तति' नाम का अधिकार है। उसमें ऐसा लिया है कि वे चारों शरण नहीं हैं। शरण अन्दर में भगवान आत्मा है। आहा...हा...! अन्दर अखण्डानन्द प्रभु शान्ति का सागर, अतीन्द्रिय तेज के प्रकाशवाला– चेतन के प्रकाश का पुँज प्रभु अन्दर है परन्तु तेरी नज़र गये बिना तुझे निधान दिखेगा नहीं। आहा...! राग और पर्याय के प्रेम में अटककर और स्व को भूलकर यह भटकता है। साधु हुआ! दिगम्बर साधु...! नग्न मुनि (हुआ)! आहा...हा...! अट्ठाईस मूलगुणों का पालन किया, पंच महाव्रत धारण किये परन्तु आत्मज्ञान बिना शून्य हुआ। आहा...हा...! इसके बिना एक समय (भी) शान्ति न मिली!

वही यहाँ कहते हैं कि यदि (आत्मा में से) शान्ति प्रगट की होगी, **तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर।** बाद में करूँगा... बाद में करूँगा... ऐसा वायदा रहने दे! 'जिसकी जिसको रुचि हो उसके वह वायदे नहीं होते।' जिसको जिसमें रुचि हो उसमें उसका वायदा नहीं होता। आहा...हा...! वैसे यदि आत्मा की रुचि होगी तो इसके लिये वायदा नहीं होता कि अभी नहीं, बाद में करूँगा। बाद में करूँगा... बाद में करूँगा... उसका बाद में ही रह जायेगा! समझ में आया? आहा...हा...!

एक दृष्टान्त आता है। बनियों का जीमन था। उसमें बारोट आये, बारोट ने कहा, 'हमें भी जिमाईये, आपके पाँच-पाँच हज़ार आदमी खाना खायेंगे, उसमें साथ-साथ हम पाँच सौ बारोट हैं, (हमें भी) खिलाईये!' बनिये ने कहा, 'आज नहीं कल! कल जरूर आज नहीं' (बारोट) दूसरे दिन (फिर से) आयें। (तब बनिये ने कहा) 'क्या लिखा है यह?' 'आज नहीं कल!' वह कल कभी होती नहीं, और बारोट कभी खाये नहीं। आहा...हा...! वैसे अभी नहीं... अभी नहीं... अभी नहीं...! (जो करता है उसकी) कल कभी आज होती नहीं और अभी नहीं... अभी नहीं... (करते-करते) यूँ ही मरकर चला जायेगा चौरासी के अवतार में!! आहा...! (जैसे) बारोट को खाने मिले नहीं, वैसे इसे सत्य कभी हो नहीं। आहा...हा...! अभी नहीं बाद में करेंगे! थोड़ा बेटे-बेटियों का पहले कर लें (बाद में करेंगे)। स्वयं को लड़का न हो तो दूसरे का ले! क्या कहते हैं उसको? गोद लेना... गोद लेना...! आहा...हा...! अरे...! बेटी न हो तो, बेटी का बेटा होवे उसे सँभाले!

आहा...हा...! परन्तु उसकी सँभाल लेने में वहीं रुका रहेगा। भगवान आत्मा अन्दर क्या चीज़ है? (यह नहीं खोजता)। आहा...हा...! अरेरे...! अनन्त बार तूने (ये सब) किया, प्रभु!

यहाँ कहते हैं **वह प्रयत्न कर।** एक ही प्रयत्न कर—आत्मस्वभाव शुद्ध चैतन्य है, उसकी ओर का पुरुषार्थ कर! वह पुरुषार्थ से प्राप्त हो ऐसा है। 'क्रमबद्ध' भले ही हो, परन्तु क्रमबद्ध में पुरुषार्थ है। क्रमबद्ध में अकर्तापने का पुरुषार्थ है। अकर्तापना होगा तो ज्ञातापना होगा। अकर्ता निषेध से (नास्ति से) है, ज्ञातापना अस्ति से है। जिस समय जो होनेवाला है (ऐसे क्रमबद्ध का) जहाँ निर्णय करे, तब आत्मा राग का और वर्तमान पर्याय का भी कर्ता नहीं। आहा...हा...! तब वह पर्याय का भी ज्ञाता-दृष्टा हो जायेगा। गज़ब बात है, भाई!

वही यहाँ कहते हैं—अन्दर में वह प्रयत्न कर, बापू! आहा...हा...! **'सिर पर मौत मंडरा रही है'...** आहा...हा...! प्रतिक्षण मौत तो मँडराती है। कब देह छूट जायेगी? इसका पता नहीं।

एक मुमुक्षु बात करता था, 'मलूकचन्द'। वह कैसा? कौन सा गाँव कहा? 'मलकापुर।' 'मलकापुर' में एक 'स्वरूपचन्द' है। लड़का बहुत होशियार है। जिसे यह... मोक्षमार्ग कण्ठस्थ है। वह अविवाहित था तो यह मोक्षमार्ग कण्ठस्थ किया। फिर तो व्यापार दस-दस हजार का कपड़े का बड़ा सब व्यापारी हो गया। वह कहता है मेरी उम्र का अट्ठाईस वर्ष का मेरा मित्र मेरे समीप बैठा था, हम दोनों बातें करते थे, उसे कोई रोग नहीं, कुछ नहीं, बातें करते थे साथ में वह वहाँ फू.... ऐसा हुआ! मैंने वहाँ ऐसा देखा तो—मर गया!! कुछ करते हुए कुछ नहीं। ऐसे फू.... (हुआ), स्थिति पूरी हो गयी! फू.... इतना हुआ वहाँ देह छूट गयी। अभी तो बातचीत करते थे। यह 'स्वरूपचन्द' कहता था 'मलकापुर' का है। 'स्वरूपचन्द' लड़का होशियार है। मोक्षमार्गप्रकाशक बहुत जानता है। कण्ठस्थ जैसा हो गया है उसे। एक-एक लाईन उसकी। वह प्रसंग करे—मोक्षमार्गप्रकाशक में से तब ज्ञात हो जाता है कि इसे मोक्षमार्ग (प्रकाशक) बहुत ही याद है। वह कहता था कि मित्र के साथ ऐसे बैठे थे बात करते हुए ऐसे जहाँ ऐसा जरा फू... हुआ देखा, वहाँ देह छूट गयी। देह छूटने के काल से पहले कोई प्रसंग आयेगा कि अब मैं – मरण आता हूँ, हों...! ऐसा (कहकर) मरण नहीं आयेगा। मरण वहाँ पूछने नहीं आयेगा। आहा...हा...! अकाल में ही ऐसे मृत्यु हो जायेगी। 'अकाल में' शब्द से – तुझे ख्याल में नहीं इस अपेक्षा

से (अकाल है) बाकी तो काल में तो वही काल है। आहा...हा...! उस काल में तू यत्न यदि करेगा... आहा...हा...!

**'सिर पर मौत मंडरा रहा है' ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर...** है? **ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर...** आहा...हा...! **भी तू पुरुषार्थ चला...** इस मौत को बारम्बार याद करके भी पुरुषार्थ जागृत कर (ऐसा कहते हैं)। **कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे'...** आहा...हा...! जिसको ऐसे आत्मा का ज्ञान हो... 'अब हम अमर भये, न मरेंगे'–हम मरते नहीं। हम तो अमर हो गये। हमारा आत्मा अमर (है)। हमने अमर को जाना, अमर का अनुभव किया, अमर की प्रतीति की–'अब हम न मरेंगे' यह 'आनन्दघनजी' का वचन है। श्वेताम्बर में एक 'आनन्दघनजी' हो गये हैं। 'अब हम कबहू न मरेंगे!' आहा...हा...!

वही कहते हैं, देखो! **'अब हम अमर भये, न मरेंगे'...** शान्ति के नाथ की यदि अन्दर में रट लगी होगी, अन्तर ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द की रट यदि लगी होगी तो 'अब हम अमर भये'–आत्मा अमर है। आत्मा कभी मरता नहीं। आहा...हा...! आत्मा तो अमृत का सागर है। अर्थात्? अमृत अर्थात्? जो किसी से मरता नहीं। अ+मृत– वह किसी को मारता नहीं। किसी के द्वारा वह मारा जाता नहीं, ऐसा वह अमृतसागर है। आहा...हा...! ऐसे आत्मा की जिसे भीतर में रट लगी, लगन लगी, जिसने संस्कार ग्रहण किये, जिसके स्मरण में बारम्बार ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ...–ऐसे संस्कार डाले हो, उसे ज्ञायक का भान होने पर... ऐसा कहते हैं, देखो! है? आहा...हा...! **ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके।** 'अब हम अमर भये, न मरेंगे'–आत्मा अमर–नित्य है, इस नित्य का जहाँ अन्तर (में) ज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ (यह कहते हैं) 'अब हम न मरेंगे।' है? **ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक...** (अर्थात्) शान्ति... शान्ति... शान्ति... (पूर्वक देह त्याग करेगा)।

एक आदमी मर रहा था, देह छूटनेवाली थी, (वह) क्षयोपशमवाला था। (तब) उसे दूसरे सुना रहे थे। (तब उसने कहा) 'भाई! सुनाना छोड़ दे! अब मुझे सुनाना छोड़ दे। मैं तो अपने ध्यान में हूँ!' सुनते समय भी सामने लक्ष जाता (है), (वह) राग है। सुनने भी राग है। इस राग में रहेगा तो भी उसकी मृत्यु सत्य (सम्यक्प्रकार से) नहीं होगी। 'राग से रहित मैं अपने ध्यान में हूँ। मुझे अब कोई सुनाईये मत। मुझे कुछ सुनना नहीं है। (मेरा) यह प्रभु अन्दर है। आहा...! समझ में आया? ऐसे एक आदमी की मृत्यु हुई थी।

यहाँ कहते हैं **(ऐसे भाव में तू) समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके। जीवन में एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है।** जीवन में एक शुद्धात्मा की उपादेय है। देखो! यह सारांश! निमित्त है, वह उपादेय–आदरणीय नहीं है। शुभराग भी आदरणीय नहीं, एक समय की पर्याय भी आदरणीय नहीं है, आहा...हा...! एक त्रिकाली शुद्धात्मा ही अंगीकार करनेयोग्य है। कब बैठे...! है अन्तिम शब्द? **एक शुद्ध आत्मा ही...**

कौन आत्मा? जीवन में एक शुद्ध आत्मा (ही उपादेय है)। अन्दर शुद्धस्वरूप प्रभु (आत्मा विराजमान है)। जैसे डिब्बी में हीरा अलग से पड़ा हो; वैसे राग और शरीर से भिन्न अन्दर भगवान हीरा–चैतन्य हीरा पड़ा है। इसकी दृष्टि और संस्कार जिसने ग्रहण किये, उसे अब मृत्यु का डर नहीं रहा। उसे अब भव करने नहीं रहे। वह आत्मा का शरण करेगा तो; इसके बिना अभी अरिहन्त और सिद्ध का शरण लेने जायेगा तो (वह भी) राग है। आहा...हा...! यह 412 हुआ।

**सर्वज्ञभगवान परिपूर्णज्ञानरूप से परिणमित हो गये हैं। वे अपने को पूर्णरूप से–अपने सर्व गुणों के भूत-वर्तमान-भावी पर्यायों के अविभाग प्रतिच्छेदों सहित-प्रत्यक्ष जानते हैं। साथ ही साथ वे स्वक्षेत्र में रहकर, पर के समीप गये बिना, परसन्मुख हुए बिना, निराले रहकर लोकालोक के सर्व पदार्थों को अतीन्द्रियरूप से प्रत्यक्ष जानते हैं। पर को जानने के लिये वे परसन्मुख नहीं होते। परसन्मुख होने से तो ज्ञान दब जाता है–रुक जाता है, विकसित नहीं होता। जो ज्ञान पूर्णरूप से परिणमित हो गया है वह किसी को जाने बिना नहीं रहता। वह ज्ञान स्वचैतन्यक्षेत्र में रहते हुए, तीनों काल के तथा लोकालोक के सर्व स्व–पर ज्ञेय मानों वे ज्ञान में उत्कीर्ण हो गये हों उस प्रकार समस्त स्व–पर को एक समय में सहजरूप से प्रत्यक्ष जानता है; जो बीत गया है उस सबको भी पूरा जानता है, जो आगे होना है उस सबको भी पूरा जानता है। ज्ञानशक्ति अद्भुत है॥413॥**

413। **सर्वज्ञभगवान परिपूर्णज्ञानरूप से परिणमित हो गये हैं।** तीन लोक के नाथ, यही आत्मा सर्वज्ञरूप हुए (हैं)। आ...हा...हा...! हो चुके, उनकी यह बात है। **वे अपने को पूर्णरूप से–अपने सर्व गुणों के...** अपने सर्व गुणों के! **भूत-वर्तमान-भावी पर्यायों के अविभागप्रतिच्छेदोंसहित...** यह क्या कहा? प्रभु का स्वभाव तो सर्वज्ञ है। सैंतालीस शक्ति में लिया है। 47 शक्ति हैं न? इस (आत्मा में) सर्वज्ञ शक्ति है। आत्मा सर्वज्ञस्वभावी ही है–ऐसा जिसको भान हुआ और उसी में जिसकी रट लगी, वे सर्वज्ञ हुए। ऐसे अनन्त सर्वज्ञ हो गये।

यह सर्वज्ञ अपने अनन्त गुणों को, अनन्त पर्यायों को और एक–एक पर्याय के अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों को (जानते हैं)। (अविभाग प्रतिच्छेद कहा) यह क्या? एक समय के ज्ञान में तीन काल, तीन लोक जानने में आयें, तो एक पर्याय के कितने भाग हुए?! एक केवलज्ञान की पर्याय में तीन काल, तीन लोक जानने में आते हैं। एक पर्याय में इतनी ताकत (है)!! इसके इतने भाग करो तो अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद (होते हैं)।

अ–विभाग अर्थात् भाग न कर सके–ऐसे प्रतिच्छेद अर्थात् अंश। केवलज्ञान की एक समय की एक पर्याय में अनन्त प्रतिच्छेद हैं। ऐसे–ऐसे अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायों में, एक–एक पर्याय में अनन्त प्रतिच्छेद हैं। उसे भी भगवान एक समय में जानते हैं। आहा...हा...! ऐसा ताकतवाला तू है, ऐसा बताते हैं! अरे...! परन्तु कैसे बैठे कैसे? आहा...!

यह जगत की जाल... सारा दिन जाल में–पाप (में) अटका। धर्म तो नहीं है परन्तु पुण्य का भी ठिकाना नहीं है! (एकाध) घण्टा पूजा-भक्ति आदि शुभभाव कर ले (फिर) सारा दिन पाप में...! हो गया...! वह पुण्य (भी) धुल जाता है, (वह) पुण्य जल जाता है! आ...हा...हा...! और उस पाप की अधिकता हो जाती है। उस पाप की अधिकता में मरकर फिर जाये हलकी गति में!

यहाँ कहते हैं (जो) सर्वज्ञ हुए (वे) **अपने सर्व गुणों के भूत-वर्तमान-भावी पर्यायों के अविभागप्रतिच्छेदोंसहित-प्रत्यक्ष जानते हैं।** केवलज्ञानी तीन काल, तीन लोक को जानते हैं। 'जो-जो देखी वीतरागने, सो-सो होसी वीरा' आहा...हा...! भगवान के ज्ञान में जो आया है, उस समय वह पर्याय अवश्य होगी ही। ऐसी पर्यायों का ज्ञान सर्वज्ञ को

एक समय में आ गया है। ऐसे सर्वज्ञ दूसरों की पर्याय के कर्ता नहीं हैं; ज्ञायक हैं–कर्ता नहीं। भगवान ने जाना; इसलिए पर में पर्याय हुई–ऐसा नहीं है और पर में पर्याय हुई, इसलिए (सर्वज्ञ को) जानने का–ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...हा...!

स्व की जानने की पर्याय में इतनी ताकत है कि स्व के अनन्त (अविभाग) प्रतिच्छेद, अनन्त गुण और द्रव्य–(सबको) एक ही समय में अपने ज्ञानसामर्थ्य द्वारा जानते हैं, उन्हें सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं। आहा...! ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा की जिसको प्रतीति हो, उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना रहता नहीं। क्योंकि सर्वज्ञस्वभाव आत्मा का ही है! आहा...हा...! ऐसा कठिन है। यह स्वयं ही सर्वज्ञस्वरूपी है।

('समयसार'–47 शक्ति में) सर्वज्ञस्वभाव में ऐसा कहा है कि 'सर्व' शब्द भले ही हमने लगाया, परन्तु है 'आत्मज्ञ'। केवली तीन काल, तीन लोक को जानते (हैं) ऐसा हमने कहा, सो तो एक उपचार से कहा है। वरना वे हैं–'आत्मज्ञ'! आत्मा की पर्याय को जाननेवाले, उसमें लोकालोक तो सहज ज्ञात हो गया है। उनकी नज़र लोक पर नहीं है। ऐसी सर्वज्ञ शक्ति प्रत्येक आत्मा में बिराजमान है। इस शक्ति की सँभाल करे तो सम्यग्दर्शन और सर्वज्ञ हुए बिना रहे नहीं।

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

# मंगल-वाणी

परमपूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के वीडियो प्रवचन पर अक्षरश शास्त्र

श्री महावीर कुंदकुंद जैन
परमागममंदिर, सोनगढ़

श्री महावीर भगवान
दिगंबर जिनमंदिर, नाइरोबी

श्री महावीर भगवान
दिगंबर जिनमंदिर, दादर

: प्रस्तुतकर्ता :

**श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुंबई**
**(श्री शांतिलाल रतिलाल शाह परिवार)**

: सहप्रस्तुतकर्ता :

**श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़**

: प्राप्ति स्थान :

**श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़**

फोन : ०२८४६-२४४३३४ / २४४३५८

**श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**

३०२, कृष्ण कुंज, वी॰ एल॰ महेता मार्ग, विलेपार्ले [ वेस्ट ], मुंबई-४०००५६

फोन : ०२२-२६१०४९१२ / २६१३०८२०

E-mail : info@vitragvani.com Web : www.vitragvani.com

www.facebook.com/vitragvanee